-पत्रिका

प्रधान सम्पादक
बालकृष्ण राव

। २६
१-४

जनवरी-दिस
सन् १९६८

सहायक सम्पादक
डॉ० सत्यव्रत सिन्हा

हिंन्दुस्तानी

त्रैमासिक

[संयुक्ताङ्क]

भाग २६	जनवरी-दिसम्बर
अंक १-४	सन् १९६८ ई०

प्रधान सम्पादक
बालकृष्ण राव

सहायक सम्पादक
डॉ० सत्यव्रत सिन्हा



मूल्य संयुक्तांक : १५ रुपया

वार्षिक : १५ रुपया

हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद

अनुक्रम

इतिहास को उपन्यस्त करने की समस्याएँ

• गोविन्दजी

ऐतिहासिक उन्यासकार, इतिहास को उपन्यस्त करने के लिए दो प्रकार की पद्धतियो का आश्रय ग्रहण करता है। पहली पद्धति में इतिहास केवल सामग्री प्रस्तुत करता है जिनका कथा में वैसे ही संग्रथन होता है जैसे अवयवों का शरीर में। यह पद्धति एक प्रकार से आवयविक होती है और केवल इसी अर्थ में उपन्यासकार की सीमा निर्धारित करती है कि उसे अपने निर्माण में अतीत के जीवन के प्रति निष्ठावान रहना होगा। अर्थात् अतीत के जिस काल-खण्ड में उसकी कथा प्रवाहित होती है, उस काल-खण्ड के सुनिश्चित घटनाक्रम के प्रति नही, वरन् रहन-सहन की पद्धतियों, आचार-विचारों, सामाजिक एवं धार्मिक स्थितियो, घटनाओं के आन्तरिक और बाह्य कारणों तथा उनको नियंत्रित करनेवाली शक्तियों आदि के प्रति निष्ठावान रहना आवश्यक है। अत: इस पद्धति में उपन्यासकार उन सभी बातों को छोड देने के लिए स्वतंत्र है जो नाटकीय प्रभावों अथवा कला-सृष्टि में किसी प्रकार का योग नही देते। इस पद्धति में इतिहास, धातु प्रदान करता है और उपन्यासकार उससे अपने मनोनुकूल मूर्ति गढ़ता है, बशर्ते कि उसकी कल्पनाग्नि में इतना ताप हो कि वह कठोर तथ्यों को सार्थक सम्भावनाओं के तरल द्रव में परिवर्तित कर दे। निस्सन्देह यह कार्य कठिन है। अपने इस प्रयत्न में वह चरित्रों की कल्पना कर सकता है, संवादों की कल्पना कर सकता है, घटनाओ की उस सम्पूर्ण स्थिति और विस्तार की कल्पना कर सकता है जिसके माध्यम से इतिहास अपनी कथा कहने में स्वयं समर्थ हो उठे। लेकिन इन सबके बावजूद भी वह कथा मे ऐतिहासिक व्यक्तियों को सुसंगत ढंग से बैठाने के लिए उनके वास्तविक चरित्रों को विकृत करने अथवा अपने कथानक के सूत्रों को परस्पर गुम्फित करने के लिए काल-क्रमिक-सरणि मे परिवर्तन करने का अधिकारी नहीं। यह पद्धति एक ऐसा स्वर प्रस्तुत करती है जिसमे उपन्यासकार भी अपना स्वर मिला सकता है। इस पद्धति के सशक्त उदाहरण हैं—यशपाल की 'दिव्या' एवं 'अमिता', हजारीप्रसाद द्विवेदी की 'बाणभट्ट की आत्मकथा' वृन्दावनलाल वर्मा की 'कचनार', 'विराटा की पद्मिनी' तथा रांगेय राघव की कृति 'मुर्दों' का टीला'।

दूसरी पद्धति में इतिहास केवल सामग्री ही नहीं प्रस्तुत करता, उपन्यास के लिए एक सुदृढ़ कथानक भी प्रस्तुत करता है जिसको काँट-छाँटकर उपन्यासकार अपने उद्देश्य के अनुकूल बनाता है और फिर अपनी कल्पना और सर्जनाशक्ति द्वारा उसे सुगठित एवं मांसल

बनाकर उसमें प्राण-संचार करता है। इस पद्धति में उपन्यासकार को दो प्रधान कार्य करने पड़ते हैं—प्रथम, कथानक का अनुभावन तथा दूसरा, उसका कलात्मक संगठन। ऐतिहासिक उपन्यास की संरचना की इस पद्धति में उपन्यासकार कथानक, चरित्र यहाँ तक कि ऐतिहासिक परिस्थितियों को भी इतिहास से ग्रहण करता है। इस प्रकार, इतिहास उपन्यासकार को कथानक देता है, घटनाएँ देता है, और उपन्यासकार की कल्पना [illegible] करता है। यहाँ उपन्यासकार को अतीत के जीवन तथा काल-कल्पित-वर्णन के प्रति ही सत्यनिष्ठ नहीं रहना पड़ता, वरन् इतिहास के अन्य ज्ञात तथ्यों तथा लोक-प्रसिद्ध [illegible] घटना-क्रम के प्रति भी सत्यनिष्ठ रहना पड़ता है। तुलनात्मक दृष्टि से यह पद्धति इस अर्थ में [illegible] कही जा सकती है कि इसमें इतिहास से ली गयी कथा को उपन्यासकार अपनी कल्पना से गुम्फित तथा अन्तर्ग्रथित कर सामंजस्य स्थापित करता है और उपन्यास की माँग के अनुसार इतिहास की तीव्रता और आकस्मिकता को स्वाभाविक बनाने के लिए कथा-प्रसंग [illegible] भी ला देता है। इतिहास-प्रयोग की इस पद्धति के अन्तर्गत वृन्दावनलाल वर्मा की 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' तथा 'माधव जी सिंधिया', प्रतापनारायण श्रीवास्तव की 'बेकसी का मजार' तथा रांगेय राघव की कृति 'चीवर' को रखा जा सकता है। यद्यपि ऐसा शायद ही कोई ऐतिहासिक उपन्यास होगा जिसमें केवल एक ही पद्धति का पूर्ण रूप से अनुसरण किया गया हो, फिर भी दोनों के दो विभिन्न आदर्श हैं जो ऐतिहासिक उपन्यास के दो विशिष्ट रूपों का निर्माण करते हैं।

ऐतिहासिक उपन्यास, इतिहास की भाववृत्ति की प्रधानता के कारण एक अर्थ में इतिहास का एक रूप है, अतीत को निरूपित करने का एक ढंग है। इस दृष्टि से ऐतिहासिक उपन्यासकार भी, इतिहासकार ही है और उसके अध्ययन तथा विवेक की सीमाएँ इतिहासकार से तनिक भी घटकर नहीं हैं। किन्तु दूसरी दृष्टि से वह इतिहासकार से अधिक है, क्योंकि वह कलाकार है, उपन्यासकार है और अतीत के जीवन को प्रस्तुत करने का ऐसा [illegible] उसके पास है जो इतिहास की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली, अधिक सजीव और अधिक [illegible] होता है। इस प्रकार, ऐतिहासिक उपन्यासकार को अपनी शिल्पविधि में दो प्रकार के दायित्वों का वहन करना पड़ता है—एक इतिहासकार का तथा दूसरा उपन्यासकार का। जो इस कठिन कार्य में सफल नहीं होते, वे न तो इतिहासकार का ही दायित्व निभा पाते हैं और न उपन्यासकार का ही; क्योंकि रचना-क्रम में ये कार्य विभाजित नहीं रह जाते। दोनों के [illegible] के योग से ही उपन्यासकार इस कार्य में सफल हो सकता है।

इतिहास के उपन्यस्त करने का प्रश्न ऐसा है जो अनेक प्रकार की समस्याओं को जन्म देता है और जिनका समाधान ऐतिहासिक उपन्यासकार को स्वयं ही करना पड़ता है। जिस प्रकार घटनाओं और तिथियों को एक स्थान पर एकत्रित कर देने मात्र से इतिहास नहीं बन जाता, उसी प्रकार इतिहास के कुछ पात्रों और घटनाओं को लेकर एक स्थान पर रख देने से ऐतिहासिक उपन्यास नहीं बन सकता। इतिहास को वास्तविक इतिहास बनाने के लिए ऐतिहासिकता की आवश्यकता होती है। काल की धारा अनादि और अनन्त है। इसमें निरन्तर जीवन की क्रिया-प्रतिक्रिया चलती है। इतिहासकार को जिस काल का इतिहास

लिखना होता है वह उस काल की घटनाओं और तिथियों को उसकी पृष्ठभूमि में रखकर ही उनके कार्य कारण की स्थापना करता है यही ऐतिहासिकता है इसी ऐतिहासिकता में इतिहासकार का दृष्टिकोण लक्षित होता है और यही इतिहास के मूल्यों को स्थापित करता है। इतिहास को इतिहास बनाने के लिए जिस प्रकार ऐतिहासिकता अनिवार्य होती है उसी प्रकार ऐतिहासिक उपन्यास की संरचना के लिए 'ऐतिहासिक औपन्यासिकता' आवश्यक है। ऐतिहासिक उपन्यास के इतिहास और उपन्यास इन दोनों अंगों के कलात्मक समन्वय की जो अभिव्यक्ति पाठकों के हृदय में भावोद्रेक करने अथवा उसे रसदशा तक पहुँचाने में समर्थ होती है, उसे ही हम 'ऐतिहासिक औपन्यासिकता' कह सकते हैं।

इतिहास को उपन्यस्त करते समय उपन्यासकार को दो प्रकार के कार्य निष्पादित करने पड़ते हैं। निश्चित रूप से प्रथम प्रकार का कार्य उसके इतिहासकार के व्यक्तित्व से सम्बन्ध रखता है, जबकि दूसरे प्रकार का कार्य उसके कलाकार अर्थात् उपन्यासकार के व्यक्तित्व से। इस प्रकार, ऐतिहासिक उपन्यास की रचना-प्रक्रिया तथा इस सन्दर्भ में उत्पन्न समस्याओं की दृष्टि से ऐतिहासिक उपन्यासकार की कार्य-पद्धति को दो स्तरों में विभाजित किया जा सकता है :—

प्रथम, ऐतिहासिक तथ्यों का संकलन, उनमें पारस्परिक संगति एवं सम्बन्ध निर्धारण, ऐतिहासिक अनुक्रमण (काल की दृष्टि से—सम्पूर्ण एवं खण्ड दोनों को दृष्टि में रखते हुए) और सगठन।

द्वितीय, घटनाओं और तथ्यों की कथा में परिणति—कुतूहल, रहस्य आदि के द्वारा; ज्ञात घटनाओं और तथ्यों के पीछे निहित मानवीय भावनाओं की परिकल्पना—ऐतिहासिक सदर्भ के अनुकूल तथा प्रतिकूल; उद्देश्य का आरोप--भाग्यवाद, वीरपूजा, देशप्रेम, स्वातन्त्र्य-भावना आदि—तथा दृष्टिकोण; दृष्टि-बिन्दु का निर्धारण; काल तथा संस्कृति-बोध—वातावरण भाषा आदि के द्वारा; इतिहास और कल्पना के बीच सन्तुलन।

स्पष्ट है कि ऐतिहासिक उपन्यासकार की कार्य-पद्धति का प्रथम भाग इतिहास पक्ष से तथा द्वितीय भाग उपन्यास पक्ष से सम्बन्धित है। यहाँ यह स्मरणीय है कि इतिहास से संबंधित तथा इतिहासकार का व्यक्तित्व रखते हुए भी ऐतिहासिक उपन्यासकार मूलतः उपन्यासकार ही होता है और उसके कार्य का अधिकांश भाग उपन्यास की शिल्पविधि का अंग होता है।

ऐतिहासिक तथ्यों एवं घटनाओं का संकलन

इतिहास को उपन्यस्त करने के सन्दर्भ में उपन्यासकार के सम्मुख जो सबसे प्रमुख एवं बड़ी समस्या खड़ी होती है, वह है कथावस्तु के संगठन की। इतिहास अपने प्रकृत रूप में उपन्यासकार को न तो कोई बना बनाया कथानक दे सकता है और न कोई ऐसा ढाँचा ही, जिस पर वह अपने उपन्यास का भवन खड़ा कर सके। इतिहास में अनेक घटनाएँ होती है, अनेक चरित्र होते हैं, किन्तु वे प्रायः इतने असम्बद्ध एवं बिखरे रहते हैं कि उनके प्रकृत रूप को लेकर किसी कथा की करना अत्यन्त ही कठिन है वस्तुत की प्रतिभा एवं

कल्पना ही वह शक्ति है जिसके सहारे वह कथानक के विभिन्न बिखरे तत्त्वों—घटना, चरित्र आदि—को संकलित कर तथा उनकी पारस्परिक संगति एवं सम्बन्ध का निर्धारण कर एक सूत्र में संगठित करता है और एक कथानक का रूप देता है।

किसी भी उपन्यासकार के सम्मुख, विशेषरूप से ऐतिहासिक उपन्यासकार के सम्मुख जो सबसे बड़ी कठिनाई उपस्थित होती है, वह है उपयुक्त और उचित घटनाओं तथा तथ्यों के संकलन-संचयन की। किसी उपन्यास के लिए कथानक अथवा बीज पा लेना कठिन नहीं है कठिन है किसी अच्छे उपन्यास के लिए कथानक अथवा बीज पा लेना। जैसा कि ए० टी० शेपर्ड का कथन है, इतिहास के प्रत्येक युग में, प्रत्येक उपाख्यान में, प्राचीन राजभवन के प्रत्येक खण्डित अंश में, एक प्राचीन हथियार में, ध्वस्त समाधि के नाम में, यहाँ तक कि भग्नावशेष में भी ऐतिहासिक उपन्यास का बीज छिपा रहता है। इस बीज को पा लेने के पश्चात् उसे अंकुरित करने तथा विकसित करने के लिए उपन्यासकार को अनुकूल भूमि और वातावरण की आवश्यकता होती है। प्रश्न उठता है कि ऐतिहासिक उपन्यास के बीज को अंकुरित करने तथा विकसित करने के निमित्त अगणित घटनाओं और चरित्रों के समूह में से उपन्यासकार क्या चुने और क्या छोड़ दे, किसे प्रमुखता दे और किसे गौण रूप से स्वीकारे।[१]

कथावस्तु के संगठन तथा निर्मित हेतु प्रयुक्त इतिहास की अगणित घटनाओं तथा चरित्रों में से उपन्यासकार क्या ले और क्या छोड़ दे, इस सम्बन्ध में कोई कठोर नियम नहीं बनाया जा सकता। यह बहुत कुछ उपन्यासकार के विवेक और उसके दृष्टिकोण पर निर्भर करता है जिसमें उसका उद्देश्य भी सम्मिलित रहता है। किन्तु यह आवश्यक है कि उसका विवेक और अनुशासन ठीक वैसा ही हो, जैसा इतिहासकार का होता है। ऐतिहासिक विवेक तथा अनुशासन के अभाव में उपन्यस्त करने के लिए अगणित घटनाओं के संग्रह में से न तो वह उचित और प्रासंगिक घटनाओं का चुनाव कर सकता है और न तत्कालीन काल के जन-जीवन तथा इतिहास की भाववृत्ति को ही सजीव रूप में उपस्थित कर सकने में समर्थ हो सकता है। सामान्य इतिहासकार की भाँति, यद्यपि यह आवश्यक नहीं कि वह समस्त इतिहास का अध्ययन करे अथवा सम्पूर्णकाल की सामग्री का अवगाहन करे, किन्तु इतना तो आवश्यक है कि जिस काल-खण्ड पर उसकी कथा आधारित हो, उस काल-खंड के इतिहास का पूर्णता से अध्ययन-मनन करे और इतिहास की गतिशीलता में प्रवेश करे, तथा उपन्यास में उद्देश्य के आरोप के अनुकूल ही घटनाओं एवं तथ्यों का संकलन-संचयन करे। उपन्यासकार की कार्य-विधि का यह भाग लगभग वैसा ही होना चाहिये जैसे एक इतिहासकार का होता है।

काल, पात्र तथा घटनाओं के संचयन के सन्दर्भ में प्रायः तीन प्रकार के प्रश्न उठाये जाते हैं। काल-चयन के सम्बन्ध में जार्ज लूकाक्स की धारणा है कि ऐतिहासिक उपन्यास में चित्रित ऐतिहासिक काल तथा उसके पात्रों की जीवन-दशा जितनी ही दूर होगी, कार्य-व्यापार की निजी चेतना उन जीवन-दशाओं को हमारे सामने अपेक्षाकृत अधिक नमनीयता से प्रस्तुत कर सकने में सक्षम होगी और हम उनसे उत्पन्न किसी विशिष्ट मनोविज्ञान तथा मानिशास्त्र

को किसी ऐतिहासिक वैचित्र्य के रूप में समाहृत नहीं कर सकेंगे, वरन् मानव-विकास के एक पार्श्व के रूप में उन्हें पुनः अनुभव कर सकेंगे जो हमसे सम्बद्ध है तथा हमें संवेदित कर देता है।[२] इसी प्रकार ए० टी० शेपर्ड का विचार है कि सुदूर अतीत काल के इतिहास पर आधृत उपन्यास की रचना-प्रक्रिया तुलनात्मक दृष्टि से अधिक सुगम तथा सुविधाजनक होती है, क्योंकि यहाँ उपन्यासकार नामों की कल्पना कर सकता है, वातावरण की कल्पना कर सकता है, ऐसी जीवन-दशाओं की कल्पना कर सकता जो इतिहास में अज्ञात रही हैं। यहाँ इतिहास इतना नमनीय रहता है कि उपन्यासकार उसे जिधर चाहे मोड़ सकता है और अपने अनुकूल बना सकता है। उसके द्वारा प्रस्तुत नामों, घटनाओं, विवरणों आदि को चुनौती देने वाला भी सम्भवतः कोई नहीं रहता; क्योंकि जिन स्थल तथ्यों पर सम्पूर्ण कृति आधारित होती है वे निश्चय ही स्थापित नहीं रहते। अतः ऐतिहासिक उपन्यासकार को इतिहास के सुदूर काल का ही चयन करना चाहिये।[३]

लूकाक्स तथा शेपर्ड की बात कि सुदूरकालीन अल्पज्ञात तथा नमनीय इतिहास को लेकर उपन्यास की संरचना अधिक महत्वपूर्ण और सुविधाजनक होती है, जहाँ एक अर्थ मे सही है, वहाँ दूसरे अर्थ में उतना सुकर और आसान नहीं है जितना दृष्टिगत होता है। सुदूर अतीत काल का चुनाव किन्हीं अर्थों में उपन्यासकार के कार्य को अपेक्षित रूप से आसान बना देता है; क्योंकि जहाँ जानकारी अपूर्ण अथवा संदिग्ध है, वहाँ कल्पना को खुलकर खेलने के लिए अधिक छूट और विस्तृत क्षेत्र मिल जाता है। किन्तु जहाँ इस प्रकार की सुविधा मिलती है, वहाँ नीरसता तथा सत्याभास की कमी का खतरा भी रहता है। आदिम सभ्यता की जीवन-दशा को लेकर उपन्यास लिखनेवाले लेखक के लिए यह आवश्यक है कि आदिम मनुष्य की प्रकृति, उसकी जीवन-प्रणाली, उसके भय, प्रेम, घृणा, द्वेष, संघर्ष आदि का उसकी आदिम अवस्था में ही चित्रण करे। इसके लिए आदिम मनुष्य की सूक्ष्म प्रकृति एवं रहन-सहन की पद्धति का पूर्ण ज्ञान होना आवश्यक है, अन्यथा पथ से स्खलित हो जाने की सम्भावना बनी रहती है। जैसा कि डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन है, "इतिहास का सारा अतीत समान भाव से अज्ञात या ज्ञात नहीं होता। साधारणतः सुदूर अतीत के बारे मे तथ्यों की जानकारी कम होती है और निकट अतीत के सम्बन्ध में अपेक्षाकृत अधिक। ऐतिहासिक उपन्यास का लेखक अल्पज्ञात तथ्य वाले सुदूर अतीत काल की घटनाओं के सूत्र मिलाने के लिए कल्पना का अधिक आश्रय लेता है और निकट अतीत का कम। उपन्यास का लेखक वास्तविकता की उपेक्षा नहीं कर सकता। वह अतीत का चित्रण करते समय भी पुरातत्व, मानवतत्व और मनोविज्ञान आदि की आधुनिक प्रगति से अनभिज्ञ रहकर थोथी कल्पना का आश्रय ले उपहासास्पद बन जाता है। इसलिए ऐतिहासिक उपन्यास का लिखना कठिन कार्य है। जो लेखक आधुनिकतम प्रगति की उपेक्षा करके ऐतिहासिक उपन्यास लिखने की चेष्टा करता है, वह सजीव पात्रों की रचना करके भी सहृदय पाठकों में रसबोध की आशा नहीं रख सकता। छोटी-छोटी बातों में भी उसे सावधान रहना पड़ता है। सामान्य सम्बोधन, शिष्टाचार के लिए प्रयुक्त शब्द और तत्कालीन अंध-विश्वासों के विरुद्ध जाने वाले भी रसबोध में बाधक हो जाते हैं।"[४] अतः सुदूर काल के चयन में जहाँ सुविधा

है वह असंदिग्ध भी है अतएव मूलभूत प्रश्न यह नहीं है कि किस काल-खण्ड के इतिहास को उपन्यास का आधार बनाया जाय, वरन् प्रश्न यह है कि उस काल-खण्ड के इतिहास को किस प्रकार उपन्यस्त किया जाय कि तत्कालीन जीवन-पद्धति उसके माध्यम से जीवन्त हो उठे। अनेक उपन्यासकारों ने निकट अतीत के इतिहास का आधार बनाकर उपन्यास लिखे हैं और उन्हें पर्याप्त सफलता भी मिली है। 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई', 'मृगनयनी', 'माधवजी सिंधिया' (वृन्दावनलाल वर्मा), 'बेकसी का मजार' (प्रतापनारायण श्रीवास्तव), 'शतरंज के मोहरे' (अमृतलाल नागर) आदि अनेक उपन्यास निकट अतीत के इतिहास को लेकर लिखे गये हैं और ये पर्याप्त सफल उपन्यास कहे जा सकते हैं।

पात्रों और घटनाओं के चयन के सम्बन्ध में भी प्रायः समीक्षकों द्वारा इसी प्रकार के प्रश्न उठाये जाते रहे हैं। कुछ समीक्षकों की धारणा है कि इतिहास-विश्रुत घटनाएं और पात्र ही ऐतिहासिक उपन्यास-रचना के लिए अधिक उपयुक्त एवं महत्वपूर्ण होते हैं। इस मत के विपरीत कतिपय आलोचकों का मत है कि ऐतिहासिक उपन्यास के लिए इतिहास प्रसिद्ध घटनाओं तथा पात्रों की अपेक्षा कम प्रसिद्ध प्रासंगिक घटनाएं तथा पार्श्व चरित्र ही अधिक उपयुक्त होते हैं। एच० बटरफिल्ड ने 'इतिहास-विश्रुत' घटनाओं के महत्व को प्रतिपादित करते हुए लिखा है—"ऐतिहासिक उपन्यासकार के लिए एक महान इतिहास-विश्रुत घटना उन प्रासंगिक कथाओं की अपेक्षा जो सामान्य इतिहास से ली जाती हैं, अधिक विस्तृत कथा-सूत्र प्रस्तुत करती है। जब ऐतिहासिक उपन्यासकार अतीत के एकान्तिक पथों में विचरण करने तथा मार्ग से दूर अज्ञात कोने की रोमांचक घटनाओं के विस्मयों को प्राप्त करने के बदले प्रसिद्ध घटनाओं की पूर्णधारा के साथ सामना करता है तथा महान् व्यक्तियों की नियति में प्रविष्ट होता है, तो ऐतिहासिक उपन्यास दूरस्थ प्रसिद्ध घटना के अर्थ में इतिहास-विश्रुत कार्य-कलाप का प्रतिरूप हो जाता है और उसकी सीमाएँ अधिक विस्तृत हो जाती हैं।"[५] इसके विपरीत सेन्ट्सबरी का कथन है कि उपन्यास की विषयवस्तु के लिए महान ऐतिहासिक घटनाएं अनुपयुक्त और घटिया होती हैं और यदि महत्व की होती भी हैं तो तभी होती हैं, जब वे किसी कल्पित चरित्र अथवा कम ज्ञात चरित्र से जुड़कर कथा के विकास एवं पात्रों के [illegible] को सुलझाने में सहायता करती हैं।[६] इसी प्रकार लेस्ली स्टीफेन का कथन है कि किसी उपन्यास में ऐतिहासिक चरित्र प्रायः हमेशा ही आपत्तिजनक एवं अनुपयुक्त होता है।[७] सर वाल्टर रेले ने भी अपनी पुस्तक 'इङ्गलिश नावेल' में लिखा है कि ऐतिहासिक उपन्यासों के प्रधान पात्र स्वयं ऐतिहासिक नहीं होने चाहिये।[८]

महान् ऐतिहासिक घटनाओं तथा पात्रों एवं पार्श्व चरित्रों तथा प्रासंगिक घटनाओं सम्बन्धी जो समस्याएँ उठायी गयी हैं, वे एक सीमा तक सही होते हुए भी व्यावहारिक दृष्टि से कोई विशेष महत्व नहीं रखती। ऐतिहासिक उपन्यासकार का लक्ष्य होना चाहिये कि वह विचित्र युग की ठोस ऐतिहासिक परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुए व्यक्ति और समूह के जीवन तथा उनके पारस्परिक प्रभावों को सम्पन्नता से चित्रित करे। इस दृष्टि से प्रासंगिक घटनाओं और पार्श्व चरित्रों का भी उतना ही महत्व है जितना इतिहास-विश्रुत घटनाओं और चरित्रों का। वस्तुतः ऐतिहासिक घटनाएँ और चरित्र अपने आप में महत्वपूर्ण नहीं होते

व महत्त्व के तभी होते हैं जब इतिहास में कोई गम्भीर मोड़ उपस्थित करते हैं अथवा जन जीवन में कोई विशिष्ट गतिशीलता पैदा करते हैं। इस दृष्टि से ऊपर-ऊपर से छोटी दीख पड़नेवाली घटना भी महत्वपूर्ण हो सकती है और बड़ी से बड़ी घटना भी किसी संगति के अभाव में महत्वहीन हो सकती है। अत: ऐतिहासिक उपन्यासकार के लिए जो इतिहास की जीवन्त प्रक्रिया को चित्रित करने का लक्ष्य रखता है, छोटी और बड़ी, तुच्छ और महान् दोनों प्रकार की घटनाओं और चरित्रों का समान रूप से महत्व है। वास्तविकता तो यह है कि घटनाओं और पात्रों की प्रसिद्धि और इतिहास-ज्ञात रूपरेखा ऐतिहासिक उपन्यासकार के लिए उतनी महत्वपूर्ण नहीं होती, जितनी की उन घटनाओं को घटित करानेवाली मन:स्थिति और परिचालित करने वाली परिस्थिति, मानसिक संघर्ष, अन्तर्द्वन्द्व आदि। और ये चीजें प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध दोनों प्रकार के पात्रों और घटनाओं पर आरोपित की जा सकती हैं। अत: ऐसा नहीं कहा जा सकता कि मात्र महान् ऐतिहासिक घटनाएँ और पात्र अथवा मात्र पार्श्व चरित्र और प्रासंगिक घटनाएं ही महत्वपूर्ण होती हैं। ऐतिहासिक उपन्यास-संरचना के लिए दोनों प्रकार की घटनाओं और चरित्रों का समान रूप से महत्व है और किसी भी महान कलाकार की प्रतिभा का संस्पर्श पाकर ये जीवन्त हो उठते हैं। इतिहास-प्रसिद्ध घटनाओं और पात्रों पर आधारित 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' 'माधव जी सिंधिया' 'आचार्य विष्णुगुप्त चाणक्य,' 'बेकसी का मज़ार', 'चीवर', 'मृगनयनी' आदि उपन्यास जिस रूप में सफल कहे जाते हैं, उससे तनिक भी कम सफल पार्श्वचरित्रों एवं प्रासंगिक घटनाओं पर आधारित 'टूटे काँटे,' 'गढ़कुण्डार' 'बाणभट्ट की आत्मकथा' 'सिंह सेनापति,' 'जय यौधेय', 'वैशाली की नगरवधू' आदि नहीं हैं।

हाँ, इस सन्दर्भ में एक बात अवश्य कही जा सकती है कि इतिहास में कुछ ऐसे काल, पात्र, घटनाएँ तथा समस्याएँ होती हैं जो उपन्यस्त करने के लिए अधिक उपयुक्त होती हैं और उपन्यासकार को आमंत्रित करती हैं। उपन्यस्त करने के लिए उच्छृंखल अहंवाद का युग तथा आक्रमणशील व्यक्तित्वों का युग, उस युग की अपेक्षा अधिक उपयुक्त होता है जिसमें संघबद्ध कार्य घटनाओं का निश्चयन करते हैं। वह युग जिसमें युद्ध एक क्रीड़ा और विलास की वस्तु है तथा परिहास, व्यंग्य और लड़ाई-झगड़ा सामान्य जीवन के अंग हैं, अधिक उपयुक्त होता है अपेक्षाकृत उस युग के जिसमें युद्ध एक जटिल और व्यवस्थित विद्या है। अपने मन की तरंग से शासित सम्राट् ऐतिहासिक उपन्यास के मुख्य चरित्र के रूप में अधिक सजीव एवं अनुकूल हो सकता है अपेक्षाकृत उस राजनीतिज्ञ के जो किसी पार्टी का मुख मात्र होता है। इस प्रकार, यद्यपि हम काल और चरित्र के चयन के सम्बन्ध में कोई नियम नहीं बना सकते, फिर भी इस प्रकार का चयन कर सकते हैं कि वह उपन्यस्तीकरण के लिए उपयुक्त हो और जीवन के सत्य की अभिव्यक्ति कर सके। भारतीय इतिहास का मध्य युग तथा उसके अधिकांश ऐतिहासिक चरित्र इस दृष्टि से उपन्यस्त करने के लिए अधिक उपयुक्त हो सकते हैं।

ऐतिहासिक तथ्यों के संकलन और संचयन के सन्दर्भ में जो सबसे महत्वपूर्ण बात है, वह है चित्रणाधीन काल से इतिहास और तत्कालीन जीवन-दशा का गम्भीर अध्ययन। यदि उपन्यासकार सही अर्थों में कोई गम्भीर और जीवन्त कृति प्रस्तुत करना चाहता है तो उसके

कार्य का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अंश यह है कि वह अभाव काल में अपनी जानकारी के क्षेत्र से प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक स्थल का गम्भीरता से अध्ययन करे समस्त उपलब्ध प्रमाणों और आप्तवचनों को जाने-परखे, परस्पर विरोधी साक्ष्यों पर अपना कोई स्वतन्त्र निर्णय दे, तथा यह निश्चय करे कि किस तथ्य का प्रयोग किया जाय और किसे छोड़ दिया जाय आदि-आदि।

संगति और सम्बन्ध-निर्माण

ऐतिहासिक तथ्यों के संकलन और संचयन के पश्चात् उनकी पारस्परिक संगति और सम्बन्ध-निर्माण का प्रश्न आता है। इतिहास में घटनाएँ एवं तथ्य परस्पर इतने विशृंखल, असम्बद्ध और संगतिविहिन होते हैं कि उनके प्रकृत रूप को पढ़कर न तो किसी रसदशा तक पहुँचा जा सकता है और न उनके उस रूप मात्र को लेकर किसी सजीव चित्र की कल्पना की जा सकती है। घटनाएँ एवं तथ्य वस्तुतः शरीर के उन विभिन्न अङ्गों की भाँति हैं जो अपने आप में महत्वपूर्ण होते हुए भी स्वतन्त्र रूप से (शरीर से विच्छिन्न होकर) निष्क्रिय हैं। हमारे सम्मुख ये कोई सजीव चित्र, कोई आकर्षक परिदृश्य, कोई प्राणवन्त कलाकृति प्रस्तुत करने में तभी सक्षम हो सकते हैं जबकि परस्पर सूत्रजाल में गुम्फित होकर अपनी स्वतंत्र स्थिति रखते हुए भी सम्पूर्ण की निर्मिति में योग दें।

ऐतिहासिक तथ्यों एवं घटनाओं में पारस्परिक संगति और सम्बन्ध-निर्धारण की समस्या वस्तुतः उपन्यास के कथावस्तु के निर्माण की समस्या है जो पूरे उपन्यास का मूलाधार है। यदि उपन्यास में प्रयुक्त तथ्यों में संगति का अभाव है, ऐतिहासिक घटनाओं के बीच कोई पारस्परिक सम्बन्ध नहीं है, तो सम्पूर्ण कृति बिखरी हुई ऐतिहासिक घटनाओं का संग्रहालय प्रतीत होगी, जिससे न तो हमारी कल्पना में कोई चित्र उभर सकेगा और न इतिहास की भाववृत्ति (ऐतिहासिक रस) ही हमारे भीतर उत्पन्न हो सकेगी। ऐतिहासिक घटनाओं और तथ्यों में पारस्परिक संगति एवं सम्बन्ध-निर्धारण हेतु उपन्यासकार के पास उस सशक्त चित्र-विधायनी एवं निर्माणकर्त्री इतिहासमूलक प्रागनुभव कल्पना का होना आवश्यक है। इस कार्य में उपन्यासकार को इतिहासकार की ही भाँति तथ्यों एवं घटनाओं को एक सूत्रजाल में संग्रथित कर तथा उन्हें कार्य-कारण सम्बन्धों में बाँधकर ऐसे सामञ्जस्यपूर्ण एवं संश्लिष्ट चित्र का निर्माण करना होता है जो बोधगम्य और सार्थक हो।

काल की धारा अनन्त है और सम्पूर्ण काल के इतिहास को एक ही जगह उपन्यस्त करने की बात कठिन ही नहीं, असम्भव है। अतः तथ्यों एवं घटनाओं के सम्बन्ध-निर्धारण के सन्दर्भ में एक अन्य प्रश्न यह भी उठता है कि उपन्यासकार उन्हें काल की दृष्टि से इतिहास के काल-खण्ड में उपस्थित करे अथवा उप काल-खण्ड में। अपने विवेक-बुद्धि से वह दोनों रूपों में उपस्थित करने के लिए स्वतन्त्र है। उदाहरणार्थ, मान लीजिये कि उपन्यासकार ने गुप्तकाल सम्बन्धी तथ्य एवं घटनाएँ संकलित की। इन संकलित तथ्यों एवं घटनाओं को उपन्यासकार चाहे तो सम्पूर्ण गुप्तकाल के सन्दर्भ में उपस्थित कर उस काल की राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक सभी प्रकार की विशेषताओं को प्रकाश में ले आये अथवा चाहे तो उन्हें केवल समुद्रगुप्त या स्कन्दगुप्त के राज्यकाल और व्यक्तित्व से जोड़कर तत्कालीन जीवन-दशा को उजागर करे।

पहली अवस्था में जहाँ उसकी दृष्टि मुख्यतः तत्युगीन वातावरण पर केन्द्रित रहती है, वहाँ दूसरी अवस्था में वातावरण के अतिरिक्त कथा के नायक के व्यक्तित्व पर भी। इसी प्रकार, वह सकलित तथ्यों एवं घटनाओं को समस्त देशीय इतिहास से जोड़कर संगठित कर सकता है अथवा मात्र क्षेत्रीय इतिहास से जोड़कर। सन् १८५७ की घटना को झाँसी, दिल्ली, लखनऊ, कानपुर, मेरठ आदि की घटनाओं से जोड़कर उसे जहाँ भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम के रूप मे उपस्थित किया जा सकता है, वहाँ उसे केवल झाँसी अथवा दिल्ली अथवा लखनऊ की घटनाओ से जोड़कर एक क्षेत्रीय इतिहास के रूप में संगठित किया जा सकता है।

ऐतिहासिक तथ्यों एवं घटनाओं की 'कथा' में परिणति

ऐतिहासिक तथ्यों एवं घटनाओं के संकलन-संचयन तथा संगति एवं सम्बन्ध-निर्धारण के पश्चात् उपन्यासकार की कार्य-पद्धति का द्वितीय भाग — उनको कथा में परिणत करने की समस्या आती है और वास्तव में यह इतिहास को उपन्यस्त करने की मूलभूत समस्याओ मे प्रमुखतम है तथा उसके शिल्पगत विशेषताओं से सम्बन्धित है। एक समय सभी उपन्यासकारो को अपने उपन्यास में सीधे जीवन से ली गयी तथा तथ्यों पर आधारित घटनाओं और परिस्थितियों को समाविष्ट करना यथार्थ जँचता है; कभी-कभी उपन्यासो मे जो अस्वाभाविक तथा अविश्वसनीय बातें आ जाती है, उनके पक्ष में लेखक यह दलील देता है कि ये चीजे सीधे जीवन या प्रकृति से ली गयी हैं। फिर भी कोई आलोचक इस बात को गम्भीरता से नही स्वीकारेगा कि इस प्रकार के वक्तव्यों का प्रभाव किसी भी उपन्यास के उचित मूल्यांकन पर पडता है। किसी घटना का प्रकृत सत्य उपन्यास में उसके समावेश के लिए यथेष्ठ समर्थन नही होता और न वह उपन्यास को अधिक मूल्यवान् ही बनाता है। इतना ही नहीं, वह उपन्यास की प्रभावान्विति तथा सत्यता को भी कम कर देता है। उपन्यास में ऐतिहासिक तथ्यों और घटनाओं के सम्मिश्रण की भी यही स्थिति है। उपन्यास में सत्य घटनाओं अथवा तथ्यों का मात्र समावेश, इतिहास के किसी अंश को येन-केन प्रकारेण लेकर पैबन्द की तरह जोड देने का प्रयत्न, पाद-टिप्पणी में मात्र यह लिख देने से कि 'अमुक घटना वास्तविक रूप मे घटित हुई' न्यायसंगत नहीं माना जा सकता। कोई भी ऐतिहासिक तथ्य किसी पाठक की उत्सुकता जागृत कर सकता है, अपने में अभिरुचि उत्पन्न करा सकता है, किन्तु यह उत्सुकता अथवा अभिरुचि किसी अन्य प्रकार की होगी और एक बिल्कुल सश्लिष्ट वस्तु की भाँति उपन्यास के सम्पूर्ण मूल्यांकन को प्रभावित नहीं कर सकती। इतिहास की घटनाओं का सामयिक और स्वतंत्र प्रयोग सम्पूर्ण उपन्यास की स्वरूपगत एवं प्रकृतगत विशेषताओं में कोई परिवर्तन नहीं करता और न उपन्यास को सत्यकथा तथा वास्तविक जीवन से सम्बन्धित ही बनाता है। ऐतिहासिक घटनाओं और तथ्यों का महत्व और उनके प्रयोग की सार्थकता उपन्यास में तभी है जब वे कथा में परिणत होकर उपन्यास की सम्पूर्ण निर्मिति को कलात्मक एवं प्रभावशाली बनावें।

इतिहास, घटनाओं से परिपूर्ण होता है और घटनाएँ उससे इस प्रकार निःस्रवित होती हैं कि उनसे कथा बनाई जा सके घटनाए स्वय कथा नहीं होती किन्तु प्रतिभावान् कथाकार

द्वारा वे कथा में परिवर्तित की जा सकती हैं। इतिहास में ऐसी भी अप्राप्य घटनाएँ या बातें होती हैं जिनको इतिहास कोई विशेष महत्त्व नहीं देता, किन्तु 'कथा' के लिए इन बातों का अत्यधिक महत्व है और उन्ही के कारण कथा 'कथा' है और इतिहास 'इतिहास'। इस प्रकार की बातें अत्यन्त घनिष्ट और वैयक्तिक होती हैं और प्रत्यक्ष अनुभव-संस्पर्शों से परिपूर्ण होती है। वास्तविकता तो यह है कि अत्यन्त घनिष्ट और वैयक्तिक बातें तथा ऐतिहासिक घटनाओं और चरित्रों के मानवीय संस्पर्श ही ऐसे तत्त्व हैं जो कुतूहल, रहस्य, रोचकता आदि औपन्यासिक गुणों से मिलकर घटनाओं और तथ्यों में प्राण प्रतिष्ठा करते हैं तथा उन्हें जीवन्त कथा का रूप देते हैं। अतीत के जीवन में इन बातों को ग्रहण करने तथा अतीत के युग को पुनरुज्जीवित करने के लिए कल्पना द्वारा इतिहास को केवल संवर्द्धित करना तथा आविष्कृत उपकथाओं से उसे विस्तृत करना ही आवश्यक नही है, वरन् यह भी आवश्यक है कि उसे कथा में परिणत करते हुए उपन्यस्त किया जाय।

उपन्यास में इतिहास-प्रयोग का सबसे सहज रूप उस कथा का है जिसमें नायक किसी सुदूर अतीत युग में भ्रमण करता है और पाठक उसका अनुसरण करता है, मानो वह किसी नये विश्व में आ गया हो। नायक उस सुदूर अतीत में जो कुछ भी देखता है, उसी को देखने के लिए पाठक उत्सुक रहता है। वह अतीत युग तथा उस युग के कार्यों एवं परिस्थितियों की सम्पूर्ण योजना, उस भ्रमणशील नायक से सम्बद्ध घटनाओं तथा उसके जीवन के स्पर्श-बिन्दु पर वर्णित होती है। कुछ अंशों में यह प्रत्येक ऐतिहासिक उपन्यास में होता है। अपनी कथा की पृष्ठभूमि के किसी सजीव वर्णन के अतिरिक्त ऐतिहासिक उपन्यासकार को किसी विशिष्ट युग की विशिष्ट अवस्था का रहस्योद्घाटन हमेशा आवश्यक होता है; क्योंकि उसकी कथा के पात्रों के भाग्य और भवितव्यता, किसी विशिष्ट क्षण के कार्य-कलापों तथा समय के व्यापारों में उनकी उलझनों का परिणाम होते है। अतीत को निरूपित करने की इस पद्धति का अनुसरण यदि किसी उपन्यास में किया जाता है तो उसका अभिप्राय यह होता है कि एक युग को परिस्थितियों का व्यवस्थित रूप माना जाता है और किसी व्यक्ति के जीवन द्वारा उसके स्पर्श-बिन्दु पर ही वर्णित किया जाता है। यह व्यक्ति या पात्र ऐतिहासिक भी हो सकता है अथवा उपन्यासकार की अपनी सृष्टि भी हो सकता है। उसका जीवन उस दीपक की भाँति होता है जो उस विशिष्टकालीन सीमाओं—देश तथा काल—को जहाँ पर छूता है, प्रकाशित कर देता है। इस अर्थ में उसका जीवन उसके युग का निष्कर्ष होता है और युग की सभी विशेषताएँ उसमें सन्निहित रहती हैं।

इतिहास को उपन्यास में परिवर्तित करने की एक अन्य प्रत्यक्ष और प्रभावशाली पद्धति है। यह पद्धति एक कथानक को प्रस्तुत करती है जो वास्तविकता से बंधा रहता है। किसी भी उपन्यास में साहसपूर्ण कार्यों एवं घटनाओं, पराक्रम, छल, अभिसन्धि तथा विशिष्ट कार्य-कलापों आदि की कल्पना समुचित तथा नियोजित ढंग से की जा सकती है, किन्तु यदि ये बातें सीधे इतिहास से आयें, तो ये उन सूत्रों की भाँति हो सकती हैं जो परस्पर एक दूसरे को बाँधती है तथा उपन्यास को ऐतिहासिक यथार्थता और वास्तविकता प्रदान करती हैं। यहाँ इतिहास. कथाकार को कथा-संसार ही नहीं प्रदान करता, वरन् वास्तविक कथाएँ प्रदान

करता है, वह पूर्व घटित घटनाओ का चित्र मात्र नहीं होता वरन् प्रासगिक कथाओ घटनाओ और विवरणो का कोष होता है।

किसी भी युग की परिस्थितियाँ और अवस्थाएँ अव्यक्त कथाओं से भरी होती हैं और किसी व्यक्ति की कथा कहने की प्रवृत्ति को उकसाने के लिए पर्याप्त होती हैं। अतः इतिहास, उपन्यासकार को प्रायः कथा का संकेत दे देता है। अधिक व्यापक और प्रत्यक्ष रूप मे वह उपन्यासकार को एक कथासूत्र भी प्रदान कर सकता है। प्रसिद्ध व्यक्तियों के जीवनचरित्र के रूप में वह एक बना बनाया उपयुक्त कथानक तो नहीं, किन्तु उपन्यास-रचना के लिए एक उपयुक्त विषय, विकसित करने तथा समाधान प्रस्तुत करने के लिए कोई समस्या दे सकता है, क्योंकि ये चीजें उनके जन-जीवन को ही लेकर नहीं, वरन् उनके व्यक्तिगत जीवन-पक्ष को भी लेकर कथा को आमंत्रित करती रहती है। इसके अतिरिक्त, इतिहास स्वयं भी उनसे संबंधित ऐसी अनेक प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध घटनाओं की एक सामान्य रूप-रेखा प्रस्तुत करता है जो उपन्यास के लिए एक आधार प्रस्तुत करती है तथा एक सीमा-रेखा निर्धारित कर देती हैं जिसके भीतर उपन्यासकार रचना-कार्य करता है। किन्तु इन सबके परे मानवीय अनुभवों का, जीवन की विस्तृत परिधि का, जन-साधारण के सम्पूर्ण संसार का एक विशाल समूह भी है जिनके विषय मे इतिहास मात्र एक अपर्याप्त कथा कहकर रह जाता है। ये सब तो ऐसी बाते है जिनके बारे में उपन्यासकार को निश्चित रूप से स्वयं चिन्ता करनी पड़ती है और सच बात तो यह है कि यही बातें इतिहास को संवेदनमय एवं रसात्मक बनाकर कथा में परिवर्तित होने के लिए बाध्य करती है। वह उपन्यासकार जो राजाओं का तो कदाचित् ही वर्णन करता है वरन् सामान्य योद्धाओं तथा नागरिकों का चित्रण करता है, जो हृदय और घर को छोड़कर कभी-कभी ही किसी कोर्ट या पार्लियामेण्ट को चित्रित करता है, इतिहास को वृत्तान्तों का संग्रहागार मानकर वास्तविक घटनाओं के लिए ही उसकी ओर दृष्टिपात करता है और वहाँ केवल प्रासंगिक कथाएँ ही पाता है। अल्पकालीन अवसरों पर बातें अंधकार मे से ही आती है। बहुत सी बातें केवल इंगित भर रहती हैं और कथा के बहुत से सूत्र थोडी दूर जाकर ही टूट जाते है। इतिहास, कथा के कुछ सुन्दर स्फुरणों में इधर-उधर फूट तो पड़ता है किन्तु उसमें कथा का वह निरन्तर प्रवाह बहुत कम पाया जाता है जो किसी भी उपन्यास को सत्य, संश्लिष्ठ एवं गतिशील बनाने के लिए आवश्यक होता है। उपन्यास मे समाविष्ठ होने योग्य यह विवरणात्मक और कथात्मक इतिहास खण्डित रूप में आता है और उपन्यासकार की कल्पना द्वारा ही परस्पर संग्रथित हो पाता है। उस उपन्यासकार को, जो ऐसी बातों के कहने का इच्छुक हो जो वास्तव में घट चुकी हैं, प्रासंगिक घटनाओं पर टूट पड़ना चाहिये।

उपन्यास में ऐतिहासिक घटनाओं का एक महत्त्वपूर्ण उपयोग है और यह इतिहास की घटनाओं और प्रासंगिक कथाओं को उपन्यास में परिवर्तित करने की एक अधिक प्रभावशाली पद्धति है। इस पद्धति में उपन्यासकार इतिहास के किसी विशिष्ट काल को कठोरता से स्पर्श नही करता और न कथा-संकेत के रूप में तत्कालीन परिस्थितियों का प्रयोग ही करता है। वह न तो किसी विशिष्ट की लहर से अपने को अनुरक्त रखता है और न किसी

विशिष्ट ऐतिहासिक चरित्र पर अपने ध्यान को केंद्रित ही रखता है। यद्यपि वह इन चीजों की कभी उपेक्षा नहीं कर सकता किन्तु ये सब उसके चिन्तन के प्रमुख विषय नहीं होते और न उनके चारों ओर उसके कार्य का रूप गठित होता है। वास्तव में उसके कार्य का केन्द्र वे घटनाएँ होती है जो वस्तुतः घट चुकी हैं; घटनाओं पर ही उसकी आँखें लगी रहती हैं और उन्हीं को लेकर वह रचना-कर्म में प्रवृत्त होता है। इस पद्धति का अन्तिम परिणाम यह होता है कि उपकथात्मक उपन्यास का एक विशिष्ट प्रकार अस्तित्व में आ जाता है जिसमें ऐतिहासिक उपकथाएँ और स्वतंत्र ऐतिहासिक उपाख्यान परस्पर असम्बद्ध रूप से कल्पना के एक क्षीण सूत्र द्वारा बँधे रहते हैं। इस योजना में एक कथा अपने पहलेवाली कथा का ऐसे विच्छिन्न रूप से उत्तराधिकार ग्रहण करती है कि कभी-कभी आवयविक एकता की खोजना बड़ा कठिन हो जाता है। इस प्रकार सम्पूर्ण उपन्यास कथा के विभिन्न खण्डों में विभाजित रहता है और एक कथा-समूह सम्भवतः आकस्मिक रूप से ही किसी अन्य उपकथा-समूह में सम्बद्ध रहता है तथा प्रायः अपने आप में पूर्ण रहता है। चतुरसेन शास्त्री कृत 'वैशाली की नगरवधू' तथा 'सोना और खून' इसी प्रकार के उपन्यासों का प्रतिनिधित्व करते है जिनमें आवयविक एकता के सूत्रों का प्रायः अभाव है।

इस प्रकार का उपन्यास समुचित प्रासंगिक कथाओं से सम्पन्न इतिहास से ही उद्भूत हो सकता है। ऐसा देखा गया है कि विश्व-इतिहास में कुछ ऐसे विशिष्ट देश, काल तथा अंचल है जो उपन्यास में इतिहास-प्रयोग की इस पद्धति के विशेष अनुकूल पड़ते हैं; क्योंकि वे अपने इतिहास को प्रासंगिक कथाओं में ही सुरक्षित रखते है जो उपन्यास में परिवर्तित होने की अपेक्षा रखती हैं। जब जीवन, संकट और दुख-सुख के रंगों से परिपूर्ण तथा प्रभावशाली घटनाओं से संकुल हो, जब रोमांटिक पृष्ठभूमि पर ओजस्वी व्यक्तित्व की ऐसी प्रतिभा हो जो कार्य को नवीन गति दे तथा परिस्थितियों के संघात को प्रदीप्त करे; और सबसे बड़ी बात कि जब ये चीजें गीतों, कथाओं तथा परम्पराओं में सुरक्षित हों, तब इतिहास सामाजिक विकास तथा जन-घटनाओं के शुद्ध विवरण की अपेक्षा घटनाओं, साहस एवं वीरतापूर्ण कार्यों तथा षड्यंत्रों और वृत्तान्तों का कोष हो जाता है। ऐसी स्थिति में उपन्यासकार को अपने ऐतिहासिक उपन्यास के लिए इतिहास को सामग्रियों के कोषागार के रूप में ग्रहण करना चाहिये जो किसी महान कथासूत्र अथवा लम्बी प्रक्रिया की अपेक्षा चित्ताकर्षक घटनाओं का एक अनुक्रम होगा। पथ-विच्छिन्न घटनाओं तथा कहानियों द्वारा, जिन्हें इतिहास की पुस्तकों ने अपनी विस्तार-सीमा के अलग कर दिया है, महान राजनीतिक क्रान्तियों और प्रसिद्ध घटनाओं की मुख्य धारा से दूर इतिहास के एकान्तिक पथ तथा अतीत के धूमिल कोने भी प्रकाशमान हो उठते हैं। ये सब चीजें, हालाँकि तथ्यों पर आधारित रहती है, ऐसी है जिनको कथाकार आविष्कृत करने का आकांक्षी होता है तथा उन्हें कथा में ले आता है। ऐतिहासिक उपकथात्मक उपन्यास का वस्तुतः यही क्षेत्र है।

पूर्णरूप से व्यवस्थित और विन्यस्त ऐतिहासिक उपन्यास में प्रासंगिक कथाएँ एक दूसरे में से ही निकलती है और परस्पर इस प्रकार निबद्ध रहती हैं कि यदि एक भी प्रासंगिक कथा को निकाल दिया जाय तो उपन्यास का समूचा ढाँचा विशृंखल हो जाता है। ऐसे

उपन्यास में सभी प्रासंगिक कथाएं मिलकर एक ऐसा परिणाम उत्पन्न करती है जिसकी ओर समूचा उपन्यास प्रवृत्त होता है तथा पाठक के सम्मुख स्वयं प्रकट होती हुई एक प्रक्रिया, एक नियोजित कथासूत्र के रूप में आता है। शिथिल ऐतिहासिक उपन्यास में प्रासंगिक कथाएँ परस्पर असम्बद्ध रहती हैं और इसी अर्थ में केवल एक इकाई होती हैं कि वे सभी एक ही व्यक्ति—नायक—से सम्बन्धित होती हैं तथा समूचा उपन्यास कथासूत्र की अपेक्षा नायक के इर्दगिर्द अपने रूप का निर्माण करता है, किन्तु उपकथात्मक ऐतिहासिक उपन्यास में ऐसा कोई एकीभूत कथासूत्र नहीं होता जो कथा का केन्द्र-बिन्दु हो, और न कोई विशिष्ट चरित्र होता है, वरन् सम्पूर्ण उपन्यास उपाख्यानों अथवा उपकथाओं में विभाजित होता है और उसका प्रत्येक अध्याय एक प्रकार से नवस्फूर्तिमय होता है तथा उसका स्रोत एक स्वतंत्र ऐतिहासिक तथ्य होता है। इतिहास, पूरे उपन्यास के लिए विवरणों या वृत्तान्तों का उतना दीर्घ क्रम नहीं प्रस्तुत करता जितना अनकही प्रासंगिक कहानियाँ, जो कल्पना द्वारा परस्पर निबद्ध की जा सकती हैं, फिर भी जो अपने मूलभूत ऐतिहासिक परिवेश में स्वतंत्र रहती हैं। निश्चित और घटित घटनाओं के पुनर्गठन में अपनी मार्मिकता के बावजूद भी ऐतिहासिक विवरणों की सीधे इतिहास से लिये जाने की सम्पूर्ण पद्धति स्वयं इतिहास के अंशात्मक प्रकृति अथवा कम से कम कथाभिरुचि उत्पन्न करने वाले मानवीय व्यापारों में समन्वित इतिहास की अंशात्मक प्रकृति से सीमित होती है।[९] आम तौर पर ऐसा इतिहास मात्र उपाख्यानों या प्रासंगिक कथाओं तक अपना विस्तार बढ़ा सकता है, और तब एक ऐसी कृति के निर्माण का खतरा पैदा हो जाता है जो उपन्यास नहीं होता वरन् ऐतिहासिक रेखा-चित्रों का संकलन अथवा अतीत की पृष्ठभूमि में काल्पनिक आमोद-भ्रमण का प्रसमूह बन जाता है। यहाँ ऐतिहासिक उपन्यास में निष्ठाओं का संघर्ष लक्षित किया जा सकता है। ऐतिहासिक उपन्यास की संरचना न तो अकेले इतिहास द्वारा की जा सकती है, और न चुने हुए इतिहास-खण्डों द्वारा। उपकथाओं या उपाख्यानों का कोई समूह असम्बद्ध विवरण होता है तथा एक कुशल लेखक की कल्पना और निर्माण-कौशल से प्रवाहशील कथा में एकीकृत किया जा सकता है; अथवा वह असम्बद्ध विवरण में भी रह सकता है तथा इसके बावजूद भी उपन्यास में एक ऐसे भिन्न प्रकार का एकत्व प्राप्त कर सकता है जो किसी वर्णन से अधिक कुछ और हो। किन्तु दोनों अवस्थाओं में यह आवश्यक है कि कल्पना इतिहास की सहायता करे।

ज्ञात घटनाओं एवं तथ्यों के पीछे मानवीय भावनाओं की परिकल्पना

इतिहास जो प्रकृत घटनाएँ एवं तथ्य हमें देता है, उनमें न तो कार्य-कारण-सम्बन्धों का कोई प्रत्यक्ष सूत्र दृष्टिगत होता है और न उनके पीछे किसी ऐसी मानवीय भावना या भावनाओं का समूह दिखाई देता है जो मृतक घटनाओं एवं तथ्यों में प्राण-प्रतिष्ठा कर उन्हें जीवन्त बना सके। यद्यपि इतिहासकार प्रकृत घटनाओं और तथ्यों की विवेचना कर तथा सम्बन्ध-सूत्र स्थापित कर उनके कार्य-कारण सम्बन्धों की परिकल्पना करता है, किन्तु अपने इस प्रयत्न के बावजूद भी वह एक स्पष्ट, सजीव एवं मनोरम चित्र देने में सफल नहीं हो पाता। कारण कि उसकी अपनी सीमाएँ होती हैं जिनके अन्तर्गत रहकर ही उसे अपने कार्य

करने पड़ते हैं किन्तु उन्हीं ऐतिहासिक घटनाओं और तथ्यों के आधार पर उपन्यासकार उपन्यास संरचना में प्रवृत्त होता है तो उसके लिए मात्र यही आवश्यक नहीं है कि वह घटनाओं और तथ्यों के सम्बन्ध-सूत्रों और कार्य-कारण सम्बन्धों की स्थापना करे वरन् यह भी आवश्यक है कि वह उन घटनाओं और तथ्यों के पीछे निहित मानवीय भावनाओं और संवेदनाओं की कल्पना करे। क्योंकि इतिहास को प्रायः हर घटना के पीछे कुछ ऐसी मानवीय भावनाएँ एवं संवेदनाएँ रहती है, ऐसे व्यक्तिगत राग-द्वेष रहते हैं, ऐसे व्यक्तिगत स्वार्थ रहते है जो इतिहास की सम्पूर्ण धारा को गतिशील बनाते है। और सच बात तो यह है कि मानवीय भावनाओं और संवेदनाओं से समन्वित होकर ही इतिहास के उपकरण या इतिहास जीवन्त और सार्थक बन सकता है और उपन्यास का रूप ग्रहण करने में समर्थ हो सकता है।

इतिहास में ऐसी अनेक घटनाएँ और तथ्य मिल जायेंगे जिनके मूल कारण के सम्बन्ध मे इतिहास बिलकुल मौन है। ऐसी घटनाओं की व्याख्या के लिए इतिहासकार के पास न तो कोई प्रमाण है और न कोई ऐसी सामग्री ही है जिसके आधार पर वह उन घटनाओं की विवेचना कर सके। उदाहरण के लिए हम इतिहासप्रसिद्ध कलिंग की घटना को ले सकते हैं। इस घटना के सम्बन्ध में इतिहास हमें मात्र इतनी सूचना देता है कि सम्राट अशोक ने कलिंग पर विजय प्राप्त करने के लिए आक्रमण किया और उस आक्रमण के विरुद्ध कलिंगवासियों ने पूरी तत्परता दिखाई तथा उसका सामना करने के लिए एक विशाल सेना रणक्षेत्र में उतर पड़ी। भयंकर युद्ध हुआ जिसमे "डेढ़ लाख कलिंगवासी बन्दी हुए, एक लाख मारे गये तथा उनसे कई गुना मर गये।" इस युद्ध की नृशंसता ने अशोक के हृदय पर इतना गहरा आघात किया कि उसने रक्तपात कभी न करने की शपथ ली।[१०]

कलिंग-विजय तथा अशोक के हृदय-परिवर्तन का जो कारण इतिहास हमें देता है वह इतना क्षीण और कमज़ोर है कि इतने बड़े महान परिवर्तन के कारण रूप में हम उसे स्वीकार नहीं कर सकते। कलिंग-युद्ध से पूर्व भी अशोक ने अनेक लड़ाइयाँ लड़ी होंगी, अनेक हत्याएँ भी देखी होंगी, किन्तु उसका हृदय परिवर्तन क्यों नहीं हुआ? कलिंग-युद्ध के सन्दर्भ मे अवश्य ही किसी वैयक्तिक एवं मानवीय घटना ने उसके मन को आन्दोलित तथा विवेक को जागरूक बनाया होगा और तब उसने युद्ध से विरत होने तथा कभी न युद्ध करने का सकल्प लिया होगा। इस आधार पर उपन्यासकार स्वतंत्र है कि वह अशोक के हृदय-परिवर्तन की महान घटना के कारण स्वरूप किसी ऐसी मानवीय तथा उसके हृदय पर आघात करने वाली संवेदनशील, भावनात्मक घटना की कल्पना करे जो सहज सम्भाव्य भी हो और हमें सहज ही प्रतीति करा सके। 'अमिता' में यशपाल ने इस महान घटना के पीछे निहित ऐसी ही मानवीय भावना की परिकल्पना की है और अशोक के व्यक्तित्व और इस महान घटना के कारण का उद्घाटन किया है।

ज्ञात घटनाओं और तथ्यों के पीछे निहित मानवीय भावनाओं की परिकल्पना उपन्यासकार दो रूपों में करता है अथवा कर सकता है। ऐतिहासिक सन्दर्भ के अनुकूल तथा ऐतिहासिक सन्दर्भ के प्रतिकूल। पहली अवस्था में वह मानवीय भावनाओं की परिकल्पना इस रूप में कर सकता है कि वे ऐतिहासिक घटनाओं और तथ्यों की पोषक हों और ऐतिहासिक

सत्य की पुष्टि में सहयोग दें। दूसरी अवस्था में वह ऐतिहासिक सत्य के प्रतिकूल मानवीय भावनाओं की परिकल्पना कर सकता है। इतिहास बहुधा चरित्रों को स्थिर रूप में सामने रखता है और उनका व्यक्तित्व बहुत कुछ रूढ़-सा हो जाता है। उनमें अभिरुचि उत्पन्न करने के लिए केवल ऐतिहासिक घटनाएँ ही सहारा देती हैं। किन्तु जब उपन्यासकार पात्रों को तरल बना देता है और चरित्र को अरूढ़ दिशाओं में ले जाता है तो कुतूहल और अभिरुचि उत्पन्न करने के लिए कभी-कभी इतिहास-प्रसिद्ध भावनाओं के प्रतिकूल भावनाओं से उन्हें समन्वित कर देता है, हाँलाकि यह आवश्यक नहीं कि अन्त तक वह इन प्रतिकूल भावनाओं को बनाये ही रखे। बहुधा नाटकीय विधि में परिवर्तन दिखाकर वह इतिहास के अनुकूल भावनाओं का चित्रण करने लगता है। अशोक को पहले अति क्रूर चित्रित करना, फिर किसी कल्पित घटना के द्वारा हृदय-परिवर्तन दिखाकर अति उदार और अति कोमल चित्रित करना ऐसा ही कहा जायगा। जयचन्द ने विश्वासघात और देश के प्रति गद्दारी की थी, यह इतिहास-प्रसिद्ध है और ऐतिहासिक सत्य तथा लोक-प्रतीति दोनों के अनुकूल माना जाता है; किन्तु डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने उपन्यास 'चारुचन्द्र लेख' में जयचन्द को इसके विपरीत पृथ्वीराज के समान ही देश-प्रेमी दर्शाया है और विश्वासघात का दायित्व उनकी रानी पर डाल दिया है जिसका ऐतिहासिक स्वरूप ज्ञात नहीं है।

उद्देश्य का आरोप तथा दृष्टिकोण

किसी भी कलाकृति के सृजन के पीछे कुछ प्रेरक शक्तियाँ होती हैं जिसके कारण कलाकार उसकी संरचना में प्रवृत्त होता है और अपने उद्देश्य तथा दृष्टिकोण का उन पर आरोप करता है। ऐतिहासिक उपन्यासकार के लिए इतिहास आज मात्र इतिहास नहीं रह गया है वरन् एक प्रतीकात्मक महत्व की वस्तु बन गया है। प्राचीनता के मोह के अतिरिक्त भी कुछ ऐसा है जो उपन्यासकार को अतीत की ओर ले आता है। डॉ० जगदीश गुप्त के अनुसार निम्नलिखित उद्देश्यों, भावनाओं और दृष्टिकोणों से प्रेरित होकर उपन्यासकार इतिहास की ओर प्रवृत हो सकता है और इतिहास को उपन्यस्त करते समय उनका आरोप कर सकता है :—

(१) वर्तमान से पराजित अथवा असन्तुष्ट होने के फलस्वरूप पलायन की भावना।
(२) अतीत को वर्तमान से अधिक श्रेष्ठ एवं महत्वपूर्ण समझते हुए उसके पुनर्संस्थापन की भावना।
(३) वर्तमान को शक्तिशाली बनाने के लिए अतीत से उपजीव्य खोजने की भावना।
(४) कतिपय ऐतिहासिक पात्रों या घटनाओं के प्रति न्याय की भावना।
(५) इतिहास-रस में लिप्त रहने की भावना।
(६) जातीय गौरव, राष्ट्र-प्रेम, आदर्श-स्थापन तथा वीरपूजा की भावना।
(७) जीवन की किसी नवीन व्याख्या को प्रस्तुत करने की भावना।[११]

इन ——— में से कोई एक अथवा कई संयुक्त होकर प्रमुख अथवा गौण रूप से प्ररणा देते हुए ऐतिहासिक का बीजवपन कर सकती हैं

उपर्युक्त उद्देश्यों भावनाओं तथा दृष्टिकोणों से प्रेरित होकर हिन्दी उपन्यासकारों ने अनेक ऐतिहासिक उपन्यासों की संरचना की है। चूँकि भारतीय साहित्य में ऐतिहासिक उपन्यासों के प्रणयन का सूत्रपात राष्ट्रीय जागरण और स्वतंत्रता-आन्दोलन के साथ ही हुआ, अतः उनमें अतीत की गौरवगाथा, विगत वैभव का भावुक चित्रण और देश पर बलिदान हो जाने तथा प्राण देकर भी आत्मसम्मान की रक्षा करने का भाव प्रधान रूप में मिलता है। इसे पलायन प्रवृत्ति नहीं कहा जा सकता। विदेशी इतिहासकारों ने ऊपर से तटस्थता का भाव प्रदर्शित करते हुए भी भारतीय इतिहास के चित्रण में अत्यधिक पक्षपात का सहारा लिया है और उसे पर्याप्त रूप में विकृत करके सामने रखा है जिनके पीछे भारतीय गौरव, वीरता, सभ्यता और संस्कृति को अपने सम्मुख हीनतर सिद्ध करने की चेष्टा है। कतिपय मनस्वी एवं प्रतिभाशाली उपन्यासकारों को यह बात उचित नहीं प्रतीत हुई और इसका उन्होंने सशक्त प्रतिवाद किया। कन्हैयालाल मुंशी का 'जय सोमनाथ' (गुजराती) वृन्दावनलाल वर्मा का 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' तथा प्रतापनारायण श्रीवास्तव का 'बेकसी का मज़ार' इसी मनोभावना से लिखे गये उपन्यास हैं। मुंशी की कृतियों में आंशिक रूप से प्राचीनता की पुनर्स्थापना का भाव भी निहित प्रतीत होता है। वृन्दावनलाल वर्मा कृत 'मृगनयनी' तथा 'माधव जी सिंधिया' एवं सत्यकेतु विद्यालंकार का उपन्यास 'आचार्य विष्णुगुप्त चाणक्य' वीरपूजा की भावना से लिखे गये उपन्यास हैं। मुंशी तथा वर्मा की कृतियों में भारतीय सांस्कृतिक गौरव और जातीय शौर्य की प्रतिष्ठा का प्रयत्न लक्षित होता है। राष्ट्रीयता और आत्म गौरव की भावना बंकिमचन्द्र के 'आनन्दमठ' जैसी कृतियों में अत्यन्त उत्कृष्ट रूप में प्रकट हुई है। बंगाल के यशस्वी ऐतिहासिक उपन्यासकार राखाल बाबू के 'करुणा' और 'शशाङ्क'—जैसे उपन्यासों में सांस्कृतिक चेतना अधिक उभर कर आई है। हरिनारायण आप्टे ने महाराष्ट्र में और लक्ष्मी नरसिंहम् ने दक्षिण में राष्ट्रीय चेतना को उद्दीप्त और जाग्रत करनेवाले उपन्यासों का प्रणयन किया। इधर कतिपय उपन्यासकारों ने मार्क्सवादी सिद्धान्तों से प्रेरित होकर विशिष्ट ऐतिहासिक दृष्टिकोण से ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना की है जिनमें वर्तमान विचारधारा को सम्पोषित करने के लिए अतीत का आश्रय लिया गया है। राहुल सांकृत्यायन कृत 'सिंह सेनापति' तथा 'जय यौधेय', यशपाल कृत ''दिव्या'', रांगेय राघव कृत 'मुर्दों का टीला' एवं परदेशीकृत 'गौतमबुद्ध की आत्मकथा' इसी दृष्टिकोण से लिखे गये उपन्यास हैं। इन उपन्यासों में प्राचीन भारत के गणराज्यों की गौरवगाथा अंकित है तथा गणतंत्रात्मक राज्य-विधान की समस्याओं को प्रकारान्तर से उठाया गया है एवं प्रजातंत्र की परम्परा को अतीत के गौरव से अभिषिक्त किया गया है। जीवन की किसी सर्वथा नवीन व्याख्या को प्रस्तुत करनेवाला एकमात्र ऐतिहासिक उपन्यास भगवतीचरण वर्मा का उपन्यास 'चित्रलेखा' है जिसमें पाप-पुण्य की समस्या को उठाया गया है। मध्यकाल के प्रति सहज साहित्यिक आकर्षण तथा नारी-प्रतिष्ठा की भावना से प्रेरित होकर लिखे गये ऐतिहासिक उपन्यासों में हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत 'बाणभट्ट की आत्मकथा' महत्त्वपूर्ण कृति है।

उद्देश्य के आरोप के अन्तर्गत ही दृष्टि विन्दु के निर्धारण की समस्या आती है ऐतिहासिक उपन्यास की प्रकृति एवं स्वरूप-विवेचन के सन्दर्भ में जैसा कि उल्लेख किया गया

है। जब किसी घटना या घटनाओं अथवा पात्रों के देखने का कोई नवीन दृष्टि-बिन्दु अपनाया जाता है तो उनसे निर्मित कथा का सम्पूर्ण रूप ही बदल जाता है और वही घटनाएँ भिन्न रूप में अपने विभिन्न अभिप्रायों सहित सम्मुख आने लगती हैं। यदि किसी घटना अथवा पात्र अथवा कथा का सहानुभूति केन्द्र बदल जाता है तो उससे सम्बन्धित प्रत्येक बात का रूप ही कुछ अन्य हो जाता है। किसी घटना का अपराधी, घटनाग्रस्त व्यक्ति तथा नायक के दृष्टिकोण से वर्णन करना एक ही कथा को विभिन्न प्रकार से वर्णन करना मात्र नहीं, वरन् दो नयी कथाओं को प्रस्तुत करना है। जैसा कि एच० बटरफ़िल्ड ने उल्लेख किया है, ब्राउनिंग ने एक ही घटना के प्रधान उपकरणों को लेकर नौ विभिन्न प्रकार से वर्णित किया है—प्रत्येक वर्णन विभिन्न सम्बन्धित व्यक्तियों को दृष्टि-बिन्दु पर रखकर किया गया है। इस प्रकार उसने दिखाया है कि किसी भी घटना या कथा का एक भिन्न विचार-बिन्दु से पुनर्कथन वस्तुतः एक नयी कथा को कहना है।[१२] बंगला के लब्धप्रतिष्ठ उपन्यासकार राखालदास बन्दोपाध्याय का उपन्यास 'शशांक' तथा हिन्दी के प्रसिद्ध उपन्यासकार रांगेय राघव का उपन्यास 'चीवर' मूलत. एक ही घटना-क्रम को लेकर लिखे गये उपन्यास है किन्तु दृष्टि-बिन्दु में अन्तर होने से दोनों के कथासूत्र में पर्याप्त अन्तर है। 'शशांक' का नायक गौडाधिपति शशांक नरेन्द्रादित्य जहाँ धीर-वीर एवं ललित है, वहाँ 'चीवर' का प्रतिनायक शशांक क्रूर, खल तथा विलासी है। दृष्टि-बिन्दु के बदल जाने से दोनों उपन्यासों की सम्पूर्ण कथा का रूप ही अलग-अलग हो गया है।

काल तथा संस्कृति-बोध

ऐतिहासिक उपन्यास में काल तथा संस्कृति-बोध की समस्या वस्तुतः वातावरण के निर्माण तथा भाषा की समस्या है। किसी विशेष ऐतिहासिक काल की सभ्यता, रीति-रिवाज, खान-पान, वेश-भूषा, जीवन-पद्धति, रहन सहन, सामाजिक-राजनैतिक-धार्मिक स्थिति तथा उस काल के जन-जीवन का ऐतिहासिक स्वरूप ही ऐतिहासिक वातावरण है। वास्तव मे ऐतिहासिक वातावरण ही वह तत्व है जो किसी भी उपन्यास को अन्य उपन्यास-प्रकारों से अलग करके ऐतिहासिक उपन्यास के पद पर प्रतिष्ठित करता है और इतिहास की गरिमा प्रदान करता है। मात्र तिथियों के उल्लेख और ऐतिहासिक पात्रों के नाम का समावेश कर देने से ही कोई उपन्यास ऐतिहासिक नहीं बन सकता। ऐतिहासिक उपन्यास के लिए पहली शर्त है कि उसका वातावरण, उसका परिवेश, उसकी वह आधारभूमि ऐतिहासिक हो जिसमें घटनाएँ घटती हैं और पात्र विहार करते हैं। यदि किसी उपन्यास में इस शर्त को पूरा करने का लक्ष्य नहीं है तो ख्यात ऐतिहासिक घटनाओं और पात्रों के होने के बावजूद भी वह सही माने में ऐतिहासिक उपन्यास नहीं है—और चाहे जो कुछ हो। अतएव ऐतिहासिक उपन्यासकार के लिये यह अधिक आवश्यक और महत्वपूर्ण है कि वह अतीत का चित्रण, अपने समसामयिक विश्व से भिन्न रूप में करे और उस अतीत के विश्व के किसी विशिष्ट मार्ग का आलेखन तथा प्रसिद्ध जन [illegible] की किसी विशिष्ट धारा का परिमापण करने की अपेक्षा उसके सम्पूर्ण वैशिष्ट्य और रंगीनियों को प्रदर्शित करे उसके लिए सूक्ष्मता [illegible] तथा कालानुक्रम

से घटनाओं का वर्णन एवं महान् राजनैतिक घटनाओं के प्रति दृढ़ रहने की अपेक्षा अतीत युग की आत्मा की अभिव्यक्ति करने तथा उसकी विचार-सरणियों एवं जीवन-पद्धति को वास्तविक रूप में प्रस्तुत करने की बात अधिक महत्वपूर्ण है। ऐतिहासिक उपन्यासकार के लिए जो सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात है वह है संश्लेषणात्मक ढंग से युग को पकड़ना, संसार के प्रति युग की दृष्टि तथा जीवन-आस्था एवं अनुभव की विशिष्टताओं की पुनर्प्रस्तुति, अपेक्षाकृत घटित घटनाओं के पुनर्कथन के। अर्थात् किसी सुदूर अतीत काल की ओर दृष्टिपात करते समय उसे (ऐतिहासिक उपन्यासकार) विभिन्न जीवन-स्वरों और उनके सम्बन्धों को नहीं देखना चाहिये, वरन् जीवन की सम्पूर्ण स्वर-संगति को ही पकड़ने का लक्ष्य रखना चाहिये तथा उसका मूल्यांकन तथ्यों और घटनाओं की राशि के रूप में न कर एक विशिष्ट जीवन-प्रवाह या जीवन-दशा के रूप में करना चाहिये। वह घटनाओं की परिगणना कर सकता है, उनका वर्णन तथा उन पर टीका-टिप्पणी भी कर सकता है, किन्तु उसकी कला का वास्तविक रहस्य इस बात में निहित है कि वह युग की आत्मा को प्रस्तुत करने का लक्ष्य रखता है। इस प्रकार, जब वह वर्णन करने लगता है तो ज्ञात होता है कि युग स्वयं उसकी योजना में सम्मिलित है और अपने 'वातावरण' में ही अपने आपको प्रस्तुत कर रहा है।

इतिहास के विविध युगों का अपना निजी 'वातावरण' होता है; जैसे वैदिक युग, बौद्ध युग, मध्य युग, मुस्लिम काल आदि आदि, किन्तु वह इतिहास के साथ पैर मिलाकर गतिशील नहीं होता और न मात्र युग अथवा काल से ही सम्बद्ध होता है। देशों और अंचलों का भी अपना वातावरण होता है और उनमें कुछ ऐसे विशिष्ट तत्व होते हैं जो उन्हें अन्यों से अलग करते हैं; उदाहरणार्थ बुन्देलखण्ड या गुजरात अथवा स्काटलैंड या हार्डलैंड या हंगरी। बौद्धकालीन पाटलिपुत्र का वातावरण वही नहीं था जो आज की दिल्ली, बम्बई, कलकत्ता या लखनऊ का है। स्काट का कृषक समुदाय अथवा वृन्दावनलाल वर्मा का बुन्देलखण्डी जीवन अपने 'वातावरण' के साथ ही हमारे सम्मुख आता है। इसी प्रकार एक आश्रम अथवा एक कूटनीतिक परिषद् या राजदरबार का अपना निजी 'वातावरण' होता है। ये ऐसे निर्धारित क्षेत्र हैं जो मनुष्यों के जीवन को घेरते हैं और मात्र इनमें विशिष्टताएँ ही नहीं होतीं वरन् इनके अपने निज के चरित्र भी होते हैं और वे महज एक दूसरे के रूपान्तर मात्र नहीं होते। प्रत्येक क्षेत्र अपने आप में एक नवीन चित्र होता है और अपने विश्व की ओर देखने की उसकी अपनी विशिष्ट पद्धति होती है। 'वातावरण' किसी एक भू-भाग से सम्बद्ध होता है जो अपने आप में एक जीवन होता है, एक पहचान होता है और एक ऐसा विशिष्ट संश्लेषण होता है जिसकी एकरसता एक अलग विश्व का निर्माण करती है।

जीवन के ये विविध क्षेत्र—इतिहास के युग, कार्य-व्यापारों के क्षेत्र और अंचल अपने आप में एक विश्व के रूप में देखे जा सकते हैं जिनका एक अपना जीवन होता है। किन्तु वह जीवन केवल अपने परिणामों द्वारा ही अपने को व्यक्त करता है, अर्थात् वह अपने को उन व्यक्तियों के पूर्वग्रहों, विचार-पद्धतियों, प्रवृत्तियों, आदतों और बोली की विशिष्टताओं के माध्यम द्वारा व्यक्त करता है जो उस विश्व में भाग लेते हैं। और जिस प्रकार एक शिशु पढ़ना सीखते समय पहले केवल अक्षरों का उच्चारण करता है फिर सतर्कता से उन्हें शब्दों

में जोड़ता है और तब उसे धीरे-धीरे शब्दों की पूर्णता का बोध होता है, उसी प्रकार इतिहास का विद्यार्थी पहले केवल इतिहास के विच्छिन्न विवरणों और तथ्य-खण्डों को देखता है और फिर धीरे-धीरे वह एक ऐसे बिन्दु पर आता है, जहाँ से उसका मस्तिष्क एक संश्लेषण पर उछाल मारता है और एक ऐसा जीवन देखता है जो कि तथ्यों और विवरणों की विविधता का स्रोत होता है। उपन्यासकार जो सतर्कतापूर्वक इतिहास के तथ्यों को पुनर्प्रस्तुत करता है, शब्दशः उनका अनुकरण करता है तथा किसी जन-जीवन के विवरणों की यथार्थ-प्रस्तुति के लिए उनका संग्रहकर जबरदस्ती अर्थ निकालता है, वह अपने कला-विन्यास का भेद खोलने से कदापि बच नहीं सकता। किन्तु वह उपन्यास-लेखक जिसने इन सभी तथ्यो के पीछे रहने वाले सिद्धान्त को पकड़ लिया हैं, केवल पात्रों, कार्य-व्यापारों और अर्थपूर्ण कथनो को ही नहीं देखता, वरन् उन सभी के भीतर एक जीवन देखता है। उस जीवन के चित्रण के लिए वह अपने ढाँचे को त्याग भी सकता है। ऐसे उपन्यासकार के लिए इतिहास का युग सूचनाओं का समवाय मात्र नही रह जाता, अपितु एक ऐसा विश्व हो जाता है जिसको उपन्यासकार ने आत्मसात कर लिया है। उपन्यासकार द्वारा संग्रहीत और भी अधिक विवरण तथा तथ्य उस विश्व में अपना परिवेश, अपनी महत्ता तथा अपना एक सन्दर्भ बड़ी आसानी से पा सकते हैं। ये विवरण तथा तथ्य उपन्यासकार की स्वीकृति तथा उसके निर्णय को भी नियन्त्रित अथवा परिवर्तित-परिवर्धित कर सकते है, किन्तु इतिहास का वह युग उसके मस्तिष्क मे बाल्यकाल के अर्द्ध स्मृत दृश्य की भाँति स्थित रहता है। वह चाहे तो उससे अपना हाथ खींच सकता है अथवा अपनी चिन्तन-प्रक्रिया की सीमा में उसे समेटकर पुनः-पुनः उस पर तर्क-वितर्क कर एक नयी अथवा संशोधित आकृति भी गढ़ सकता है।

उपन्यासकार, जो इतिहास की अनेक शताब्दियों के अनुभवों को अपनी कल्पना में धारण करने की शक्ति रखता है और इतिहास के किसी विशिष्ट विश्व या वातावरण मे अपने आपको सहज अनुभव करता है, जो अपने आपको किसी युग की आत्मा से सम्पृक्त रखता है तथा तत्कालीन जीवन-पद्धति एवं युग वैशिष्ट्य के साक्षात्कार की क्षमता रखता है, वही उस काल में प्रचलित विचार-सरणियों तथा उनके अप्रत्याशित परिवर्तनों को पहचान सकता है और अतीत की जीवन-पद्धति एवं रीति-रिवाजों को प्रस्तुत कर सकता है; तथा तत्कालीन बोली (भाषा) की विशेषताओं में बिना प्रयास के ही प्रविष्ट हो सकता है। सीधे इतिहास की पुस्तक के विवरणों तथा तथ्यों को कथा-पुस्तक में प्रतिरोपित करने के बदले वह उस जीवन के लिए अभिव्यंजना-शैली की खोज करता है जिसको उसने अपना बना लिया है। 'वातावरण' यद्यपि मात्र स्वाभाविकता का परिणाम नहीं होता, किन्तु यह उसकी अनिवार्य आवश्यकता है जैसे विद्युत-प्रवाह के लिए 'सर्किट' का पूरा होना। सम्भवतः यह कहा जा सकता है कि वातावरण उन विवरणों के षड्यंत्र का परिणाम होता है जो खोज के सिलसिले मे हमारे अनुभवों के बीच सहज रूप में आ जाते हैं और इतिहास में किसी युग के विश्व को अधिकृत कर लेते हैं।[13] किन्हीं अर्थों में यह अतीत से सम्बन्धित है, किन्तु इसे उपन्यासकार के व्यक्तित्व से अलग नहीं किया जा सकता। ऐतिहासिक उपन्यासकार अतीत के बारे मे केवल सूचनाएँ ही प्राप्त नहीं करता वरन् उन्हें आत्मसात् भी करता है उसके में

वातावरण उसके व्यक्तित्व के उत्प्रवाह की भाँति आता है जिसने [illegible] न कर लिया है।

किन्तु प्रत्येक अवस्था में, 'वातावरण' में एक ऐसा विशिष्ट तत्त्व होता है जो अतीत से सम्बन्धित है और वह ऐसे कथाकार द्वारा जो अतीत को पुनर्निर्मित करना चाहता है, बीते युग में अध्यारोपित किया जा सकता है। उसका अतीत का अपना अनुभव, अपनी आशाएँ, भावनाएँ और महत्वाकांक्षाएँ बीते शताब्दियों में स्थानान्तरित की जा सकती है। किसी भी ऐतिहासिक उपन्यास में उपन्यासकार अतीत को केवल पुनर्प्रस्तुत ही नहीं करता, वरन् वह अपने व्यक्तित्व के किसी पक्ष अथवा विचारधारा को भी परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप में मिला देता है। और सच बात तो यह है कि उसके (अतीत) प्रति अपने दृष्टिकोण को प्रकट किये बिना वह उसका वर्णन ही नहीं कर सकता। यही बात उस इतिहासकार के लिए भी सही है जो अतीत तथा उसके वास्तविक वातावरण के पुनर्निर्माण का लक्ष्य रखता है।

जैसा कि प्रारम्भ में ही संकेत किया गया है काल तथा संस्कृति-बोध की समस्या के ही अन्तर्गत भाषा की भी समस्या आती है। 'वातावरण' के निर्माण में प्रयुक्त भाषा का भी महत्वपूर्ण योग रहता है। किसी भी भाषा और उसके व्यवहृत शब्दों में निहित एक सांस्कृतिक परिवेश होता है जो सम्बद्ध समाज की संस्कृति एवं उसकी शालीनता की ओर संकेत करता है। 'भन्ते' शब्द के उच्चारण मात्र से जैसे हम बौद्ध काल एवं बौद्ध संस्कृति में पहुँच जाते हैं वैसे ही 'आर्य' शब्द हमें हिन्दू-संस्कृति का बोध कराता है। मुस्लिम काल में प्रयुक्त होने वाली अरबी-फ़ारसी शब्दावली हमें मुस्लिम काल एवं संस्कृति का दिग्दर्शन कराती है। तो इस प्रकार भाषा का सांस्कृतिक वातावरण के निर्माण में महत्वपूर्ण योग रहता है।

यह कहने के लिए साहस चाहिये कि वातावरण की स्वाभाविकता के लिए ऐतिहासिक उपन्यास तथा उसके पात्रों की भाषा उसी काल की होनी चाहिये, जिस काल से सम्बन्धित उपन्यास हो। यह तो उसी प्रकार की बात हुई कि कोई उपन्यासकार अपने बचपन की पुनर्गणना करते समय अपने जीवन के प्रारम्भिक प्रयत्नों, अस्पष्ट उच्चारणों, बालालापों आदि को समझाने के लिए बच्चों की भाषा का प्रयोग करे। कलात्मकता तो इसमें है कि बाल्यावस्था की भावनाओं, विचारों और चिन्तनाओं को ऐसी भाषा के माध्यम से व्यक्त किया जाय कि वयस्क पाठक तत्काल समझ लें। सिद्धान्ततः ऐसा कोई विशेष कारण नहीं जिससे यह कहा जाय कि मध्यकालीन चरित्र और वातावरण आर्ष भाषा के प्रयोग से अधिक सजीव और यथार्थ चित्रित किये जा सकते हैं। इस कारण से सिद्धान्त रूप में ऐतिहासिक उपन्यासों के भाषा-विषयक माध्यम तथा समसामयिक उपन्यासों के भाषा-विषयक माध्यम में कोई अन्तर नहीं।

किन्तु जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है किसी भी भाषा के शब्दों का अपना सांस्कृतिक परिवृत होता है जो वातावरण की विशेषताओं को प्रकट करता है। प्राचीन हिन्दू-काल पर उपन्यास लिखते समय संस्कृत-प्रधान भाषा का प्रयोग ही समीचीन और संस्कृति-बोध के लिये उपयुक्त होगा। यदि कोई [illegible] बुद्ध या चाणक्य के जीवन पर उपन्यास लिख रहा हो और [illegible] गोस्वामी अथवा देवकीनन्दन खत्री द्वारा प्रयुक्त

भाषा को अपनाये जिसमें उर्दू-फ़ारसी शब्दों की बहुलता है, तो वातावरण निर्मित करने की बात तो अलग, एक अजीब हास्यास्पद स्थिति उत्पन्न हो जायगी। इसी प्रकार मुस्लिम काल से सम्बन्धित उपन्यास में क्लिष्ट, संस्कृत-प्रधान भाषा का प्रयोग, काल तथा संस्कृति-बोध में व्यवधान उपस्थित करेगा। 'आचार्य विष्णुगुप्त चाणक्य' में डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार ने सपेरे के लिए अहितुण्डक, मज़दूर के लिए कर्मकार, छावनी के लिए स्कन्धावार, क़ाफ़िले के लिये सार्थ, रसोईघर के लिए महानस आदि प्राचीन संस्कृत शब्दों का प्रयोग कर तत्कालीन वातावरण को उपस्थित करने का प्रयत्न किया है। इसी प्रकार डॉ० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' नामक अपने उपन्यास में हर्षकालीन संस्कृति एवं वातावरण की रक्षा के लिए तथा बाणभट्ट के व्यक्तित्व वैशिष्ट्य को उभारने के लिये संस्कृतप्रधान भाषा का प्रयोग किया है और सरिताओं, झीलों, दुर्गों, पर्वतों आदि तक के नाम भी प्राचीन रखे हैं।

ऐतिहासिक वातावरण को उपस्थित करने के लिए उपन्यासकार को सांस्कृतिक इतिहास का गम्भीर ज्ञान होना अपेक्षित है और किसी युग की रीति-नीति, रहन-सहन, आचार-विचार, आमोद-प्रमोद, धर्म-दर्शन, काव्य-कला आदि का सम्यक् ऐतिहासिक ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त ही उपन्यास-लेखन में प्रवृत्त होना चाहिये। पात्रों की वेश भूषा, बोल-चाल, प्रकृति और स्वभाव तथा जीवन-रीति के विभिन्न पक्षों का वर्णन करते समय युगीन मर्यादा का ध्यान रखना आवश्यक है। यदि कोई उपन्यासकार मुग़ल सम्राटों को वर्तमान वेशभूषा में चित्रित करे अथवा उनके अन्तःपुरों में आज की सजावट दिखावे तो यह वातावरण का दोष कहा जायगा। प्रत्येक युग में जन-रुचि भिन्न होती है। निवास-स्थान, उपवन, राजमार्ग, वस्त्राभूषण, पारिवारिक-सामाजिक मर्यादा, शासन-नीति आदि के युगानुरूप चित्रण से ही अनुकूल ऐतिहासिक वातावरण की सृष्टि सम्भव है। अतएव काल तथा संस्कृति-बोध के लिये इनका सूक्ष्म एवं विस्तृत ज्ञान अपेक्षित है।

इतिहास और कल्पना के बीच सन्तुलन

ऐतिहासिक उपन्यास मूलतः बुद्धि-कल्पना का ही चातुर्य है। इसमें सम्भवतः दो मत नहीं हो सकते कि ऐतिहासिक उपन्यास मुख्यतः इतिहास और कल्पना का कलात्मक समन्वय है और यही समन्वय उनके विभिन्न भेदों और कोटियों का निर्माण करता है।

इतिहास को उपन्यस्त करने के सन्दर्भ में यह समस्या भी आती है कि उसमें इतिहास और कल्पना का कैसा सामञ्जस्य रहे जिससे कृति अपनी कलात्मक संरचना में उत्कृष्ट हो सके। दूसरे शब्दों में इसे यों कह सकते हैं कि ऐतिहासिक उपन्यासकार वस्तु, पात्र और वातावरण के चुनावों में किस सीमा तक इतिहास का अनुगमन करे और कहाँ तक अपनी स्वतन्त्र कल्पना का प्रयोग करे। यह प्रश्न ऐसा है जिसके लिए कोई नियम अथवा सिद्धान्त नहीं बनाया जा सकता। वस्तुतः इतिहास और कल्पना के सामञ्जस्य की बात बहुत कुछ उस इतिहास और उसकी पृष्ठभूमि पर निर्भर है जिसको उपन्यस्त किया जाता है। यदि इतिहास की जानकारी अधिक है तो कल्पना के लिए स्थान कम रह जाता है किन्तु यदि इतिहास कम ज्ञात है तो कल्पना के प्रयोग को अधिक रहता है इतिहास और कल्पना के को

सम्बन्ध में डा० वृन्दावनलाल वर्मा का यह कथन कि "जहाँ तक मुख्य इतिहास ग्राम्य हो उसको बिना किसी हेर फेर के ज्यों का त्यों रखा जाय। जहाँ इतिहास अस्पष्ट या अप्राप्य है शृंखला मिलानी है अथवा प्रधान पात्र के चरित्र को आगे चलाने या उभारने के लिये गौण पात्रों की आवश्यकता है, वहाँ आधुनिक मानव-जीवन के जीवित पात्रों का मेल अपनी कल्पना शक्ति के सहारे मिला लेना चाहिये। समय बदल सकता है, मानव स्वभाव वही रहेगा।"[१४] अधिक संगत और उचित प्रतीत होता है। इस सन्दर्भ में उनका प्रस्तुत मन्तव्य भी द्रष्टव्य है—"इतिहास के आधार पर उपन्यास लिखने वाला भी अपना दृष्टिकोण रखता है, परन्तु वह केवल इतिहास लिखने वाले की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र है। चाहे तो केवल युद्धों की मार काट, राजनीतिक चालों की दौड़-धूप किसी प्रेम कहानी से जोड़कर उपन्यास को घटनाप्रधान कर दे; चाहे तो मनोविज्ञान के विश्लेषण की सहायता से कल्पनारचित घटनाओं को पूर्ण विश्वसनीय बना दे। परन्तु यह प्रयत्न सत्य और सुन्दर की परिधि में ही बन्द रहता है। जब तक वह शिव के क्षेत्र में कल्पना को न दौड़ाये उसका परिश्रम उतना सराहनीय नहीं हो सकता।......जिन स्थलों पर इतिहास का प्रकाश नहीं पड़ सकता है, उनका कल्पना द्वारा सृजन करके उपन्यास लेखक भूली हुई या खोई हुई सचाइयों का निर्माण करता है। उनमें वही, चमक-दमक आ जाती है जो इतिहास के जाने-माने तथ्यों में अवश्यमेव होती है, पर शर्त यह है कि उन तथ्यों या परम्पराओं को ताश के पत्तों का महल या कलब घर न बना दिया जाय।"[१५] श्री राहुल सांकृत्यायन[१६] तथा डॉ० रांगेय राघव[१७] भी सिद्धान्ततः वर्मा जी के इस मत के पोषक हैं।

इसी सन्दर्भ में यह प्रश्न भी उठता है कि क्या ऐतिहासिक उपन्यासकार को ऐतिहासिक घटनाओं, चरित्रों आदि में परिवर्तन करने की स्वतंत्रता है? कतिपय समालोचकों और उपन्यासकारों की धारणा है कि ऐतिहासिक उपन्यास प्रधानतः उपन्यास है, इतिहास नहीं। अतः उसमें इतिहास की रक्षा का प्रश्न ही नहीं उठता। इतिहास की पृष्ठभूमि में इतिहास लिखा जाता है, इतिहास होता नहीं दिखलाया जाता है। इतिहास तो परदा है, लक्ष्य तो उपन्यास लिखना है। अतः लेखक को अधिकार है कि लक्ष्य की पूर्ति के लिये वह इतिहास की घटनाओं और पात्रों में जैसा चाहे, परिवर्तन कर दे। हिन्दी में श्री चतुरसेन शास्त्री इस मत के विशेष पोषक हैं। इसके विपरीत कुछ अन्य समीक्षकों का मत है कि ऐतिहासिक उपन्यासकार को ऐतिहासिक चरित्रों और घटनाओं में परिवर्तन करने का कोई अधिकार नहीं।[१८] ऐसा करके न केवल वह ऐतिहासिक सत्य अथवा युग सत्य को नकारता है, अपितु काव्य अथवा साहित्य के सत्य को भी अस्वीकारता है और सर्वजनविदित सत्य को उल्टा करके एकदम रसभंग कर देता है।[१९] जार्ज लूकाक्स के मतानुसार एक लेखक जो इतिहास का उपयोग करता है, वह अपनी इच्छानुसार न तो ऐतिहासिक सामग्री में परिवर्तन कर सकता है और न उसमें काँट-छाँट कर सकता है। घटनाएँ अथवा घटना-धाराएँ अपना स्वाभाविक वस्तुपरक गुरुत्व तथा सापेक्ष सम्बन्ध रखती हैं और यदि कोई लेखक ऐसी सफल कथा प्रस्तुत करता है जो इन गुरुत्वों और सम्बन्धों को सही ढंग से पुनर्प्रस्तुत करती है तो मानवीय और कलात्मक सत्य ऐतिहासिक परिपार्श्व से ही उद्भूत होगा। इसके विपरीत, यदि

उसकी कहानी इन सम्बन्धों और महत्वों को गलत ढंग से प्रस्तुत करती है अथवा उनको विरूप बनाती है तो वह कलात्मक चित्र को भी विकृत कर देगी।[२०]

किसी इतिहासकार में दोष निकाला जाना सम्भव है, किन्तु ऐतिहासिक उपन्यासकार तो स्वयं ही एक शीशमहल के भीतर निवास करता है जहाँ से वह किसी बड़े पाषाणखण्ड को बाहर नहीं फेंक सकता। किसी भी कल्पनाशील कथाकार को जो अपनी कथा की पृष्ठ-भूमि के लिये इतिहास को ग्रहण करता है, यत्किंचित कार्य-स्वातंत्र्य की अनुमति तो प्रदान की जा सकती है, किन्तु ऐतिहासिक तथ्यों और घटनाओं को आवश्यक रूप से विकृत करने की अनुमति उसे नहीं दी जा सकती। कथाकार ऐतिहासिक घटनाओं एवं तथ्यों का जितना ही अनुसरण करेगा, उसकी कृति उतनी ही उत्कृष्ट होगी। ए. टी. शेपर्ड का भी कथन है कि किसी भी ऐतिहासिक उपन्यासकार को घटनाओं के कालक्रम में परिवर्तन नहीं करना चाहिए, जब तक कि उसकी कथावस्तु के लिए यह बिल्कुल अनिवार्य न हो जाय। ऐसी स्थिति उत्पन्न होने पर वह किंचित परिवर्तन (घण्टा अथवा दिन मात्र का) भी तभी कर सकता है जब स्वयं इतिहासकार भी अनिश्चित और शंकाशील हो। महान ऐतिहासिक घटनाओं और चरित्रों में परिवर्तन करने का तो उसे बिल्कुल अधिकार नहीं।[२१]

यद्यपि ऐतिहासिक उपन्यासकार को कल्पना के प्रयोग की पूरी स्वतंत्रता है, किन्तु उसकी यह कल्पना इतिहास की विरोधिनी बनकर नहीं आ सकती। ऐतिहासिक उपन्यासकार के लिए उन घटनाओं, चरित्रों तथा तथ्यों के प्रति पूर्णरूपेण सत्यनिष्ठ रहना आवश्यक है जिन्हें वह उपन्यस्त करना चाहता है। सूक्ष्म विवरणों में भी उसे यथातथ्यता को नहीं छोड़ना चाहिये। काल्पनिक प्रसंगों तथा चरित्रों की उद्‌भावना उन्हीं स्थलों पर करनी चाहिये जहाँ इतिहास मौन हो। ऐतिहासिक उपन्यास में कल्पना का प्रयोग इतिहास के पूरक रूप में ही किया जा सकता है। यदि कोई ऐतिहासिक चरित्र इतिहास द्वारा क्रूर, नृशंस और अत्याचारी सिद्ध हो चुका है तो उसको सदय, उदार और प्रजापालक रूप में चित्रित करना इतिहासविरुद्ध बात होगी। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न युगों के प्रसिद्ध ऐतिहासिक व्यक्तियों को एक ही युग के भीतर समकालीन चित्रित करना भी उचित नहीं होगा। कल्पना का उचित प्रयोग यह होगा कि किसी पात्र के चरित्र के विषय में इतिहास द्वारा जो जानकारी प्राप्त होती है, उसी को पुष्ट करने के लिये काल्पनिक प्रसंगों की उद्‌भावना की जाय। यदि इन काल्पनिक प्रसंगों से ऐतिहासिक चरित्रों के गुण-दोषों का विकास होता हो तो उनकी उद्‌भावना उचित हीं कही जायेगी, चाहे उनका उल्लेख इतिहास में कहीं नहीं भी हो तो क्या। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में लेखक ने प्रचुरता से मनोरंजक काल्पनिक प्रसंगों की अवतारणा की है। इनके द्वारा बाणभट्ट के चरित्र पर जो प्रकाश पड़ता है वह 'हर्षचरित' में वर्णित कवि के शील स्वभाव का पोषक है। किन्तु, यदि कोई वास्तविक इतिहास-प्रसिद्ध घटना उपन्यास के वृत्त में आती है तो उसके वर्णन में लेखक को ऐतिहासिक सत्यता का आधार लेना अनिवार्य है। ऐतिहासिक सत्य को विकृत करने का अधिकार लेखक को कदापि नहीं।

इतिहास को करने के सन्दर्भ में जिन समस्याओं की चर्चा ऊपर की गयी है वे ऐसी समस्याएं है जो लगभग सभी ऐतिहासिक उपन्यासकारों के सम्मुख आती है और

जिनका समाधान उन्हें अपने ढंग से करना पड़ता है । इन समस्याओं के समाधान करने का उत्कृष्ट कलात्मक ढंग ही किसी भी ऐतिहासिक उपन्यास की उत्कृष्टता का मापदण्ड है । किसी भी ऐतिहासिक उपन्यास में यदि अतीत सजीव लगे, इतिहास के पात्र और घटनाएँ अपनी विशिष्ठताओं में जीवन्त एवं गतिशील दृष्टिगत हों, कथा का आनंद उपलब्ध हो और ऐसा लगे कि युग अपनी कथा स्वयं ही कह रहा है तो यह उपन्यास की सफलता का द्योतक है ।

संदर्भ-संकेत

(१) ए० टी० शेपर्ड : द आर्ट एण्ड प्रेक्टिस आफ़ हिस्टारिकल फ़िक्शन, पृष्ठ ८५ (२) जार्ज लूकाक्स : द हिस्टारिकल नॉवेल, पृष्ठ ४२ (३) ए० टी० शेपर्ड : द आर्ट एण्ड प्रेक्टिस आफ़ हिस्टारिकल फ़िक्शन, पृष्ठ ११६ (४) वी०एम० चिन्तामणि लिखित 'ऐतिहासिक उपन्यास में कल्पना और सत्य' का भूमिका भाग (५) एच० बटरफिल्ड : द हिस्टारिकल नॉवेल, पृष्ठ ६७ (६) जार्ज सेण्टस्बरी ('द आर्ट एण्ड प्रेक्टिस आफ़ हिस्टारिकल फ़िक्शन' नामक पुस्तक के पृष्ठ १३२-३३ से उद्धृत) (७) लेस्ली स्टेफ़िन ('द आर्ट एण्ड प्रेक्टिस आफ हिस्टारिकल फिक्शन' नामक पुस्तक के पृष्ठ १३३ से उद्धृत') (८) डॉ० गोपीनाथ तिवारी की पुस्तक 'ऐतिहासिक उपन्यास और उपन्यासकार' नाम पुस्तक के पृष्ठ ७-८ से उद्धृत (९) एच० बटरफिल्ड : द हिस्टारिकल नॉवेल, पृष्ठ ६१ (१०) डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी : प्राचीन भारत का इतिहास, पृष्ठ १४५ (११) आलोचना, उपन्यास विशेषांक, अक्टूबर १९५४, पृष्ठ १७८ (१२) एच० बटरफिल्ड : द हिस्टारिकल नॉवेल, पृष्ठ ७१ (१३) वही, पृष्ठ १०६-१०७ (१४) डॉ० गोबिन्द प्रसाद शर्मा के अप्रकाशित शोध प्रबन्ध 'हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों का आलोचनात्मक अध्ययन' (नागपुर विश्वविद्यालय) के परिशिष्ट, पृ० ३४३ पर उद्धृत (१५) डॉ० वृन्दावनलाल वर्मा : नये पत्ते, जनवरी-फरवरी १९५३, पृष्ठ ४४-४५ (१६) डॉ० गोबिन्द प्रसाद शर्मा के अप्रकाशित शोध प्रबन्ध 'हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों का आलोचनात्मक अध्ययन' (नागपुर वि०वि०) के परिशिष्ट, पृ० ३४३ पर उद्धृत (१७) वही, पृ० ३४७ (१८) सी० रीव० (१९) श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर : 'साहित्य' (अनु० वंशीधर विद्यालंकार) में 'ऐतिहासिक उपन्यास' शीर्षक लेख (२०) जार्ज लूकाक्स : द हिस्टारिकल नॉवेल, पृष्ठ १९० (२१) ए. टी. शेपर्ड : द आर्ट एण्ड प्रेक्टिस आफ़ हिस्टारिकल फ़िक्शन, पृष्ठ १६०-६१.

नाथयोगी-सम्प्रदाय

• परशुराम चतुर्वेदी

नाथ-सिद्धों की परंपरा का उद्भव और विकास

नाथ-सिद्धों की परम्परा के लिये नाथयोगी-संप्रदाय, नाथ-संप्रदाय, नाथ-पंथ अथवा अन्य अनेक ऐसे शब्दों का भी प्रयोग होता आया है; किन्तु उसके उदयकाल की ओर संकेत करने वाले किन्हीं ठोस ऐतिहासिक प्रमाणों का ठीक पता नहीं चलता। इस संबंध में विचार करते समय हमारा ध्यान स्वभावतः इसकी उन अनेक शाखाओं-प्रशाखाओं की ओर भी चला जाता है जो भारतवर्ष के प्रायः प्रत्येक भाग में बिखरी पड़ी हैं, किंतु उनमें से भी किसी के इतिहास द्वारा इस विषय में कोई प्रत्यक्ष सहायता नहीं मिल पाती। कहते हैं कि उनका प्रारम्भिक संघटन, सर्वप्रथम, १२ पृथक्-पृथक् संस्थाओं के रूप में हुआ था, किन्तु ऐसा कब, किन परिस्थितियों में तथा किस रूप में हुआ था, इसका कोई सर्व-स्वीकृत विवरण उपलब्ध नहीं हो पाता, प्रत्युत, इन 'द्वादश-पंथों' का परिचय कराने वाली लगभग २० प्राप्त सूचियों के कारण हमारी कठिनाई और भी बढ़ जाती है और हम यह निश्चय नहीं कर पाते कि इनमें से किस एक को प्राचीनतम अथवा पूर्णतः विश्वसनीय ठहराया जाय। इसके सिवाय, हमें इस बात का भी कोई स्पष्ट समाधान मिलता नहीं दीखता कि ऐसे पंथों की स्थापना सर्वप्रथम १२ विभिन्न रूपों में क्यों की गई होगी। प्रो० ब्रिग्स का यह कथन कि 'गोरखटिल्ला' वाली परम्परा के अनुसार गुरु गोरखनाथ ने, अपने समय में प्रचलित १८ शैव-संप्रदायों में से ६ को तथा स्वयं प्रवर्तित १२ योगी-संप्रदायों में से भी उसी प्रकार ६ को चुनकर इन १२ की स्थापना की थी[1], हमें संतोषप्रद नहीं जान पड़ता। इसके द्वारा तो एक और भी जिज्ञासा को प्रश्रय मिलने लगता है कि फिर उक्त ३० विभिन्न संप्रदाय कौन से रहे होंगे तथा स्वयं उनकी ही स्थापना कब की गयी होगी। यदि उक्त १२ पंथों का किन्हीं गोरख-शिष्यों द्वारा प्रवर्तित किया जाना अनुमान किया जाय, उस दशा में भी हमारे लिए यह निश्चित कर पाना सरल नहीं दीखता कि फिर ऐसे लोग ही कौन-कौन रहे होंगे तथा कब-कब अथवा किस क्रमानुसार उन्होंने ऐसा संघटन किया होगा। अतएव, केवल उपर्युक्त विषयक अनुसंधान मात्र के द्वारा हमारी समस्या का कोई हल निकलता संभव नहीं जान पड़ता इसके आधार पर हमें अपने इस अनुमान को अवश्य बल मिलता है कि

ऐसे १२ पंथों की स्थापना का कार्य संभवतः नाथसिद्धों की परंपरा का प्रवर्तन हो जाने के कुछ काल पीछे ही किया गया होगा तथा यह विभिन्न पिछले व्यक्तियों हो द्वारा सम्पन्न भी हुआ होगा। फिर भी हम देखते हैं कि इस प्रकार की धारणा नाथ-पंथियों के भीतर बहुत दिनों से बद्धमूल बनी रहती आई है और प्रायः प्रत्येक वर्तमान शाखा वा प्रशाखा ने अपने को किसी न किसी द्वादश पंथी संस्था के साथ संबद्ध बतलाने की चेष्टा की है जिसके कारण इसका महत्व कम नहीं है और यह प्रश्न हमारा ध्यान उपर्युक्त उदय-काल का निर्णय करते समय उसे अधिक से अधिक पहले ले जाने की ओर ही आकृष्ट करता है।

नाथसिद्धों की परंपरा के उद्भव एवं विकास पर विचार करते समय हमें स्वभावतः नवनाथों से सम्बद्ध उस कल्पना का भी स्मरण हो आता है जिसका परिचय प्रायः उनके नामों की विभिन्न तालिकाओं के द्वारा दिया गया मिलता है। ऐसी सूचियों की भी संख्या कदाचित् ३० से अधिक होगी और उनमें या तो किन्हीं विशिष्ट नवनाथों का नाम-निर्देश कर दिया गया मिलेगा अथवा उनके अन्तर्गत इन्हें विभिन्न रूपों में प्रदर्शन करने की चेष्टा की गई पायी जायगी जिसके आधार पर हमें बोध हो सके कि वे प्रमुख प्रवर्त्तक रह चुके होंगे। इसलिए, यदि उनके द्वारा हमें ऐसे नव-नाथों के विषय में कुछ ठीक-ठीक पता चल सके, तो हमारे लिए उनका महत्व भी कुछ कम नहीं हो सकता। परन्तु यदि हम ऐसी समस्त उपलब्धसूचियों पर भी विचार करते हैं तो हमें अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ जाता है। सर्वप्रथम, हमें ऐसा लगता है कि उक्त सूचियों में से कुछ तो सांप्रदायिक मानी जा सकती है, कुछ अन्य संप्रदायों द्वारा प्रभावित हो सकती हैं तथा शेष इस प्रकार की है जो अधिकतर तंत्रग्रंथों में पायी जाती हैं तथा जिनमें नवनाथों का कोई स्पष्टीकरण तक नहीं मिलता। इसके सिवाय जिन सारे स्रोतों के अनुसार ऐसी सूचियाँ दी गई दीख पड़ती हैं उन सभी के स्वयं अपने निर्माण काल का ही कुछ पता नहीं है। इनमें से 'कदली मञ्जुनाथ माहात्म्य' नामक एक ग्रन्थ का लेखन-काल "१६५२ कलि संवत्सर" दिया गया दीख पड़ता है[२] जिसके आधार पर गणना करने पर वह समय सन् ई० पू० १४४८-९ ठहरता है जो इतने प्राचीन-काल की ओर इंगित करता है जिसके अनुसार हमें उसमें आये हुए नामों में से कम से कम गोरखनाथ, मीननाथ, कंथड़िनाथ, चौरंगीनाथ एवं जालंधर नाथ को प्रायः प्रागैतिहासिक पुरुष जैसे मान लेने की प्रवृत्ति होने लगती है जो ठेठ ऐतिहासिक दृष्टि के अनुसार कभी तर्क-संगत नहीं हो सकती। शेष में से कोई भी ग्रन्थ ११वी ईसवी शती के उपर का नहीं है। ऐसी दशा में यदि हम कम से कम 'नवनाथ' विषयक धारणा का भी सही काल-निर्णय नहीं कर पाते, तो उनके द्वारा सूचित किये गये नवनाथों का समुचित परिचय किस प्रकार दे सकते है? पता चलता है कि महानुभाव कवि दामोदर (सन् १२७२ ई०) ने "नव नाथ कहे सौ नाथ पंथी" जैसा कथन किया था।[३] 'गोरखबानी' में संगृहीत रचनाओं में से भी एक में "नौ नाथ नै चौरासी सिद्धा" जैसा कोई वाक्यांश मिलता है।[४] इन वाक्यांशों से इस विषय पर कुछ प्रकाश पड़ता है, किन्तु केवल इतना ही यथेष्ट नहीं है। सारांश यह कि नवनाथों की कल्पना भी पहले पहल संभवत चौरासी सिद्धों की जैसी ही की गई जान पड़ता है हो सकता है कि इस प्रकार की धारणा सर्वप्रथम तान्त्रिक ग्रंथों के पश्चात विभिन्न शक्तियों अथवा

भौतिक पदार्थों के रूप में बना ली गई हो और फिर उनसे प्रेरणा ग्रहण कर इन्हें नवनाथ मे परिणत करना तथा इस प्रकार समय-समय पर ऐसे नामों में परिवर्तन का होता जाना भी आरम्भ हो गया हो। हमारे लिए ऐसी सूचियाँ भी सहायक नहीं सिद्ध होती।

इस संबंध में यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि नाथसिद्धों में से गुरु गोरखनाथ एवं मत्स्येन्द्रनाथ के नाम सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं तथा इनमें से प्रथम को द्वितीय के शिष्यरूप मे एव निर्विवाद तथ्य की भाँति स्वीकार कर लिया जाता है। इस कारण, यदि इनमें से किसी भी एक का समय निर्धारित किया जा सके, तो उक्त प्रकार के निर्णय पर पहुँचने में बहुत सहायता मिलने की आशा की जा सकती है। तदनुसार हम इन दोनों नाथ-सिद्धों के आविर्भावकाल पर भी संक्षेप में विचार कर सकते हैं। जहाँ तक मत्स्येन्द्रनाथ के उत्पन्न होने की बात है, उनका, विभिन्न पुराणों में दी गई कथाओं के आधार पर, 'पद्मकल्प' के समय अस्तित्व मे आना अनुमान किया गया है[५] जो प्रत्यक्षत: प्रागैतिहासिक तथ्य सा लगता है तथा इसी प्रकार गुरु गोरखनाथ का जो जन्म-काल कार्तिक शुक्ल १३ के रूप में और बिना किसी सवत् विशेष की ओर लक्ष्य करते हुए दिया गया मिलता है[६], वह अधूरा सा भी लगता है। 'योगिसम्प्रदाय विष्कृति' में आया हुआ यह प्रसंग भी कि मत्स्येन्द्रनाथ ने अपने शिष्य गोरखनाथ को युधिष्ठिर सं० १९३९ (अर्थात् लगभग ११६२ ई० पू०) में अपना कार्यभार सौंपा था और वे तत्पश्चात् गिरनार पर्वत पर जाकर समाधिलीन हो गए थे[७], किन्हीं अन्य प्रमाणों के अभाव में उतना महत्त्व नहीं रखता। इसके विपरीत, जहाँ तक साहित्यिक प्रसंगों तथा ऐतिहासिक उल्लेखों वा संकेतों के आधार पर कहा जा सकता है कि इनसे केवल इतना ही परिणाम निकल पाता है कि ऐसे समय तक ये लोग अवश्य रह चुके होंगे अर्थात् इनका 'अविर्भाव काल' १० वीं अथवा ९ वीं शती तक ही जा सकता है और, अंत में केवल ऐसी सामग्रियाँ ही शेष रह जाती हैं जो अधिकतर अनुश्रुतियों, दंतकथाओं वा लोकगाथाओं पर अवलम्बित हैं तथा इनके आधार पर उनका ८वीं अथवा ७वीं से लेकर ५वीं शती तक के भीतर कभी वर्तमान रहना कहला सकता है। परन्तु ऐसी दशा में यह भी स्मरण रखने योग्य है कि ५वीं से लेकर ८वीं के भीतर गुरु गोरखनाथ को लाने पर अनेक पूर्वप्रचलित मान्यताओं के प्रति हमें न्यूनाधिक अनास्था भी प्रकट करनी पड़ सकती है। उदाहरण के लिए, इनकी जिन संस्कृत-रचनाओं के ऊपर हम स्वामी शंकराचार्य के अद्वैतवाद का प्रभाव मानते हैं, उनके संबंध में हमें अपनी धारणा बदलनी पड़ सकती है तथा इनकी विचारधारा के विषय में कुछ अन्य प्रकार की कल्पना करनी पड़ सकती है और इसी प्रकार, जिन हिन्दी रचनाओं के लिए हम इन्हें बराबर श्रेय देते आये हैं, उनकी भाषा आदि के रूपों पर भी नये ढग से विचार करना पड़ सकता है अथवा उनके गोरखरचित होने में पूरा संदेह तक भी किया जा सकता है। अतएव, ऐसी किसी भी दशा में हमें उपर्युक्त उद्भवकाल का निर्णय करते समय यथेष्ट सहायता नहीं मिल पाती।

गुरु गोरखनाथ के लिए कहा जाता है (और इसमें कोई संदेह करने की हमे आवश्यकता भी नहीं प्रतीत होती) कि वे एक बहुत बड़े सुधारवादी थे तथा उन्होंने अपने आविर्भाव-काल में प्रचलित अनेक दोषो का निराकरण करने के उद्देश्य से अत्यन्त महत्वपूर्ण

प्रयत्न किये थे। तदनुसार ऐसा समझा जाता है कि न केवल उन्होंने बौद्ध धर्मावलम्बी बज्रयानी सिद्धों द्वारा अनुमोदित साधनाओं के बदले अपने कायासाधना-प्रधान संयत जीवन के आदर्श को ही प्रतिष्ठित किया, अपितु विविध तांत्रिक शैव संप्रदायों के भीतर लक्षित होनेवाली अनेक विडम्बनाओं की निःसारता सिद्ध करते हुए उनमें आने देने की कोई समन्वयात्मक चेतना जागृत करने में भी कमी नहीं आने दी। बहुत सी ऐसी त्रुटियाँ तो दो-चार शतियों पूर्व से भी दीखती आ रही थी, किन्तु संभवतः ९वीं से लेकर १०वीं शती तक उनका रूप और भी विकृत होने लग गया था। इस बात की ओर सिद्ध सरहपा जैसे सहजयानियों तक का ध्यान आकृष्ट हो चुका था और तदनुसार, इसी अवसर पर इन्होंने एक ऐसे संगठन की नींव डाली जिसने तत्कालीन धार्मिक समाज के भीतर कायाकल्प सा ला दिया तथा उसके द्वारा प्रायः सभी न्यूनाधिक प्रभावित होते जान पड़ने लगे। एक ओर जहाँ इन्होंने विविध वामाचारी साधनाओं को निर्मूल कर देने में अपना हाथ लगाया, वहाँ दूसरी ओर भारतीय धार्मिक जीवन के शुद्धीकरण को भी अपना लक्ष्य बना लिया।[८] जिस प्रकार की योग-साधना-प्रणाली को इन्होंने अपनी ओर से प्रश्रय प्रदान किया, वह वहाँ के लिये कुछ नवीन न थी। वास्तव में इन्होंने एक ऐसी पुरानी परम्परा को ही किंचित नया रूप दे डाला जो कदाचित् कभी द्वितीय शती में भी प्रचलित रह चुकी थी।[९] कहा तो यहाँ तक जाता है कि इस प्रकार का शैव-धर्म जिसके अनुयायियों के भीतर कठोर साधना एवं संयत जीवन के प्रति आकर्षण रहा, ईसापूर्व की द्वितीय शती वाले महर्षि पतंजलि के पूर्ववर्ती युग में भी वर्तमान था।[१०] इस प्रकार इन्होंने वस्तुतः एक प्राचीन किन्तु गुप्त-प्राय विधान को ही पुनरुज्जीवित किया।[११] इन्होंने उसे अपने प्रयासों द्वारा अधिक लोकप्रिय बना दिया जिसका एक परिणाम इस रूप में भी देखा गया कि इसकी ओर क्रमशः कौल, कापालिक, रसेश्वर, पाशुपत जैसे विभिन्न शैव-संप्रदायों के लोग उन्मुख होते चले गये। इस प्रकार हमें तो ऐसा लगता है कि यदि नाथसिद्धों की परम्परा वाले प्रमुख लोगों तक के विषय में अनुसंधान किया जाय, तो संभवतः यह स्पष्ट हो जाते अधिक देर न लगे कि उनमें से कई की साधना-पद्धति का रूप मूलतः वैसी ही सांप्रदायिक साधनाओं जैसा रह चुका था, किंतु वे पीछे गुरु गोरखनाथ के प्रभाव में आ गये। सारांश यह कि नाथ-सिद्धों की साधना-पद्धति बहुत कुछ प्राचीन थी और तदनुसार उनकी परंपरा का उदय भी गुरु गोरखनाथ से कहीं पहले ही हो चुका होगा, किंतु इन्होंने ही कदाचित् इसे सर्वप्रथम सुव्यवस्थित रूप दिया तथा इनके ही द्वारा इसका विशेष प्रचार भी हुआ।

गुरु गोरखनाथ को 'सिद्ध योगी' अथवा 'परमोयोगी' कहने पर कभी कोई मतभेद प्रकट किया जाता नहीं दीख पड़ता, किंतु इस बात के विषय में कि वे मूलतः बौद्ध धर्म के अनुयायी रहे होंगे अथवा उनका संबंध किसी न किसी शैव-संप्रदाय के साथ रहा होगा, प्रायः एक मत नहीं हो पाता। बौद्धों की तिब्बती परंपरा के अनुसार वे पहले एक बौद्ध तांत्रिक रहे और पीछे शैव हो गए तथा इसी के अनुसार उनका कोई पूर्ण नाम भी 'अनंगवज्र' जैसा बतलाया जाता है और इस प्रकार की बातों के ही आधार पर 'नाथपंथ चौरासी सिद्धों से ही निकला है' जैसा स्पष्ट कथन तक भी कर दिया जाता है[१२] उनके गुरु के लिए यह

अवश्य स्वीकार किया जाता है कि उनका संबंध शैव संप्रदाय की कौल शाखा के साथ रहा और वे उसके प्रमुख आचार्यों तक में भी गिने जाते है, किंतु जब उन्हें सिद्ध लुईपा से अभिन्न माना जाने लगता है[13] तो वहाँ उनके मूलत: बौद्ध होने की ही संभावना बढ़ जाती है। नैपाल देश के अन्तर्गत तो उन्होंने स्वयं अवलोकितेश्वर तक के रूप में स्वीकार कर लिये जाने की एक जनश्रुति प्रसिद्ध रहती आई है। परंतु फिर भी उनके जन्म का एक विशिष्ट प्रकार से होना तथा उनके प्रति प्रसिद्ध शैवागमाचार्य अभिनवगुप्त द्वारा 'मछन्दविभु' के रूप में वन्द्य होना भी बहुत स्पष्ट है।[14] इसके सिवाय, जहाँ तक अभी पता चल सका है, इन दोनों अर्थात् मत्स्येन्द्रनाथ एवं गोरखनाथ द्वारा रचे गये किसी बौद्ध साहित्य का भी अस्तित्व नही है। ऐसी दशा में अधिक संभावना हमें इस बात की ही जान पड़ती है कि ये दोनों ही किसी न किसी रूप में बराबर शैव रहे होंगे। ये दोनों महापुरुष आज तक अनेक स्थानों पर स्वयं शिव के रूप मे पूजे जाते हैं तथा गुरु गोरखनाथ की गणना तो पाशुपत संप्रदाय के 'पंचायतन' की चर्चा करते समय भी की जाती है[15] जिसके कारण इस संबंध में कोई संदेह करना आवश्यक नही रह जाता। इस विषय में उपर्युक्त मतभेद वाले प्रश्न के उठने का यदि कोई कारण ढूँढ़ा जाय तो वह कदाचित् इस बात से अधिक भिन्न न होगा कि जिस युग की परिस्थितियों पर हम विचार कर रहे है, वह प्रधानत: किसी विचित्र तांत्रिक वातावरण का था जिसके द्वारा सभी प्रचलित धर्म वा संप्रदाय प्रभावित जान पड़ते थे तथा उन सबके भीतर स्वभावत: ऐसी अनेक सामान्य बातें भी आ जाती थीं जिनके कारण किसी एक को दूसरे से पृथक् करके देख पाना सरल नहीं था; फलत: बहुत से भ्रम अधिकतर इन्हीं बातों पर सजग होकर विचार न करने के कारण उत्पन्न हो जाते रहे होंगे। अनुभवी गुरु गोरखनाथ की पैनी दृष्टि को इस प्रकार की गौण बातों को परखने तथा उनका त्याग करने और इसके साथ ही मुख्य बातों को स्वीकार कर उनके अनुसार निर्णय कर डालने में संभवत: अधिक विलम्ब नही लगा होगा। इसी के आधार पर उन्होंने अपना उपर्युक्त सुधार-कार्य भी किया होगा।

गुरु गोरखनाथ ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए कार्य करना कब आरंभ किया तथा किस समय वे इसमें सफल हुए, इसका कोई ऐतिहासिक विवरण हमें उपलब्ध नहीं है और न आज तक ऐसी कोई प्रामाणिक सामग्री ही मिल सकी है जिसके आधार पर इस संबंध मे निश्चित अनुमान किया जा सके। फिर भी इतना कहा जा सकता है कि इसके लिए उन्होंने न केवल अपने वरिष्ठ समसामयिक महापुरुषों से ही, अपितु ऐसे अपने पूर्ववर्ती लोगों की कतिपय कृतियों से भी कुछ न कुछ प्रेरणा अवश्य ग्रहण की होगी तथा इसमें उन्हें अपने अन्य सहधर्मियों का न्यूनाधिक सहयोग भी मिला होगा। इस संबंध में हमारे सामने कुछ ऐसे नाथसिद्धों के नाम प्रस्तुत किये जा सकते हैं तथा स्वयं इनके द्वारा किये गये कतिपय चमत्कारपूर्ण प्रयत्नो का पौराणिक वर्णन भी मिल सकता है, किन्तु उन्हें ठीक उसी रूप में स्वीकार कर लेना हमारे लिए संभव नहीं प्रतीत होता। फिर भी, इतना स्पष्ट है कि पंथ के प्रचार एवं विस्तार वाले क्षेत्र की वर्तमान सीमा, उसके भीतर प्रतिष्ठित की गई विभिन्न संस्थाएँ, नाथसिद्धों की परम्परा वाले प्रमुख महात्माओं की बड़ी संख्या, उनके द्वारा रचे गये विविध ग्रंथों में निहित सद्विचार एव सदुपदेश तथा उनसे प्रभावित साहित्य एवं समाज की विशालता आदि ऐसी बातें

है जिनके आधार पर इनके लिए कभी किये गए दीर्घकालीन और अनवरत श्रम का ही कल्पना की जा सकती है इसके सिवाय जसा इनके पहले भी कहा जा चुका है इस परम्परा का उद्भव सर्वप्रथम, प्राचीन सामाजिक आदर्शों को सामने रखते हुए उनके प्रकाश में अपनी जीवन-पद्धति का पुनः संस्कार करने और उसे नया रूप देकर आगे बढ़ाने का ढंग का ही हुआ था जिसे गुरु गोरखनाथ तथा उनके समसामयिकों ने अस्तित्व में लाया था और उनके अनेक परवर्ती शिष्य-प्रशिष्यों ने भी उसे बहुत कुछ उसी प्रकार संभाला था। परन्तु जब आगे चल कर यहाँ पर भक्ति-आन्दोलन का वातावरण बन गया, तब इसके साथ कुछ न कुछ भक्तिसाधना को भी महत्व दिया जाने लगा तथा अन्त में जब गुरु गोरखनाथ, मत्स्येन्द्र नाथ जैसे कई नाथसिद्धों को अतिमानवत्व अथवा देवत्व तक भी प्रदान कर दिया गया, इस पथ के अनुयायियों तथा साधारण हिन्दू-जनता के बीच कोई स्पष्ट अंतर नहीं रह गया और सभी कोई प्रायः एक ही विशाल जनसमाज के अंगवत् प्रतीत होने लग गये। यदि इसके लिए हम कोई समय निर्धारित करना चाहें अथवा इसके विकास-क्रमानुसार किन्हीं युगों की कल्पना भी कर लें, तो स्थूल रूप में कह सकते हैं कि आरम्भ काल से लेकर ईसा की १२वीं शती तक इसका प्रारम्भिक युग रहा होगा, १३वीं से लेकर संभवतः १७वीं तक इसका कोई द्वितीय युग अथवा मध्ययुग चला होगा जबकि इसके भीतर क्रमशः भक्ति-साधना को भी स्थान मिलता गया होगा तथा १८वीं शती से इसके तृतीय युग का आरम्भ हो गया होगा जब से इसकी प्रमुख विशेषताएं उतनी महत्वपूर्ण न जान पड़ने लगी होंगी तथा इसमें सांप्रदायिकता तक भी आने लगी होगी। इस प्रकार, वास्तव में इसके प्रथम युग को ही इसके 'स्वर्ण युग' का भी नाम दिया जा सकता है तथा शेष दोनों को उसके न्यूनाधिक प्रभावानुसार ही स्मरण किया जा सकता है।

प्रारम्भिक युगीन कतिपय प्रमुख नाथ-सिद्ध

जिस प्रकार नाथसिद्धों की परम्परा के उदयकाल का ठीक-ठीक परिचय नहीं दिया जा सकता, उसी प्रकार यह भी बतलाना कठिन है कि उसके अंतर्गत किस निश्चित समय के भीतर उनमें से किसका आविर्भाव हुआ होगा। इस सम्बन्ध में केवल इतना मात्र एक निर्विवाद सत्य के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है कि इसके सर्वप्रमुख प्रवर्त्तक गुरु गोरखनाथ के गुरु मत्स्येन्द्रनाथ रहे जिनके एक अन्य शिष्य चौरंगीनाथ भी थे और उनके एक समसामयिक जालंधरनाथ भी थे। इसी प्रकार इस जालंधरनाथ के भी एक शिष्य कानिकनाथ एवं दूसरे गोपीचंद बतलाये जाते हैं जिनके मामा भर्तृहरि थे और इसी प्रसंग में, इनकी माता मयनावती का भी नाम लिया जाता है। तदनुसार ये सभी कोई गुरु गोरखनाथ के न्यूनाधिक समकालीन जैसे लगते हैं और यदि इस बात का भी संभव होना मान लिया जाय (जिस विषय में मतभेद भी अधिक नहीं दीख पड़ता) कि उनके एक प्रसिद्ध शिष्य चर्पटनाथ रहे तथा, इसी प्रकार उनके एक अन्य समकालीन पुरुष कंथड़िनाथ थे तथा एक दूसरे नागार्जुन भी थे जिनके शिष्य करोरी थे, तो ऐसे लोगों की संख्या (जो इस प्रकार लगभग दो-ढाई सौ वर्षों के ही भीतर हो चुके होंगे तथा जिनके नाम पुराने नाथसिद्धों में भी गिने जाते हैं) एक

दर्जन तक भी पहुँच जाती है। यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि यदि हम इस परम्परा वाले प्रसिद्ध नवनाथो की अभी तक उपलब्ध लगभग बीस सूचियों का तुलनात्मक अध्ययन करते है, तो उसके फलस्वरूप भी हमारे सामने इनमें से कम से कम मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ, जालंधरनाथ, चौरंगीनाथ, कानिकनाथ, कणेरीनाथ, चर्पटीनाथ, कंथड़िनाथ एवं गोपीचंद के ही नामों को अपेक्षाकृत अधिक महत्व दिया गया मिलता है। इसके सिवाय, यदि हम कम से कम इन नव नाथों के भी अपने-अपने प्रारम्भिक मतों पर एक साथ दृष्टिपात करते है तो हमे ऐसा लगता है कि इनमें नाथसिद्ध हो जाने के पूर्व कुछ न कुछ पारस्परिक भिन्नता अवश्य रह चुकी थी जो पीछे सम्भवत: बहुत कुछ दूर भी हो गई। उदाहरण के लिए इनमें से मत्स्येन्द्रनाथ मूलत: कौल थे, जालंधरनाथ कापाली व कापालिक थे, चर्पटीनाथ का सम्बन्ध रसेश्वर संप्रदाय के साथ रहा, कंथड़िनाथ किसी वैराग्यप्रधान मत के अनुयायी थे, गोरखनाथ पाशुपत संप्रदाय वालों के अधिक निकट थे, आदि। परन्तु जिस आदर्श एवं साधना-पद्धति की रूपरेखा गोरखनाथ की ओर से प्रस्तुत की गई, उसका समर्थन और अनुमोदन किसी न किसी रूप में अन्य सभी की ओर से प्राय: एक समान होता चला गया जिसके कारण उसके प्रचार मे यथेष्ट बल मिला तथा उसका आगे भी स्वागत किया गया।

गुरु गोरखनाथ ने श्री मत्स्येन्द्रनाथ को अपना गुरु स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है। मत्स्येन्द्रनाथ के गुरु आदिनाथ अथवा स्वयं शिव समझे जाते हैं। इन मत्स्येन्द्रनाथ के सिद्धनाथ, मंजुनाथ आदि अनेक नाम भी बतलाये जाते हैं और इन्हें अधिकतर मीननाथ से अभिन्न तक मान लिया जाता है। कुछ पौराणिक उल्लेखों के अनुसार, इनके गंडांत योग मे जन्मग्रहण करने के कारण इनके पिता ने पुष्कर द्वीप के समुद्र में फेंक दिया था, जहाँ इन्हे कोई मत्स्य निगल गया और अंत में, उसके पेट से निकल कर ये शिव-पार्वती द्वारा पुत्रवत्-लालित पालित हुए। इनका फिर शिव से दीक्षित होकर साधना करना तथा विभिन्न स्थलो मे भ्रमण करना और नेपाल की यात्रा करना भी प्रसिद्ध है।[१६] नेपाल में इनका पूर्व की ओर (संभवत: कामरूप) से आना बतलाया जाता है जहाँ पर इन्होंने अपने योगिनी कौल मार्ग का प्रवर्त्तन एवं प्रचार किया था। वहीं पर कहीं इनके कदलीबन में रह कर वहाँ की सुन्दरियो के साथ विलास में निरत हो जाने तथा वहाँ से अंत में अपने शिष्य गोरखनाथ द्वारा सचेत कर के हटा लिये जाने की कथा भी प्रसिद्ध है जिसकी चर्चा अनेक स्थलों पर की गई मिलती है। परन्तु कदाचित् इस कदलीवन का प्रसंग अन्यत्र इस प्रकार आता है जिससे उसका दक्षिण वाले सह्याद्रि पर्वत के अध:स्थल में स्थित होना भी जान पड़ता है।[१७] वहाँ पर मत्स्येन्द्रनाथ एव गोरखनाथ के अतिरिक्त चौरंगीनाथ एवं जालंधर नाथ आदि के भी जाने का पता चलता है। इसके सिवाय मत्स्येन्द्रनाथ की स्मरण शक्ति के उक्त प्रकार खो जाने तथा उसके गोरखनाथ द्वारा संकेत पाकर पुन: उद्दीप्त हो उठने की कथा का संबंध कभी-कभी लंका के साथ भी जोड़ा गया मिलता है जिसका उल्लेख करते हुए एक विदेशी विद्वान् ने ऐसी घटना का हो जाना मनोविज्ञान के अनुसार प्रमाणित माना है।[१८] इन मत्स्येन्द्रनाथ के ही लिए कहा गया है कि इन्होंने 'कौलज्ञान निर्णय' नामक प्रसिद्ध ग्रंथ की रचना की थी तथा इसके सपादक डॉ० बागची ने यह भी किया है कि ये सभवत सिद्ध लुईपा से अभिन्न

भी रहे होंगे अकुलबीर तंत्र जैसे इनके समझे जानेवाले एक ... से ना इनका सिद्धनाथ एवं मीननाथ कहलाना भी प्रमाणित किया जा सकता है। फिर किसी 'रत्नाकर जोयम कथा' नामक रचना में इन्हें मीननाथ का पुत्र एवं जाति से मछुवा भी कहा गया है और इनके गुरु का नाम चर्पटीनाथ बतलाया गया है।[२०] इस प्रकार का मतभेद केवल यह सूचित करता है कि इनका हमें आज तक कोई ऐतिहासिक परिचय नहीं मिल पाया है जो सर्वसम्मत माना जा सके। ऐसी दशा में इनका कौल संप्रदाय का एक महान् पुरुष तथा उसकी 'योगिनी कौल' शाखा के एक प्रवर्तक मात्र मान लेना ही पर्याप्त हो सकता है।

जालंधर नाथ को, उनके द्वारा रचित समझे जानेवाले किसी 'विमुक्त मंजरी' नामक ग्रंथ के भोटिया अनुवाद के आधार पर आदिनाथ कहा गया है तथा इससे यहाँ तक भी परिणाम निकाल लिया गया दीखता है कि नाथपंथ की परंपरा में भी 'आदिनाथ' से इन्हीं से मतलब है।[२१] परन्तु ऐसे कथन के लिए अन्य अधिक पुष्ट एवं विश्वसनीय प्रमाणों की भी आवश्यकता जान पड़ती है, क्योंकि वहाँ पर प्रायः सर्वत्र आदिनाथ शिव ही स्वीकृत दीखता है। 'भारद्वाज संहिता' वाले अंश' श्री कदली मंजुनाथ माहात्म्य' के अनुसार तो कहा गया मिलता है कि महाप्रलय के अंत में स्वयं 'कदलीश्वर' ने समस्त विश्व को अपने भीतर विलीन करके अनंत जलराशि में शयन किया था जिसके कारण वे जलन्धर कहला कर प्रसिद्ध हुए। वे स्वयं मंजुनाथ महादेव थे[२२] जिन्हें ही अन्यत्र मत्स्येंद्रनाथ भी मान लिया गया प्रतीत होता है।[२३] कहते हैं कि ये जलन्धरनाथ ही वे बालनाथ अथवा बालपाद भी हैं जिनकी चर्चा तिब्बती साहित्य में पायी जाती है। ये मूलतः जाति के शूद्र एवं धर्म से बौद्ध बतलाये गये हैं और इनके लिए यह भी कहा गया है कि बंगाल के अंतर्गत ये ही 'हाड़ीपा' कहला कर भी प्रसिद्ध थे। 'निरंजन पुराण' में इनका कुछ वृतान्त दिया गया मिलता है और इनके लिये यह भी कहा जाता है कि इनका व्यक्तित्व गुरु गोरखनाथ से भी अधिक प्रभावशाली रहा। इनके अनेक शिष्यों के भी नाम लिये जाते हैं जिनमें राजा गोपीचंद, राजा भर्तृहरि, गोगा चौहान, चर्पटनाथ एवं रानी मयनावती की चर्चा की जाती है। इनके प्रसिद्ध शिष्य कण्ह वा कानिफनाथ के लिए कहते हैं कि वह जन्म से ही मूक वा गूँगा रहा, किन्तु इनकी कृपा से वह एक प्रतिभाशाली कवि तक बन गया। उसकी अनेक रचनाएँ कण्हपा के नाम से प्रकाशित भी हो चुकी हैं। कण्हपा ने इनके अपना गुरु होने की ओर एक स्थल पर संकेत किया है।[२४] तथा स्वयं अपना 'कपाली योगी' व कापालिक होना भी स्वीकार किया है।[२५] जलंधरनाथ का भी मूल संबंध कापालिकों के ही संप्रदाय के साथ जोड़ा जाता है जो इस बात का सूचक हो सकता है कि इन्होंने नाथमत पीछे स्वीकार किया होगा। राजस्थान एवं पश्चिमी भारत के धार्मिक इतिहास से हमें ऐसा लगता है कि इनका प्रभाव उधर गोरखनाथ से कम न रहा होगा। संभवतः इन्हीं के नाम पर जालंधरनाथ, जालंधर पीठ एवं जालंधर जैसे नगर आदि प्रचलित हुए हैं। कहते है कि हाड़ीपा के रूप में इन्होंने राजा गोपीचन्द की माता मयनावती को प्रभावित किया था जिन्होंने अंत में अपने पुत्र द्वारा भी इनका शिष्यत्व स्वीकार कराया। इनकी एक रचना का उदाहरण राहुल जी ने दिया है,[२६] किन्तु उससे इनके नाथमतवादी होने का कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता। इनकी एक सबदी अन्यत्र

भी संगृहीत है जिसमें गोपीचंद की ओर से इन्हें स्वामी वा सद्गुरु कहा गया दीख पड़ता है।[२७]

यहाँ पर इसके अतिरिक्त स्वयं गोपीचन्द के नाम से भी रचनाएँ संगृहीत हैं जिनमे से प्रथम के अन्तर्गत 'गुरु हमारे गोरख बोलिये चरपट है गुरु भाई' जैसा कथन भी पाया जाता है और इसके अंत में 'जलंध्रीपाद हाथि दे डीवी गोपीचन्द पंदाया जी' मिलता है जिससे इस सम्बन्ध में कुछ भ्रम भी उत्पन्न हो सकता है।[२८]

चौरंगीनाथ का मूल नाम 'पूरन भगत' बतलाया जाता है और इनके अन्य नामों में 'ग्यानसरुप,' 'पुरखसिंह' आदि भी प्रसिद्ध है। कहा जाता है, ये किसी सालिवाहन नामक राजा के लड़के थे और इनके एक भाई का नाम रसालू भी था। इन्हें स्यालकोट से संबद्ध किया जाता है, किंतु कुछ लेखकों ने इनका किसी पूर्वीय प्रांतवाले क्षेत्र का होना भी अनुमान किया है। तिब्बती परंपरानुसार ये मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य एवं गोरखनाथ के गुरु भाई समझे जाते हैं और कहा जाता है कि इनकी विमाता के कहने पर इनके हाथ पैर काट लिये गए थे। इनकी रचना समझी जाने वाली 'प्राण संगली' में भी इस बात की स्पष्ट चर्चा की गई दीख पड़ती है।[२९] गोरखनाथ के ग्रन्थ 'अमरौघ प्रबोध' से पता चलता है कि ये इनसे बड़े अथवा कम से कम उनके लिए नमस्कार योग्य तो अवश्य रहे होंगे, क्योंकि उक्त रचना के प्रारम्भ में ही आदिनाथ एवं मीननाथ (संभवतः मत्स्येन्द्रनाथ) को नमस्कार करके फिर इन 'सिद्ध बुद्ध' एवं 'धीमान' को भी प्रणाम किया गया है।[३०] इनके जीवन की कहानी भी राजा गोपीचंद्र एवं भरथरी (भर्तृहरि) आदि सम्बन्धी कथाओं की भाँति लोकगाथा का रूप ग्रहण कर चुकी है जिसके कारण इनका ऐतिहासिक परिचय देते समय बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। इनके किन्हीं ऐसे शिष्य-प्रशिष्यादि का भी पता नहीं चलता जिसके सहारे इनके विषय में कुछ ठोस तथ्यों के संकलन का प्रयास किया जा सके। परन्तु इतना प्रायः निश्चित सा जान पड़ता है कि नाथसिद्धों की परम्परा में इन्हें एक उच्च स्थान प्राप्त है। ये उनके उन चार गुरुओं में से एक माने जाते हैं जिनमें जालन्धरनाथ का नाम नहीं आता और गोरखनाथ को भी वहाँ चौथे स्थान पर स्मरण किया गया दीख पड़ता है।[३१] 'नाथसिद्धों की बानियाँ' में इनकी एक सबदी[३२] संगृहीत है जिसमें इनके नाथ-पंथी सिद्धान्त का परिचय मिलता है। किन्तु 'श्रीनाथाष्टक' के इनकी रचना होने में सन्देह भी प्रकट किया जा सकता है।[३३]

गुरु गोरखनाथ को नाथसिद्धों की परम्परा में सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया जाता आया है। इन्होंने सिवाय इसके कि मैं मत्स्येन्द्रनाथ का शिष्य हूँ एवं आदिनाथ का प्रशिष्य हूँ तथा उनकी कृपा से ही अपने निजी अनुभव की बातें कह रहा हूँ, कदाचित् अन्य कुछ भी अपने विषय में नहीं कहा है और इनकी सारी तथाकथित रचनाओं को असंदिग्ध रूप से स्वीकार कर लेना भी अभी तक संभव नहीं कहला सकता है। परन्तु, जिस प्रकार इनके विलक्षण व्यक्तित्व एवं विचारधारा के प्रभाव की चर्चा की जाती आई है तथा इन्हें अमर मानते हुए इनके संभवतः पाँचवीं-छठी शताब्दी से लेकर आधुनिक युग वाले अनेक साधको तक को प्रत्यक्ष दर्शन देने की कथाएं प्रचलित हैं उससे यह परिणाम बड़ी सरलतापूर्वक

निकाला जा सकता है कि ये अवश्य एक अत्यन्त असाधारण महापुरुष [illegible] होंगे और कदाचित् इसी कारण इनको उच्चकोटि के मानवत्व वाले स्तर से भी ऊपर उठाकर क्रमशः देवत्व तक पहुँचा दिया जाना कभी किसी को असंभव नहीं प्रतीत हो सका होगा।

इसमें संदेह नहीं कि इनके आविर्भावकाल का धार्मिक समाज विचित्र परिस्थितियों का शिकार बन चुका था। तांत्रिक साधना-प्रणाली के प्रतीकात्मक रूप को भी [illegible] समझकर भूल कर बैठनेवालों तथा कोरे बाह्याचार मात्र को ही सब कुछ [illegible] की संख्या उन दिनों अधिक रही जिसके कारण अनर्थ का होना रहना अवश्यंभावी था और अनैतिकता बढ़ती जा रही थी। गुरु गोरखनाथ ने उनकी जगह इन्द्रिय-निग्रह एवं [illegible] के आदर्श को सामने लाकर उनके महत्व की ओर सब किसी के ध्यान को आकृष्ट करना चाहा। इन्हें इतना आत्मविश्वास रहा तथा अपने संकल्प में इतनी दृढ़ता थी कि इन्होंने उसकी ओर स्वयं अपने गुरु तक को उन्मुख कर डालने में संकोच नहीं किया। इनके द्वारा सुझाये गये मार्ग का अपनाना उन लोगों को भी स्वाभाविक जान पड़ा जो विभिन्न पंथों के अनुयायी रह चुके थे।

फिर भी इनके जीवन की कदाचित् किसी भी घटना का हमें कोई ऐतिहासिक विवरण आज तक उपलब्ध नहीं है। जो कुछ भी इनके विषय में कहा जाता है उसके ऊपर [illegible] कल्पना का रंग चढ़ाया गया जान पड़ता है जिससे उसका रूप हमें पौराणिक सा लगने लगता है। इनके अतिमानव अथवा देवरूप के सामने इनके मानवीय चरित्र की किसी साधारण सी रूपरेखा का भी उभर पाना आज असंभव-सा बन गया है और हम अभी तक अपने को इसके लिए भी असमर्थ पा रहे हैं कि इनका संबंध किस निश्चित समय व स्थान के साथ जोड़ [illegible]। जैसा कि इसके पहले भी कहा जा चुका है, इनके आविर्भावकाल को एक बड़ी लम्बी अवधि के भीतर किसी न किसी समय ढूँढ़ पाने की प्रवृत्ति देखी जाती है, और इसी प्रकार इनके जन्म-स्थान के लिए भी पंजाब से लेकर बंगाल तथा नेपाल की ओर से लेकर दक्षिण में प्रवाहित नर्मदा नदी के तटवर्ती किसी क्षेत्र विशेष तक का पता लगाने का प्रयास किया गया है। इनकी जाति, इनके मूल पुरुष अथवा इनके किसी परिवार आदि के विषय में भी कभी-कभी अनुमान किये गए हैं तथा इनके रूपरंग एवं स्वभाव तक की कुछ न कुछ झलक [illegible] की भी चेष्टा की गई है,[34] किन्तु ऐसी बातें कभी यथेष्ट नहीं कहला सकतीं और न इनके आधार पर हमें कभी पूरा संतोष हो सकता है। इसके अतिरिक्त, जो कुछ भी इनका परिचय हमें उपलब्ध हो सका है उसका अधिकांश या तो विभिन्न चमत्कारों से भरा है अथवा अतिशयोक्ति-पूर्ण तक भी कहला सकता है जिस पर किसी वैज्ञानिक ढंग से विचार कर पाना साधारणतः सरल नहीं है। जहाँ तक इनकी उपलब्ध रचनाओं के संबंध में कहा जा सकता है, इनका प्राय संस्कृत एवं पुरानी हिन्दी में होना अनुमान किया गया है, परन्तु भिन्न-भिन्न ग्रन्थों या फुटकर पंक्तियों के इस विषय में नाम लिये जाते हैं, उनमें से अनेक की प्रामाणिकता में संदेह भी किया जा सकता है। इनका देहान्त कब और कहाँ पर हुआ, हमें इस बात का भी कोई पता नहीं है, प्रत्युत ऐसा विश्वास किया जाता है कि वे अमर पुरुष हैं जो सदा वर्तमान रह सकते हैं और वे सर्वत्र विचरण करते रहते हैं

निष्कर्ष यह कि गुरु गोरखनाथ को नाथसिद्धों में सर्वाधिक प्रधानता देते हुए भी हम उनके विषय में किसी अन्य की अपेक्षा अधिक ऐतिहासिक तथ्य उपस्थित नहीं कर पाते और साधारणतः बहुत सी काल्पनिक बातों पर ही संतोष करके रह जाते हैं। ऐसी दशा में यदि हमें सारी बातों को ध्यान में रखते हुए कुछ कहने की इस समय आवश्यकता पड़े तो केवल इतना ही बतला सकते हैं कि न्यूनाधिक विश्वसनीय सामग्रियों के आधार पर इनका आविर्भाव काल ईसा की ८वीं, ९वीं शती से पहले नहीं जाता दीखता। ये मूलतः भारत के किसी पश्चिमी प्रान्त के निवासी जान पड़ते है और शैवधर्म वाले पाशुपत संप्रदाय के अनुयायी भी हो सकते हैं। इनका प्राचीन योगविद्या से परिचित रहना तथा उसकी साधना के महत्व मे पूर्णरूप से विश्वास करना इनकी एक विशेषता स्वीकार कर ली जा सकती है तथा इसके साथ यह भी अनुमान कर लिया जा सकता है कि संभवतः अपने वैसे दृष्टिकोण के ही कारण इन्हे अपने समय में प्रचलित अनेक मतों की अधिकांश बातें कोरी निरर्थक एवं अग्राह्य तक भी समझ पड़ी होगी। तदनुसार, अपनी विशिष्ट स्वीकृतियों के आधार पर इन्होंने अपने मत की कोई रूपरेखा कल्पित की होगी और उसके प्रचार में प्रवृत्त भी हुए होंगे। हमें ऐसा लगता हे कि उस काल के सभी साधकों का प्रमुख लक्ष्य किसी न किसी प्रकार की सिद्धि प्राप्त कर लेने की ही ओर था जिसके लिए विभिन्न संप्रदायों अथवा उनकी शाखाओं तक का प्रवर्तन किया जाता रहा और उन्हीं में से किसी 'यौगिनी कौमत' की भी एक परम्परा चल पड़ी थी जिसके प्रमुख पथप्रदर्शक मत्स्येन्द्रनाथ कहे गये हैं। गुरु गोरखनाथ को संभवतः इन्ही से सर्वप्रथम प्रेरणा मिली थी, किन्तु ये इनसे कब एवं किस रूप में प्रभावित हुए, इसका कोई ऐतिहासिक विवरण उपलब्ध नहीं है। उनके प्रति इनकी गहरी श्रद्धा प्रदर्शित करने के आधार पर इतना मान लिया जा सकता है कि इन दोनों के उद्देश्यों में इतना मौलिक अंतर न रहा होगा --अधिक से अधिक साधना-प्रणालियों में भेद रहा होगा। मत्स्येन्द्रनाथ शाक्त-साधना की ओर उन्मुख जान पड़ते हैं तो गोरखनाथ शैव-साधना से प्रभावित लगते हैं।

प्रारंभिक युगवाले उपर्युक्त नाथ-सिद्धों में से इन चार के अतिरिक्त भर्तृहरि एव चर्पटीनाथ के नाम विशेष रूप से लिए जाते हैं। इन दोनों की कुछ न कुछ हिन्दी रचनाएँ भी मिलती है जिन्हें सर्वथा प्रामाणिक मानने के लिए हमारे पास कोई साधन नहीं है। 'नाथसिद्धों की बानियाँ' के अन्तर्गत भर्तृहरि की समझी जानेवाली पाँच कृतियाँ मिलती हैं[३५] जिनमें से 'सपत संप ग्रन्थ' के द्वारा सात संखों का परिचय दिया गया है और उसी के व्यास से पक्षीय साधना एवं रहनी के सम्बन्ध में कुछ कहा गया है। इस दृष्टि से इनका बहुत बड़ा महत्व जान पड़ता है। इसके अनन्तर, दिये गए पदों में इन्होंने गुरू गोरख का दास तक बतलाया है। इसमें नारी-निन्दा, वैराग्य-प्रशंसा आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय है तथा इसकी भाषा भी कहीं-कहीं विकृत संस्कृत है। इसी प्रकार, इनके 'श्लोक' नाम की रचना में भी संवादों के माध्यम से अनेक बातें प्रायः वैसी ही भाषा के द्वारा कही गई हैं। इनके अन्तिम पद से भी पता चलता है कि इन्हें गुरु गोरखनाथ की ही कृपा से ज्ञान प्राप्त हुआ था तथा इन्होंने हरिपद को स्पर्श करने में सफलता पायी थी। उधर चर्पटीनाथ की कही गई और यहाँ पर सगृहीत सबदी की अधिकतर बातें या तो दीख पड़ती हैं अथवा उनका कुछ न

कुछ त्यागमूलक परिचय भी दे देती है। यहाँ पर प्रसंगवश यह भी कह दिया गया मिलता है कि भरथरी, चरपद और गोपीचन्द ने अपनी विलासिता का त्याग करके परमानन्द प्राप्त किया था।[३६] 'कारोरीपाव जीवाले' पद के अन्तर्गत इनके द्वारा नागाअरजंद (नागार्जुन) के प्रति प्रश्न कराया गया है जिससे दोनों का शिष्य-गुरु सम्बन्ध माना जा सकता है।[३७] स्वयं 'नागा अरजन' के नाम से उपलब्ध सबदी में केवल योग-साधना का एक संक्षिप्त संकेत किया गया पाया जाता है।[३८] उक्त संग्रह के अन्तर्गत किसी सती कारोरी जी के नाम से भी एक रचना मिलती है जिसमें अपने को आदिनाथ नाती माछंद्रनाथ पूता[३९] कहा गया है जिसके कारण यह सम्भव है कि करोरीपाव नाथ और सती करोरी एक और अभिन्न व्यक्ति रहे हों। एक ही नाम से उन दिनों कई व्यक्ति प्रसिद्ध थे जिसके कारण उनके सम्बन्ध में प्रायः भ्रम उत्पन्न हो जाया करता है और इस प्रकार की कोई बात अंतिम रूप में कहते नहीं बनता। उस काल के एकाध नाथसिद्ध तो ऐसे भी हैं जिनके केवल नाम मात्र मिल पाते हैं अथवा जिनके विषय में केवल उनके निवास-स्थान आदि का भी संदिग्ध-सा परिचय मिलता है, किन्तु फिर भी उन्हें प्रारंभिक युग के अंतिम चरण तक के ही मान लेने की प्रवृत्ति होती है। उदाहरण के लिये लुहारी पाव, सत्यनाथ, बाबा रतन नाथ तथा धर्मनाथ के नाम लिये जा सकते हैं जिनमें से अन्तिम दो क्रमशः पेशावर और कच्छ के बतलाये जाते हैं। इनके कुछ चमत्कारपूर्ण वर्णन भी मिल जाते हैं, किन्तु वे इनका तथ्यवत् परिचय नहीं दे पाते। इसके सिवाय, हम इस सम्बन्ध में इतना और भी कह सकते हैं कि गुरु गोरखनाथ ने सर्वप्रथम कदाचित् उन्हीं कतिपय मौलिक सिद्धान्तों की समुचित व्याख्या भी आरम्भ की होगी जो प्रायः सभी तत्कालीन शैव-संप्रदायों के लिए सामान्य समझे जाते रहे होंगे तथा उन्हीं के अनुकूल इन्होंने अपनी साधना को भी कोई विकास प्रदान किया होगा। फलतः उनमें से कई का झुकाव इस ओर स्वभाविक रूप में होता चला गया और कुछ ने इनके मार्ग को पूर्णतया तक में अपना लिया। इसमें संदेह नहीं किया जा सकता कि इनके द्वारा अग्रसर किए गये नाथमत वाले मूल स्रोतों का उद्गम प्राचीन अवश्य रहा होगा तथा जिन लोगों ने उसे स्वीकार किया, उनके प्रारम्भिक सम्प्रदायों वाले उनसे किसी न किसी रूप में परिचित एवं प्रभावित भी रह चुके होंगे।

परवर्ती नाथसिद्ध

प्रारम्भिक युगवाले उपर्युक्त नाथसिद्धों के अतिरिक्त अन्य की संख्या भी संभवतः एक दर्जन से कहीं अधिक ही रही होगी, किन्तु उनमें से कई के हमें या तो केवल नाम मात्र ही विदित हैं अथवा उनके संक्षिप्त परिचय ही मिल पाते हैं। उन पर भी पौराणिकता वा काल्पनिकता का रंग चढ़ा प्रतीत होता है। उदाहरण के लिए, इस प्रसंग में हम लुहारी पाव, सत्यनाथ-आदि के नाम ले सकते हैं जिन्हें उक्त युगीन अन्तिम दिनों में वर्तमान मान लेने की प्रवृत्ति होती है, किंतु जिनका हमें प्रायः कुछ भी पता नहीं चल पाता और केवल नामोल्लेख मात्र कर दिया जाता है। इसी प्रकार बाबा रतननाथ एवं धर्मनाथ जैसे कुछ अन्य उन लोगों के नाम लिये जा सकते हैं जिनको क्रमशः पेशावर एव कच्छ जैसे प्रदेशों के निवासी

के रूप में परिचित कराया जाता है तथा जिनके कुछ चमत्कारपूर्ण वर्णन तक भी कर दिये जाते है और ये भी किसी वैसे ही समय के ठहराये भी जाते हैं। इनके अनंतर, अर्थात् ईसवी सन् की १३वीं शती के किसी समय से कुछ ऐसे नाथसिद्धों का भी आविर्भाव होने लगता है जो अपनी योगसाधना के पूरक रूप में भक्ति-साधना को भी स्वीकार कर लेते दीख पड़ते है तथा जिनके अपने पृथक् संप्रदाय तक भी रहा करते हैं। इसके सिवाय, लगभग इसी समय से हम अनेक ऐसे अन्य नाथसिद्धों को भी पाने लगते हैं जिन पर अपनी नाथपंथी साम्प्रदायिकता की छाप लगी हुई सी जान पड़ती है। वास्तव में इस काल तक पुराने नाथसिद्धों और विशेषकर गुरु गोरखनाथ को अतिमानवत्व अथवा देवत्व तक भी प्रदान किया जाना आरम्भ हो गया रहता है। यहाँ तक कि वे लोग भगवान् शिव अथवा स्वयं परमात्मा के स्वरूप तक भी मान लिये जाते हैं जिसका प्रभाव उनके प्रति दिव्यत्व की भावना उत्पन्न कर देता है। यहाँ पर इस संबंध में यह भी उल्लेखनीय है कि प्रारंभिक युगवाले नाथसिद्धों में हमे अधिकतर ऐसे त्याग और तपस्या का बल दीख पड़ता है जिसके समक्ष बड़े-बड़े राजाओं तक का झुक जाना बहुत स्वाभाविक हो जाता है, किंतु उसके परवर्ती काल में कुछ भिन्नता भी आ जाती है। इधर हमें राजा भर्तृहरि, गोपीचंद एवं पूरनभगत जैसे उदाहरण उतने नहीं मिलते जितने वैसे लोगों के ही प्राप्त होते है जो उपर्युक्त नाथसिद्धो में से कुछ के प्रति अपनी अटूट श्रद्धा प्रदर्शित करते हैं तथा उनकी कृपा द्वारा लाभान्वित होने का प्रयत्न किया करते हैं।

इनमें से प्रथम वर्गवाले नाथसिद्धों में हमारे सामने सर्वप्रथम नाम निवृत्तिनाथ (सन् १२७३-९७ ई०) का आता है जिन्हें उन गाहिनी वा गैनीनाथ (मृ० सन् १२८८ ई०) ने दीक्षित किया था जिनके द्वारा निर्मित 'गोरक्षगीता' नामक मराठी ग्रन्थ बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है। कहते हैं कि गहिनीनाथ को स्वयं गुरु गोरखनाथ ने दीक्षित किया था जिसके कारण उनके जीवनकाल के विषय में कभी-कभी भ्रम भी हो जाता है। निवृत्तिनाथ ने इस बात को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि गहिनी ने मेरे ऊपर पूर्ण कृपा करके और मेरे अपने ध्येय के रूप में श्रीकृष्णनाम का वरदान दे दिया जिससे मेरा कुल पवित्र हो गया।[४०] इन निवृत्तिनाथ के ही अनुज प्रसिद्ध ज्ञानेश्वरनाथ या ज्ञानदेव थे जिन्होंने 'श्रीमद्भगवद्गीता' की 'ज्ञानार्थं दीपिका' नाम की टीका लिखी है जो 'ज्ञानेश्वरी' नाम से विख्यात है तथा जिसमें उन्होंने अपनी गुरु-परंपरा देते हुए, आदिनाथ से क्रमशः आरम्भ करके अपने अग्रज निवृत्तिनाथ को गुरु रूप में भी स्वीकार किया है।[४१] इन दोनों भाइयो द्वारा प्रचारित संप्रदाय प्रत्यक्षतः 'वारकरी संप्रदाय' नाम से चला, किंतु उस पर नाथपंथ की छाप सदैव पड़ी रहती आई। इसके सिवाय, महाराष्ट्र प्रांत के ही अन्तर्गत हमें एक ऐसी परंपरा का भी पता चलता है जिसके प्रवर्त्तक हरिनाथ (सन् ११५९-८६ ई०) कहला सकते हैं और जिनके प्रशिष्य मुकुंदराज को मराठी का आदि कवि समझा जाता है तथा वे ही उसके प्रमुख प्रचारक रूप में भी प्रसिद्ध है। इन मुकुंदराज द्वारा निर्मित ग्रंथ 'विवेक सिंधु' के आधार पर कहा जाता है कि इन्होंने ही मराठी-साहित्य के अंतर्गत सर्वप्रथम तत्वज्ञान का भी समावेश किया था

ईसवी सन् की १५वीं-१६वीं शती के भीतर भी ऐसे एक से अधिक नाथसिद्ध राजस्थान प्रांत के अंतर्गत हुए जिन्होंने अपनी योगसाधना के साथ-साथ भक्तिसाधना को भी न्यूनाधिक प्रश्रय प्रदान करना उचित समझा। इनमें से विश्नोई संप्रदाय के प्रवर्तक जंभनाथ या जंभोजी, निरंजनी संप्रदाय के प्रवर्तक हरिदास निरंजनी तथा जसनाथी संप्रदाय के प्रवर्तक जसनाथ के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय समझे जा सकते हैं। जंभनाथ जी (सन् १४५१-१५२३ ई०) के लिए भी प्रसिद्ध है कि उन्हें स्वयं गुरु गोरखनाथ ने दीक्षित किया था। इन्हें कभी-कभी बाला गोरखयतीन्द्र भी कह दिया जाता है।[४२] इनके द्वारा प्रवर्तित संप्रदाय के २९ नियमों में अधिकतर विष्णु को महत्व दिया जाता दीख पड़ता है, किन्तु उन पर नाथपंथ का भी प्रभाव कुछ कम नहीं जान पड़ता और उसके अनुयायी आज तक इस बात को स्वीकार करते भी देखे जाते हैं। इसी प्रकार, हरिदास निरंजनी (सन् १४५५-१५३८ ई०) के लिए भी कहा गया है कि इन्हें लूटपाट का काम त्याग कर आध्यात्मिक चिन्तन की ओर उन्मुख करनेवाले भी गुरु गोरखनाथ ही थे जिनसे इनकी भेंट सर्वप्रथम किसी जंगल में हो गई थी। इन्होंने इस बात को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि गुरु गोरखनाथ मेरे गुरु थे, मैं उनका 'बालक' हूं तथा मेरे ऊपर उनका हाथ रहा करता है।[४३] इसके सिवाय इन्होंने अपने उपास्य परमतत्व का नाम भी 'निरंजन' ही रखा है जिसके अनुसार इनके संप्रदाय का नामकरण हुआ है। जसनाथ जी (सन् १४८२-१५०६ ई०) के विषय में तो कहा जाता है कि इनके साथ गुरु गोरखनाथ का और भी अधिक लगाव था। प्रसिद्ध है कि जब ये केवल १२ वर्ष के थे और इन्हें ऊँटनियों के चराने का काम सौंपा गया था, इनकी भेंट गुरु गोरखनाथ से हो गई। वह दिन सं० १५५१ की आश्विन शुक्ला सप्तमी का था, जब इन्होंने इन्हें अपना साक्षात् दर्शन देकर कृतार्थ किया और प्रभात की वेला में इनके कान में सत्य 'शब्द' फूंक दिया तथा उनकी आज्ञा पाकर इन्होंने अपनी छड़ी वहीं पर गाड़ दी और अपना आश्रम भी जमा लिया।[४४] वह स्थान आज तक 'गोरखमालिया' कहलाकर प्रसिद्ध है और इनके संप्रदायवालों का एक तीर्थ स्थान भी समझा जाता है। जसनाथ जी ने 'जोग' की परिभाषा देते हुए उसके कुछ लक्षण भी बतलाये हैं और कहा है कि "सत्य के अनुसार ही संयम के साथ रहना चाहिए और किसी के साथ मिथ्यालापन से अपने को बचाना चाहिये। हे प्राणी, तुम अपने शरीर रूपी पुस्तक पर मन रूपी लेखनी से भगवान् के गुण लिखते चलो, अमृत जैसे शब्द बोलो और गुरु का उपदेश मानो"।[४५] इन्होंने अपने को 'दरवेश निरंजन जोगी तक' भी कहा है[४६] जिससे इनकी नाथपंथ के प्रति कम निष्ठा नहीं प्रकट होती।

जहाँ तक उपर्युक्त द्वितीय वर्गवाले नाथसिद्धों के उदाहरण में कहा जा सकता है, उनमें से केवल कुछ के ही संक्षिप्त परिचय मिलते हैं। शेष के या तो केवल नाम मात्र लिये जाते हैं अथवा उन्हें किन्हीं अन्य के साथ जोड़कर एक साधारण-सा संकेत कर दिया जाता है। ऐसी दशा में इन दूसरे प्रकार के नाथसिद्धों के विषय में किसी शती-विशेष का अनुमान कर लेना भी युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। जिन ऐसे नाथसिद्धों के सम्बन्ध में कुछ चर्चा की गई दीख पड़ती है, उनमें से हमें अजयपाल, बालानाथ वा लक्ष्मण प्राचीनतर जान पड़ते हैं और इनका ईसा की १३वीं शती में भी होना सम्भव है के लिए यह अनुमान

किया गया है कि ये गढ़वाल के राजा थे[४७] किन्तु इसकी पुष्टि किन्हीं ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर नहीं हो पाती। इनका एक 'सबदी' प्रकाशित है जिसमें इन्हें बाबा अजैपाल कहा गया है और ऐसा किसी 'लक्षमण' द्वारा कहलाया गया है जो इसी कारण संभवत इनका शिष्य तक भी समझ लिया जा सकता है। इसकी रचना-शैली 'गोरखबाणी' का अनुसरण करती जान पड़ती है। ये लक्षमण यदि वे ही हैं जिन्हें लक्षणनाथ अथवा बालानाथ भी कहा जाता है तो इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध का अनुमान किया जा सकता है। लक्षमण के नाम से एक पद संगृहीत है जिसमें 'लक्षमण बाला' शब्द का व्यवहार किया गया है।[४८] परन्तु बालानाथ के नाम से जो रचनाएँ प्रकाशित है,[४९] वहाँ इस प्रकार का कोई संकेत नहीं दीख पड़ता जिसके आधार पर यह भी कहा जा सके कि 'बालानाथ' एवं 'बालनाथ' दो भिन्न-भिन्न नाथसिद्ध रहे होंगे। यह कहा जा चुका है कि बालानाथ नाम कदाचित् जालन्धरनाथ का भी रहा होगा, किन्तु उक्त रचनाओं का भी उनका होना सिद्ध नहीं होता। धूँधलीमल के लिए कहा गया है कि ये गरीबनाथ के गुरु थे और वे घोगोद वाले अजयसर पर्वत के ऊपर साधना करते थे। इनके आशीर्वाद से किसी भीम का कच्छ का राजा हो जाना भी कहा गया है जिनका समय सं० १४८२ अथवा सन् १३८५ ई० समझा जाता है। धूँधलीमल की एक सबदी प्रकाशित है जिसमें योगसाधना के द्वारा अमरत्व की सिद्धि की ओर संकेत किया गया पाया जाता है।[५०] गरीबनाथ ने अपने को एक रचना के अन्तर्गत 'सिद्धगरीब' जैसा कहा है और वहाँ पर ये योगसाधना का वर्णन करते समय उलटबाँसी का प्रयोग करते भी दीखते हैं।[५१] परंतु उसके आधार पर ही वहाँ इनका धूँधलीमल का शिष्य तक भी होना सिद्ध नहीं है।

इसी प्रकार, एक अन्य नाथसिद्ध जिनकी रचनाएँ प्राय: दत्त जी नाम से मिलती है, प्रत्यक्षत: प्रसिद्ध दत्तात्रेय जी से अभिन्न नही जान पड़ते। किन्तु इनके अविर्भावकाल का ईसवी सन् की १५वीं शती तक होना अनुमान किया गया है। इनकी भी दो सबदियाँ प्रकाशित की गई हैं जिनमें से दूसरी की भाषा कृत्रिम संस्कृत के रूप में पायी जाती है।[५२] इनकी कोई अपनी विशेषता नहीं लक्षित होती। इसके विपरीत पृथ्वीनाथ वा प्रिथीनाथ जी की जो ४ रचनाएँ मिलती है, इनका कुछ न कुछ अपना महत्व अवश्य हो सकता है। इनके ग्रंथ 'साध प्रष्या साध परीप्याग्रन्थ' के अन्तर्गत बतलाया गया है कि किसी 'जोगी' की स्थिति कितनी उच्चकोटि की हुआ करती है तथा इसके प्रमाण में यहाँ पर न केवल गुरु गोरखनाथ अपितु संत नामदेव एव संत कबीर तक के नाम उपस्थित किये गये हैं। इसी प्रकार इनके 'श्री निरंजन निरवान ग्रन्थ' में योग साधनासंबंधी पंथों एवं क्रियाओं आदि की चर्चा की गई है तथा 'श्रीभक्ति वैकुण्ठ जोग ग्रंथ' और 'सबदी' के अंतर्गत भक्ति की व्याख्या पायी जाती है।[५३] इधर की खोज द्वारा पृथ्वीनाथ की अन्य २५ रचनाएँ भी मिली है जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि ये एक उच्च कोटि के साधक एवं सफल साहित्यकार भी रहे होंगे। उनसे सिद्धनाथों के मत पर भी प्रकाश पड़ता है। इनके 'जुक्ति स्वरूप सिध संकेत जोग' ग्रन्थ से पता चलता है कि ये किसी पूर्वी क्षेत्र में उत्पन्न हुए थे इन्होंने मुल्तान में रहकर साधना की थी तथा ये के अंतर्गत बहुत दिनो तक रहकर में दक्षिण की ओर चले गये थे इन्होंने

संत कबीर का नाम लिया है और संभवतः जंभनाथ का भी चर्चा एक समसामयिक के रूप में की है जिससे इन्हें १६वीं ईसवी शती का समझा जा सकता है। इन 'सबियों' की बानियों में अन्य अनेक नाथसिद्धों के अतिरिक्त पारवती जी, महादेव जी, रामचन्द्र जी, हणुवंत जी, सतवंत जी, मींडकी पावजी, सुकुल हंस जी तथा परबत सिद्ध जैसे न मिलनेवाले व्यक्तियों की भी रचनाएँ संगृहीत हैं जिनका पता नहीं चलता। इन्हें देखने से हमें ऐसा भी लगता है कि इनमें नाम कदाचित् जानबूझकर यों ही रख दिये गए होंगे। नाथसिद्धों की परंपरा में इस प्रकार की प्रवृत्ति बराबर देखी जाती रही है और हम देखते हैं कि इसका आरंभ घोड़ाचोली, चर्पटी आदि से ही हो चुका था और वह पीछे १६वीं शती के मानीनाथ, चिड़ियानाथ एवं लाडूनाथ जैसे नामों के प्रयोगों में भी पायी जाती थी। इधर के नाथसिद्धों में जसनाथी या सिद्ध-संप्रदाय वाले लालनाथ का नाम भी उल्लेखनीय है जो राजस्थान प्रांत के किसी माल्ह मदेसर गांव के थे। इनकी अनेक रचनाओं के नाम सुनने में आते हैं जिनमें से 'जीव समझोतरी' अभी तक प्रकाशित हुई है। इन्होंने उसमें किसी योगी की वास्तविक योगसाधना के केवल चार अंग बतलाये हैं जिन्हें जत (संयत् जीवन), रैणी (रहनी) गुरु प्याण (सद्गुरु के प्रति एकान्तनिष्ठा) एवं विचार (विवेकपूर्ण आदर्श) कहा गया मिलता है और इन्हीं के लिए उन्होंने विशेष आग्रह भी किया है।[५५] इसी प्रकार, इस संबंध में मानीनाथ का भी नाम लिया जा सकता है जिनका आविर्भावकाल १६वीं शती समझा जाता है। इनके गुरु कोई गुमानप्रकाश कहे जाते हैं[५६] जिन्होंने इन्हें भेड़ चराते समय दर्शन दिया था और जो चिड़ियानाथ के शिष्य एवं भर्तृहरि की परंपरा के नाथपंथी रहे। इनके भी कुछ फुटकल पद उपलब्ध हैं जिनमें इनकी विचारधारा बड़े सुंदर ढंग से व्यक्त की गई है।

परंपरा का साम्प्रदायिक रूप

नाथसिद्धों की परंपरा के क्रमिक विकास का इस प्रकार अध्ययन करने पर हमें ऐसा लगता है कि इसका जो रूप अपने प्रारम्भिक युग में रहा, उसमें समय पाकर कुछ न कुछ परिवर्तन भी होते गये हैं। इसके प्रवर्त्तकों अथवा प्रमुख प्रचारकों की साधना अत्यन्त गहरी रही, उन्होंने गंभीर आत्मचिन्तन किया था तथा अपने महान् व्यक्तित्व के बल पर उन्होंने इसे सर्वप्रथम आगे बढ़ाया था। परंतु आगे चलकर उनके शिष्य-प्रशिष्यों में बहुत कम ऐसे महापुरुष हुए जो इनके उच्च आदर्शों के अनुरूप एक समान कार्य कर सके। इनमें कदाचित् उतनी मौलिकता नहीं आ सकी, प्रत्युत इन्होंने अधिकतर अपने उन पथप्रदर्शकों के प्रति श्रद्धाभाव रखते हुए उनके अनुकरण को ही विशेष महत्व दिया। फलतः प्रारम्भिक युगीन सिद्ध पुरुषों का सर्वप्रमुख उद्देश्य भी इनकी आँखों के सामने से क्रमशः ओझल होता चला गया और संभवतः देश में भक्ति-आन्दोलन का प्रचार बढ़ते जाने के कारण उसका स्थान बहुत कुछ उनके कल्पित शिवरूप के प्रति भक्तिभाव-प्रदर्शन मात्र ने ले लिया। इसके सिवाय, इस परंपरा के क्रमिक विकास की ओर कुछ और ध्यान देने पर हमें ऐसा अनुमान करने का भी आधार मिल जाता है कि विशिष्ट नाथसिद्ध को उपास्यवत् स्वीकार कर उनके प्रति पृथक्-पृथक् रूप से सेवक भाव प्रदर्शित करने लगने पर ही किसी समय इस परंपरा के अन्तर्गत

विभिन्न पंथों की भी सृष्टि आरंभ हुई होगी तथा इनकी पृथक्-पृथक् संस्थाएँ निर्मित की गई होंगी। तदनुसार अनेक मठों की स्थापना होती चली गई होगी, अनेक साधना वा समाधि वाले स्थल पवित्र तीर्थों का रूप ग्रहण करते चले गये होंगे तथा विविध अनुश्रुतियों का विस्तार भी होता चला गया होगा जिससे वास्तविक तथ्य के अधिकाधिक आच्छादित होते जाने का अवसर आता गया होगा और अंत में वर्तमान स्थिति भी आ गई होगी जिसका प्रत्येक जिज्ञासु को आज सामना करना पड़ रहा है। परंतु, इस प्रकार की प्रवृत्ति किस निश्चित समय में सर्वप्रथम जागृत हुई होगी, इसका भी पता नहीं। यदि 'नाथसिद्धों की बाँनियाँ' के अंतर्गत संगृहीत 'धौंड़ाचौली जी की सबदी' को हम उनकी कोई प्रामाणिक रचना मान लें तथा उनके नाम का अमरवत् उल्लेख 'हठयोग प्रदीपिका' में किये गये होने के कारण उनके आविर्भावकाल को उसके रचनाकाल अर्थात् संभवतः १४वीं शती से पहले स्वीकार कर लें तो यह कहा जा सकता है कि उनके समय तक कम से कम रावल, पागल, बनखंडी, अगमागम, आई पंथी, पंक पथ, धज एवं गोपाल जैसे ६८ विभिन्न पंथों का संगठन हो चुका होगा तथा इन सभी का समावेश भी श्री गोरखनाथ-पंथ के अन्तर्गत किया जाता होगा।[५७] इस रचना के कवि घोड़ाचोली ने अपने को मच्छिंद्र का दास बतलाया है जिससे वह उपर्युक्त प्रारम्भिक युग का भी हो सकता है, किंतु उसके द्वारा किये गये गोरखनाथ पंथ जैसे प्रयोग से इस बात में कुछ संदेह भी होने लग जाता है। उस समय ऐसा कोई पंथ नहीं रहा होगा।

नाथसिद्धों वाली परम्परा के अन्तर्गत अनेक प्रकार की सांप्रदायिक शाखाओं की विभिन्न सूचियाँ भी मिलती हैं जिनके नामों में कभी-कभी महान् अंतर दीख पड़ता है। वास्तव मे ऐसी संस्थाओं के विभिन्न केन्द्र देश के प्रायः सभी प्रांतों में वर्तमान है और उनमें से कई का पारस्परिक सम्बन्ध भी चला करता है। फिर भी कहा जाता है कि श्री गोरक्षनाथ जी के भारत में चार प्रधान मठ—उत्तर में गोरक्षटिल्ला, पूर्व में गोरक्षपुर, दक्षिण में बदलीबन (बगलौर) एवं पश्चिम में गोरखमण्डी[५८] है और इन्हें कदाचित् उसी प्रकार महत्त्व दिया जाता है जैसे दशनामी संन्यासियों की ओर से उनके चार अर्थात् शृंगेरीमठ (दक्षिण), गोबर्द्धन-मठ (पूर्व), जोशीमठ (उत्तर) एवं शारदामठ (पश्चिम) के लिए कहा जा सकता है। परन्तु यह भी कहा जाता है कि वहाँ पर जितना सुव्यवस्थित संगठन है, उतना यहाँ पर नहीं पाया जाता। केवल इतना प्रसिद्ध है कि उनका प्रबन्ध भी किसी 'भेक बारह पंथ' नामक संस्था द्वारा परिचालित हुआ करता है जिसका प्रधान केन्द्र हरिद्वार में वर्तमान है। इसकी प्रबन्ध समिति के सदस्य वहाँ के कुंभ मेले के अवसर पर बारह वर्षों पर, द्वादशपंथों में से चुनकर ले लिये जाते हैं तथा उक्त संस्था का अध्यक्ष महंथ प्रत्येक पंथ की ओर से बारी-बारी से नियुक्त किया जाता है और वह १२ वर्षों तक उस पद पर आसीन रहा करता है। उसे इसके लिए १२००) देने पड़ते हैं और उक्त विधि के सम्पन्न हो जाने पर उसे जोगेश्वर के नाम से अभिहित किया जाता है। इस प्रकार 'दशनामी' की ही भाँति इसका भी प्रभावक्षेत्र अखिल भारतीय ही कहा जा सकता है। सारांश यह कि नाथसिद्धों की जिस परम्परा में पहले व्यक्तिगत साधना, आध्यात्मिक जीवनादर्श एवं नैतिक प्रचारादि को विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाता था, इसमें ...सार बहुत कुछ परिवर्तन हो गए दीख पड़ते हैं और उनके स्थानों पर क्रमशः

सामाजिक संगठन, पारस्परिक सम्बन्ध-व्यवस्था तथा विविध सुधार विषयक प्रश्नों की ओर ध्यान दिया जाना अधिक आवश्यक समझा जाने लगा है। जहां कभी निवृत्ति को प्रधानता देते हुए ही प्रवृत्ति पर कोई विचार किया जाता रहा, वहाँ उसे अब केवल गौण महत्त्व दिया जाने लगा है और प्रधानता प्रवृत्ति को प्राप्त हो गई है तथा युगधर्मानुसार कर्मों के द्वारा प्रभावित दृष्टिकोण से सारी बातों का पुनर्मूल्यांकन भी आरम्भ हो गया है जिसके कारण इसके मौलिक आदर्श एवं उद्देश्य में भी बहुत कुछ अंतर आ जाना असम्भव नहीं कहला सकता। वास्तव में इस प्रकार का परिवर्तन केवल नाथसिद्धों की परम्परा की ही कोई विशेषता नहीं, प्रत्युत् यह ऐसे अन्य धार्मिक वर्गों में भी इस समय पूर्णरूप से लक्षित होता है। तदनुसार, इसका आधुनिक रूप हमें उन अन्य सभी से अधिक भिन्न नहीं ठहराया जा सकता जो आज हिन्दू-समाज के अंग बने पाये जाते हैं और जिनकी अपेक्षा उसके प्रति इसकी कम देन भी स्वीकार नहीं की जाती।

संदर्भ-संकेत

(१) जी० डब्लू० ब्रिग्स: गोरखनाथ एण्ड दि कनफठा योगीज (कलकत्ता १९३८ ई०), पृष्ठ ६३ (२) गोरक्ष ग्रन्थमाला ५५, गोरक्षटिल्ला, वाराणसी, १९५६ ई० (ग्रन्थ परिचय, पृ० २) (३) महाराष्ट्र साहित्य पत्रिका (सेप्टेम्बर, १९५३ ई०), पृ० २६ (४) पद ३८, पृ० १३३ (५) श्री सिद्धनाथ संहिता, भूमिका पृ०, ४ (६) रा० चि० ढेरे: 'श्री गुरु गोरक्षनाथ चरित्र आणिपरंपरा' के पृ० १०१ पर 'नाथ-लीलामृत' ग्रन्थ से उद्धृत (७) पृ० १६२, १६३ व २८८ (देखिये, डॉ० कल्याणी मल्लिक की नाथ संप्रदायेर इतिहास आदि, कलिकाता, १९५० ई०, पृ० ३१) (८) रा० चि० ढेरे : श्री गुरु गोरक्षनाथ चरित्र आणि परंपरा, पृ० २५ (९) ए० पी० कर्मकर : दि रिलिजन आफ इण्डिया ... द्राविडियन सिस्टम्स (लोनावला १९५० ई०) पृ० २४८ (१०) शशिभूषण दास गुप्त : आब्स्क्योर रेलिजस कल्ट्स (कलकत्ता, १९४६ ई०), पृ० २२३ (११) गोपीनाथ कविराज : सरस्वती भवन स्टडीज, भाग६ (बनारस १९२७ ई०), पृ० ३० (१२) राहुल सांकृत्यायन : पुरातत्व निबन्धावली, पृ० १३२ (१३) कौलज्ञान निर्णय, भूमिका, पृष्ठ २७-२८ (१४) वही, पृ० ६ पर उद्धृत 'तंत्रालोक' (भा० १, पृ० २५) से (१५) वी० एस० पाठक : 'शैव कल्ट्स' इ० (वाराणसी, १९६० ई०) पृ० ५६ पर उद्धृत 'एपिग्राफिका इंडिका' (१, पृ० ३८४) से (१६) देखिये, बृहन्नारदीय पुराण (उत्तर भाग) अ० ६९ के उद्धरण (सिद्धनाथ संहिता), पृ० १४-५७।

(१७) "तत्र सह्याचलस्याधः प्रदेशे दशयोजने।
प्रख्यातं मामकं धाम कदली यत्र तिष्ठति॥" २४।
(कंदली मंजुनाथ माहात्म्य, पृ० २३)

(१८) 'माइथालोजीज आफ मेमरी एण्ड फारगेटिंग' शीर्षक मर्सिया इलिएड का निबंध (हिस्ट्री आफ रेलिजन्स भा० २ न० २ शकागो १९६३ ई० १९ वे० श्लोक २ व ८६

(२०) राहुल सांकृत्यायन : पुरातत्व निबन्धावली, पृ० १४३ (२४) वही, पृ० १५१ (२२) देखिये अध्याय ५६ श्लो० २-५ (२३) सरस्वती भवन स्टडीज, भाग ६, पृ०२४-५ (२४) 'साखि करिब जालन्धरि पाए', च० २४ (२५) 'काण्ह कापाली योगी पइठ आचारे', च० १९ (२६) पुरातत्व निबन्धावली, पृ० १५३ (२७) नाथसिद्धों की बानियाँ, पृ० ५२-४ (२८) वही, पृ० १३-१५ (२९) वही, पृ० ३६-४७।

(३०) ओं नमो स्वादिनाथाय, मीननाथाय वै नमः।

नमश्चौरंगिनाथाम् सिद्ध बुद्धाय धीमते ॥१॥

—डॉ० कल्याणी मल्लिक : सिद्ध सिद्धान्त पद्धति, पूना संस्करण, पृ० ४८।

(३१) "चत्वारो गुरवः मत्स्येन्द्र ईश्वर चतुरंगी गोरक्षा इति स्वरूपाः" (गो० सि० सं०, पृ० ५१) (३२) देखिये पृ० ४८ (३३) वही, पृ० ४९ (३४) डॉ० रांगेय राघव : गोरखनाथ और उनका युग, पृ० ४५-२७ (३५) पृ० ९७-११३ (३६) पृ० २५-३५ (३७) पृ० १०-१२ (३८) पृ० ६७ (३९) पृ० ९-१० (४०) दे० रा० चि० ढेरे द्वारा रचित 'श्री गुरु गोरक्षनाथ आदि' के पृष्ठ १४०-१ पर उद्धृत अभंग (४१) रा० चि० ढेरे : श्री गुरु गोरक्षनाथ आदि, पृ० १४७ (४२) स्वामी ब्रह्मानन्द : जंभदेव चरित्र भानु, पृ०३२ (४३) वाणी, पृष्ठ ३५६-७ (४४) यशोनाथ पुराण, पृष्ठ ३३ (४५) सिद्ध चरित्र, पृष्ठ ९७ (४६) वही, पृष्ठ ९९ (४७) पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल : योगप्रवाह, पृष्ठ २०३ (४८) "बूझि कहते लक्ष्मण बाला" (नाथसिद्धों की बानियाँ, पृ० ११९) (४९) वही, पृ० १८, पृ० ९१-२ (५०) वही, पृ० ६५-६ (५१) वही, पृ० १२३ (५२) नाथसिद्धों की बानियाँ, पृ० ५५-६२ (५३) वही, पृ० ७०-६७ (५४) डॉ० हीरालाल माहेश्वरी : अध्ययन और अन्वेषण, पृ० १२३-३८ (५५) जीव समझोतरी (पारीक सदन रतनगढ़, सं० २००५), पद्य ५७, पृ० १७ (५६) दीनदयाल ओझा : जनपदीय संत और उनकी वाणी (मरु प्रकाशन, जैसलमेर), पृ० २२ (५७) नाथसिद्धों की बानियाँ, पृ० २२-२४ (५८) सिद्ध संहिता-विवेक सागर (बीकानेर सं० २०२१), पृ० ३३०।

डॉ० जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

• आशा गुप्त

ग्यारह खण्डों और उन्नीस भागों में 'भारत का भाषा सर्वेक्षण'[1] के प्रसिद्ध रचयिता सर जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन का जन्म आयरलैंड के डबलिन परगने के उस परिवार में हुआ था जो चिरकाल से साहित्य से सम्पृक्त चला आता था। उनके पिता जार्ज ग्रियर्सन 'डेली एक्सप्रेस' नामक दैनिक पत्र के सह-अधिकारी तथा डबलिन-राजा के मुद्रक थे। उनके पितामह जार्ज अब्राहम वहीं राथफर्नहम किले में रहते थे। जार्ज अब्राहम के पिता का नाम भी जार्ज ग्रियर्सन था। जार्ज ग्रियर्सन के मुद्रण-कार्यालय का विवरण जे० टी० गिलबर्ट के 'ए हिस्ट्री आफ द सिटी आफ डबलिन' (भाग दो, पृ० १५५) में दिया गया है। उसके अनुसार जार्ज ग्रियर्सन ने सन् १७८५ में 'ए बुक आफ कामन प्रेयर' शीर्षक एक ग्रंथ छापा था जिसकी एक हस्तलिखित टिप्पणी के अनुसार जार्ज ग्रियर्सन का जन्म १७६३ ई० में हुआ था। उन्हें यह पुस्तक बाईस वर्ष की अवस्था में उपहार-स्वरूप मिली थी। उनके पिता ह्यूग बोल्टर का देहावसान १७७७ ई० में हुआ। उस समय जार्ज ग्रियर्सन चौदह वर्ष के थे तथा प्रीवि कौंसिल डबलिन कैसल के श्री ग्रीन क्लर्क उनके संरक्षक थे।[2]

ग्रियर्सन-परिवार नारवेजियन वंश और प्रसिद्ध संगीतज्ञ ग्रिग से संबद्ध बताया जाता है। कदाचित् इसीलिए सर जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन लम्बे, गौरवर्ण और सुनहरे बालोंवाले थे। उनको वायलिन से विशेष प्रेम था। सर जार्ज की माता का नाम इज़ाबेला रक्सटन था। इज़ाबेला रक्सटन के पिता हेनरी रक्सटन 'आर्डी' के नवल-सेना-विभाग में थे। सर जार्ज छह भाई-बहन थे। बहिनों का नाम क्रम से कान्स्टेशिया, शार्लट और जूलिया तथा भाइयों का जार्ज अब्राहम, हेनरी फ़ास्टर और चार्ल्स था। चार्ल्स कालान्तर में डाउन, कोनोर तथा ड्रोमोर के बिशप बने। सर जार्ज भाइयों में सबसे बड़े थे। आपका जन्म सात जनवरी १८५१ ई० को ग्लेनगियरी जिला डबलिन में हुआ था। सन् १८६३ में जार्ज अब्राहम सेंट बी से प्राथमिक शिक्षा प्राप्त कर श्रूजबरी स्कूल में प्रविष्ट हुए। तदुपरान्त वे कुछ समय तक प्रसिद्ध विद्वान् बेंजामिन हाल कनेडी के पास शिक्षा ग्रहण करते रहे प्रो० कनेडी बाद में कैम्ब्रिज में

ग्रीक भाषा के रेजिस[३] बना दिये गये थे। दो वर्ष तक प्रसिद्ध मनीषी डब्ल्यू० मौस की अध्यक्षता में रहकर ग्रियर्सन ने सन् १८६८ में स्कूल छोड़ दिया। कदाचित् स्कूल की कठोर परम्परापिष्ठ शिक्षा का ही परिणाम था कि जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन जैसा प्रतिभा-सम्पन्न छात्र उच्चतर पाँचवे वर्ग[४] से आगे न बढ़ सका। ग्रियर्सन के सहपाठियों में सर चार्ल्स येट, आक्सफ़ोर्ड के बिशप फ्रांसिस पेजट, डलविच के प्रधान अध्यापक ए० एच० गिल्के और टी० ई० पेज आदि बाद में बहुत प्रख्यात हुए।

ट्रिनिटी कालेज डबलिन में जार्ज ग्रियर्सन प्रो० राबर्ट एटकिन्स के निकट सम्पर्क मे आए जिसका उनके पठन-पाठन तथा परवर्ती जीवन-कार्य पर बड़ा गहरा असर पड़ा। यों तो ग्रियर्सन भाषाविज्ञान के अध्ययन के लिए प्रो० एटकिन्स के पास प्रायः जाया करते थे, परन्तु उसके साथ संगीत, मुगदर तथा छड़ी के खेल की शिक्षा भी प्राप्त करते रहते थे यद्यपि उनका प्रमुख आकर्षण भाषा-साहित्य का अध्ययन ही था। विश्वविद्यालय से सन् १८७२ में संस्कृत और सन् १८७३ में हिन्दुस्तानी के लिय पुरस्कार-प्राप्ति इसी का सुपरिणाम था।

जिन दिनों ग्रियर्सन डबलिन में विद्यार्थी थे, वे सप्ताह के अन्त में प्रायः वर मलाहिड चले जाते थे। एक तो ग्रियर्सन मेधावी छात्र थे, दूसरे स्वभाव से हँसमुख भी, अतः परिवार मे उनके आने पर अनेक रूप में खुशियाँ मनाई जाती थीं। प्रीति-भोज तथा संगीत-गोष्ठियो मे स्वय ग्रियर्सन वायलिन बजाते थे। उन्हीं दिनों डबलिन के प्रसिद्ध शल्य-चिकित्सक डॉ० मारिस हेनरी फ़िट् ज़िगराल्ड कालिस का परिवार मलाहिड में आ बसा। डॉ० कालिस की मृत्यु हो चुकी थी, ग्रियर्सन की बहिन शार्लट का कालिस-परिवार से मेलजोल बढ़ गया। डॉ० कालिस की सबसे बड़ी लड़की लूसी एलिज़ाबेथ जीन और ग्रियर्सन की मैत्री प्रणय-सूत्र में बँध चली। चार वर्ष बाद जब ग्रियर्सन भारतीय सिविल सेवा परीक्षा उत्तीर्ण कर (सन् १८७१) ट्रिनिटी कालेज में दो वर्ष परिवीक्षा पर रहकर अन्तिम परीक्षा में बारहवाँ स्थान प्राप्त कर सफल हुए तथा बंगाल प्रेसिडेंसी में नियुक्ति प्राप्त की, तब भी कालिस-परिवार लूसी-ग्रियर्सन के प्रणय-सम्बन्ध पर कोई निश्चय नहीं कर पाया। अतः जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन अक्तूबर सन् १८७३ में अकेले ही भारत को रवाना हो गये।

ग्रियर्सन की नियुक्ति बंगाल के जैसौर ज़िले में सहायक मजिस्ट्रेट, क्लेक्टर और छोटे मुकदमों का फैसला करने के लिए कोर्ट-जज के पद पर हुई। सन् १८७४ में आपकी बदली दुर्भिक्ष-पीड़ित बिहार के महकमे में हो गई। उसके बाद इनकी बदली जल्दी-जल्दी होती रही। प्रतिकूल जलवायु का प्रभाव ग्रियर्सन पर पड़ा। अन्त में सन् १८८० में तीन मास का विशेष अवकाश लेकर वे घर वापिस लौट गये। सात वर्ष बाद, एक बार फिर उन्होंने लूसी कालिस के सामने विवाह-प्रस्ताव रखा और इस बार उनको सफलता भी मिली। विवाह के समय लूसी कालिस की आयु छब्बीस वर्ष की थी। ग्रियर्सन पत्नी सहित इस बार भारत लौटे।

बिहार सर्किल में ग्रियर्सन स्कूल-इन्स्पेक्टर के रूप में पुनः नियुक्त हुए। यहाँ ब्रिटिश सरकार ने इन्हें कैथी अक्षर ढलवाने का कार्य भी सौंपा। बाद में सन् १८८१ में उन्हें फिर सहायक मजिस्ट्रेट और कलेक्टर के पद पर वापिस भेज दिया गया नौकरी का शेष अधिकाश भाग ग्रियसन ने पटना, गया तथा दक्षिण बिहार के विभिन्न नगरो में व्यतीत किया कुछ

अवधि के लिए उन्हें दरभंगा (उत्तर बिहार) अर्थात् तिरहुत फिर भेजा गया था। सन् १८८४ से वे पटना के संयुक्त मैजिस्ट्रेट और कलेक्टर बना दिये गये। लगभग दो वर्ष के लम्बे अवकाश तथा हावड़ा में विशेष ड्यूटी पर कार्याधीन रहने के उपरान्त गया में आकर आप अपेक्षाकृत अधिक स्थायी रूप में (सन् १८८७-१८९२) रहे। सन् १८९० में ग्रियर्सन को मैजिस्ट्रेट और कलेक्टर बना दिया गया। मार्च १८९२ ई० से मई १८९४ ई० तक ग्रियर्सन पुनः हावड़ा में रहे। एक वर्ष की लम्बी छुट्टी के उपरान्त वे सन् १८९५ में पटना के अपर कमिश्नर के पद पर आसीन हुए। उनकी अन्तिम वैधिक नियुक्ति (सन् १८९६) बिहार में अफ़ीम एजेन्ट के रूप में हुई थी। अप्रैल सन् १८९७-१८९८ तक अवकाश-ग्रहण करने के बाद ग्रियर्सन ७ मई, १८९८ को 'भारत का भाषा-सर्वेक्षण' के नवस्वीकृत सुपरिन्टेंडेंट के पद पर प्रतिष्ठित हुए। इस बार इनको कमिश्नर का वेतन दिया गया और इस वृहद् कार्यपूर्ति के लिए मकान के किराये और दफ्तर की सभी सुविधाएँ भी दी गई। डॉ० ग्रियर्सन ने अब अपने अवकाश के क्षण इंगलैण्ड में व्यतीत करने का निश्चय किया। कारण यह था कि वे सुचारू रूप से कार्य-संचालन करने के हेतु वहाँ के समृद्ध पुस्तकालयों तथा मनीषिवर्ग की सहायता के आकांक्षी थे। परिणामतः सितम्बर १९०० ई० में जब अवकाश समाप्त हो गया, तब भी ग्रियर्सन को विशेष ड्यूटी पर वहीं रहने की अनुमति मिल गई। उन्होंने अपना निवास एवं कार्य-स्थल 'केम्बर्ली' बनाया जिसके साथ उनके मन में भारतीय सिविल सेवा की अनेक स्मृतियाँ जुड़ी थीं। सन् १९०३ में ग्रियर्सन ने 'राथफ़र्नहम' नाम से घर बनवा कर मानो कार्य-निवृत्ति के बाद का भी सब प्रबन्ध कर लिया। पैतृक नाम पर निर्मित 'राथफ़र्नहम' लगभग चालीस वर्ष तक भारतीय संवाददाताओं, यात्रियों और प्राच्य विद्वानों का गोष्ठी-केन्द्र बना रहा।

ग्रियर्सन के भारत-निवास की अवधि मात्र सरकारी नौकरी की दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण नहीं है, बल्कि तत्कालीन ब्रिटिश सरकार के आतंक और विदेशी जिला-अधिकारियों को ध्यान में रखते हुए यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि डॉ० ग्रियर्सन शासित प्रजा के प्रति अत्यन्त सहिष्णु एवं सदय थे। उन्होंने जनता पर संवेदनशील होकर शासन किया। कहा जाता है कि जब वे दौरे पर जाते थे तो भारतीय किसानों के समूह अपनी-अपनी समस्याएँ लेकर उनके तम्बू के चारों ओर से घेर लेते थे। ग्रियर्सन की विशेषता यह थी कि वे उन्हें दुत्कारते नहीं थे, बल्कि पिता का स्नेह देकर उनके कष्टों को दूर करने का यत्न करते थे। साथ ही जन-जीवन में प्रचलित गीतों, लोक-कथाओं या मजाहिया खाकों आदि के प्रति उनकी आग्रहपूर्ण रुचि भारतीय प्रजा और विदेशी शासकों के बीच सुदृढ़ कड़ी का काम करती रही। ग्राम्य भारत के लोक-साहित्य और बहुभाषी-देश की विभिन्न भाषाओं, उपभाषाओं का अध्ययन करने में ग्रियर्सन को Le rat dans le Fromage कहा जाता है, यद्यपि यह रुचि वे अपने देश से साथ लाये थे।

भारतीय लोक-साहित्य एवं उच्चतर साहित्य पर ग्रियर्सन विरचित विविध निबन्धों पर विहगम दृष्टिपात करते ही उनके व्यापक योगदान का अन्दाजा लगाया जा सकता है। भारत-निवास की अवधि में उन्होंने जन-जीवन में व्याप्त आध्यात्मिक चिन्तन को हर पहलू से समझने का सजग प्रयत्न किया। यदि एक ओर वे तुलसी के मानस' की हृदयस्पर्शी भावनाओं और

बिहारी के दोहों से प्रभावित थे तो दूसरी ओर वेद मंत्रोच्चार कालिदास की सूक्तियों से भी अभिभूत थे। ग्रियर्सन के शिक्षकों में यदि एक ओर 'अद्वैत' में अटूट विश्वास रखनेवाले सूक्ष्मदर्शी चिन्तनशील पण्डित थे तो दूसरी ओर अनगढ़ अटपटी बोली का उपयोग करनेवाले अन्धविश्वासों के शिकार वे ग्रामीण भी थे जो गाँव की चौपाल में किसी पेड़ के नीचे बैठकर हरिकीर्तन में लीन दिखाई देते थे।

टर्नर साहब का कहना है कि ग्रियर्सन का लोकसाहित्य आधुनिक यूरोपीय विचार पर आधृत न होकर मध्यकालीन धारा से पोषित है।[५] डॉ० ग्रियर्सन ने यह समझ लिया था कि दीर्घ साहित्यिक-परम्परा-प्रधान भारत देश में चाहे अधिकांश जनता अपढ़ हो, किन्तु जहां चारण-भाट या भजन-मण्डलियों की वाणी में लोक-साहित्य सुरक्षित है और प्रजा की शिक्षा का वही मात्र साधन है, वहाँ उन गीतों का विषय चाहे धार्मिक हो अथवा सामाजिक, उसमे प्राचीन साहित्यिक परम्परा के चिह्न अवश्य उपलब्ध होंगे। अतः उन्होंने भारत में प्रचलित लोक-कथाओं, गीतों आदि का न केवल संकलन किया, बल्कि उनकी विदेशी समानान्तर कथाएं एवं गीत भी खोज निकाले। गँवई-गाँव में मौखिक रूप से प्रचलित इन लोक-साहित्य के अंशो का संकलन, संशोधन, लिप्यन्तरण आदि करने में उन्हें कैसी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, उनके तत्सम्बन्धित लेखों से ज्ञात होता है। साहित्यिक सन्दिग्ध कृतियों को भी वे यथाशक्ति वैज्ञानिक बनाने के लिए हस्तलिखित पाठ उपलब्ध करने तथा परम्परा या कवि का नाम अथवा रचनाकाल आदि का शोध करने में निरन्तर प्रवृत्त पाये जाते थे।

किन्तु जैसा कि सर्वविदित है, ग्रियर्सन के अध्ययन का प्रमुख केन्द्र भारत की भाषाएँ थीं। यों तो बंगाली, हिन्दी, पंजाबी आदि विभिन्न प्रमुख भाषाओं के अस्तित्व का सभी को ज्ञान था और ग्रियर्सन से पूर्व हॉर्नले बिहारी भाषा सम्बन्धित 'कम्पैरेटिव ग्रामर ऑफ़ द गौडियन लैंग्वेजेज़' शीर्षक ग्रंथ भी (सन् १८८०) लिख चुके थे, परन्तु जैसे ही भारत मे आकर ग्रियर्सन बंगाल और बिहार जिले में नियुक्त हुए, वे भाषा सम्बन्धी शोध-कार्य में व्यस्त हो गये। नवम्बर १८७६ ई० तक वे बंगाल की 'एशियाटिक सोसाइटी' के निशुल्क सदस्य हो चुके थे। भाषाविज्ञान और साहित्य से सम्बद्ध लगभग सभी प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं से उन्होंने किसी न किसी रूप में सम्पर्क भी स्थापित कर लिया। सन् १८५६ में वे बगाल की एशियाटिक सोसाइटी के सेक्रेटरी हो गये तथा 'इण्डियन एण्टीक्वेरी' में वे योरोपीय विद्वानो की प्रगति की रिपोर्ट भी देने लगे। चूँकि सन् १८७६ में भारत आते ही वे सर्वप्रथम उत्तर बगाल के जिला रंगपुर में नियुक्त हुए थे, अतः उनका भाषा-अध्ययन वहीं से प्रारम्भ होता है। सन् १८७७ में उनके 'नोट्स ऑन रंगपुर डाइलेक्ट तथा १८७८ ई० में 'आन द रंगपुरी जनेटिव' शीर्षक लेख निकले। सन् १८७७ के अन्त में जब उनकी बदली भागलपुर और फिर दरभंगा जिले में हुई, तब उनके लेखों की शृंखलाबद्ध कड़ी प्रारम्भ हुई जिसको टर्नर ने 'बिहारी-काल'[६] कहा है। कारण यह है कि उस काल में उन्होंने बिहारी तथा उसके आस-पास की अनेक बोलियों में प्रणीत काव्य, कथा आदि से सम्बन्धित लेख प्रकाशित किये। सन् १८७८ में 'द सौंग आफ़ मानिकचन्द्र', सन् १८८२-१८८४ में 'मनबोध का हरिवंश' तथा 'टवेन्टी वन वैष्णव हिम्स' (१८८४) 'सांग ऑफ़ बिजैमल' तथा 'सम बिहारी फ़ोक सौंग्ज़

'सेलेक्टेड स्पैसिमन ऑफ़ बिहारी लैंग्वेज,' सन् १८८५ में 'द बैट्ल ऑफ़ कनार्पी घाट', 'द् वर्जन्स ऑफ द सौंग ऑफ़ गोपीचन्द' तथा 'द सौंग ऑफ़ आल्हाज़ मैरिज' प्रकाशित हुए। उन्हीं दिनों ग्रियर्सन ने बिहारी निवासियों के जीवन-धन्धे, रीतिरिवाज, अन्ध-विश्वास, ऋतु-परिवर्तन आदि से सम्बद्ध सन् १८८४ में 'बर्थ कस्टम्स' शीर्षक लेख तथा सन् १८८५ में 'बिहार पीजेन्ट लाइफ़' शीर्षक ग्रथ प्रकाशित किया। लगभग सभी गीतों और कथाओं के साथ लेखक ने भाषा, व्याकरण और अर्थ-सम्बन्धी विस्तृत टिप्पणियाँ भी प्रस्तुत की थीं। सन् १८८१ में उनकी प्रसिद्ध कृति 'एन इन्ट्रोडक्शन टु द मैथिली लैंग्वेज ऑफ़ नॉर्थ बिहार' एवं सन् १८८३ में 'सैवन ग्रामर्स ऑफ द डायलैक्ट्स एण्ड सब-डायलैक्ट्स ऑफ़ बिहारी लैंग्वेज' और 'एसेज ऑन बिहारी डिक्लैन्शन्स एण्ड कान्जुगेशन्स' प्रकाश में आ चुकी थीं। उल्लिखित ग्रंथ एवं लेख किसी पूर्व कृति पर आधारित प्रयास नहीं है, अपितु उस क्षेत्र से सम्बद्ध है जहाँ ग्रियर्सन नियुक्त थे। बिहारी जन साहित्य के प्रति उनका यह सौहार्द, टर्नर साहब के विचार में ग्रामीणों के प्रेम के कारण था।[७] हाँ, इस अवधि में उनके लेखों में धर्म को कोई स्थान नहीं मिला है। बिहारी भाषा और संस्कृति पर इस बृहद् अनुसन्धानात्मक कार्य की तत्कालीन विद्वत्समाज में बड़ी प्रशंसा हुई थी। डॉ० हार्नले ने तो यहाँ तक कह डाला कि डॉ० जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने ही बिहारी भाषा का नामकरण किया है।[८] यहाँ डॉ० हॉर्नले तथा ग्रियर्सन के संयुक्त प्रयास 'कम्पैरेटिव डिक्शनरी ऑफ़ द बिहारी लैंग्वेज' का उल्लेख भी अप्रासंगिक न होगा। इसका दूसरा भाग सन् १८८९ में प्रकाशित हुआ था।

उसके उपरान्त ग्रियर्सन का ध्यान हिन्दी तथा उसकी शाखा अवधी और ब्रज आदि की ओर आकृष्ट हुआ जिनमें गोस्वामी तुलसीदास और महात्मा सूरदास जैसे महाकवि हो चुके थे तथा जो सदियों से उत्तर भारत की प्रमुख साहित्यिक भाषा के रूप में स्वीकृत थीं। बिहारी का स्वतंत्र अस्तित्व घोषित करने के लिए उन्होंने 'ए प्ली फॉर पीपुल्स टंग 'शीर्षक जो लेख १८८० के 'कलकत्ता रिव्यू' में प्रकाशित किया था उसमें प्रकारान्तर से हिन्दी की ओर भी संकेत किया था। सन् १८८५ के बाद हम उन्हें इस दिशा में अधिक प्रवृत्त पाते हैं। वियना की अन्तर्राष्ट्रीय ओरिएण्टल कांग्रेस (सन् १८८६) में ग्रियर्सन ने 'द मिडीवल वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान विद स्पेशल रिफ़रेंस टु तुलसीदास' शीर्षक निबन्ध पढ़ा। उसके बाद सन् १८८९ में 'द मार्डन वर्नाक्युलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तान' शीर्षक हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास बंगाल एशियाटिक सोसाइटी से प्रकाशित हुआ। इसमें लगभग ९५० कवियों का जीवन-वृत्त तथा ग्रंथ-परिचय दिया गया है और गार्सां द तासी के इतिहास से सत्तर से अधिक कवि समाविष्ट हैं। सन् १८९० में आपने छत्तीसगढ़ी बोली का व्याकरण संपादित एवं हिन्दी से अनूदित किया। सन् १८९३ में जायसी के प्रसिद्ध 'पद्मावत' काव्य पर विस्तृत लेख निकला जो कालान्तर में छह स्वतंत्र भागों में प्रकाशित भी हुआ। 'इण्डियन एण्टीक्वेरी' (१८९३ ई०) में गोस्वामी तुलसीदास पर टिप्पणियाँ तथा 'कवित्त रामायण' (१८९८ ई०) एवं 'धर्म सुधारक एवं कवि तुलसी' (सन् १९०३) जैसे लेख वस्तुत: ग्रियर्सन की तुलसी-काव्य के प्रति अमित आकर्षण और कवि के प्रति अटूट श्रद्धा के परिणाम थे सन् १८९४ में उन्होंने महाराज जसवन्तसिंह का भाषा भूषण सम्पादित एवं

अनूदित किया। इस संदर्भ में उनका सन् १८९६ में 'बिहारी सतसई' पर टिप्पणी एवं संपादन भी उल्लेख्य है। हिन्दी से सम्बन्धित लेखों की सूची से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि ग्रियर्सन उन दिनों केवल इसी दिशा में व्यस्त थे। सन् १८८३ में उन्होंने अपनी पत्नी द्वारा संगृहीत 'एन इंगलिश जिप्सी इन्डैक्स' पर परिचयात्मक लेख लिखा। तत्सम्बन्धी और भी कई लेख 'इण्डियन एण्टीक्वेरी' एवं 'जिप्सी लोर सोसायटी' की पत्रिका में प्रकाशित हुए। कुछ वर्ष (१९२८-१९३० ई०) ग्रियर्सन इस संस्था के अध्यक्ष भी रहे थे।

उपर्युक्त विभिन्न विषयों पर विकीर्णक लेखावलि के पीछे ग्रियर्सन का भाषा-विज्ञान के प्रति प्रेम विम्बित होता है। टर्नर साहब के विचार में तो शुद्ध इतिहास सम्बन्धी लेख भी इसी अभिरुचि की ओर संकेत करते हैं[९]। सन् १८८६ में वियना की कांग्रेस ने ग्रियर्सन के मनोबल को और भी सुदृढ़ कर दिया। कारण यह था कि वे ऐसे पाश्चात्य विद्वानों के सम्पर्क में आए जिन्होंने इनके अध्ययन की रीति-नीति को परिवर्तित कर दिया। फलस्वरूप डॉ० ग्रियर्सन ने कांग्रेस के समक्ष भारत के भाषा-सर्वेक्षण का प्रस्ताव रखा। ब्रिटिश सरकार ने कांग्रेस के इस प्रस्ताव को पूर्ण रूप से क्रियान्वित करने में चार वर्ष लगाये। इस योजना की सामान्य रूपरेखा एवं विस्तार को निर्धारित करने के लिए डॉ० ग्रियर्सन को निदेशक चुना गया। अपने अध्यापक एटकिन्सन की अतृप्त आकांक्षा को पूर्ण करने के लिए इस प्रकार ग्रियर्सन ने पहला कदम उठाया। जैसा कि उपर उल्लेख किया जा चुका है, सन् १८९८ में वे भारत के भाषा-सर्वेक्षण के लिए विशिष्ट सेवा पर नियुक्त कर दिये गये और कार्य-पूर्ति के निमित्त उन्हें लगभग सभी सुविधाएँ भी दी गईं—उदाहरणार्थ दैनिक-भत्ता, मकान का किराया, कलकुलेटिंग मशीन, सिविल सेवा सूची आदि।[१०] इण्डिया ऑफिस की मारफत वे भाषा-सर्वेक्षण के लिए उपादेय पुस्तकों के बक्स मंगवाया करते थे।[११] ग्रियर्सन को ए० डब्ल्यू० डेविस आई० सी० एस० जैसे उच्च समकालीन पदाधिकारियों का पूर्ण सहयोग भी प्राप्त था। होम डिपार्टमेंट के विवरण में उनका उत्तर लुशाई पर्वत का गजेटियर भेजना भी उल्लिखित है।[१२] उनके प्रसिद्ध नारवेजियन सहायक डॉ० स्टेन कोनो की सहायता का अनुमान भी इन विवरणों से लगाया जा सकता है। भाषा-सर्वेक्षण के दौरान मुद्रण सम्बन्धी कठिनाइयों का उन्हें किस प्रकार सामना करना पड़ा था और उन्होंने किस सूक्ष्म अन्वीक्षक अनुसंधाता के गुणों का परिचय दिया था, यह भी विवरणों से ज्ञात होता है।[१३] तभी से हम ग्रियर्सन को हिन्दी ही नहीं, अन्य भारतीय एवं आर्य-भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन में लीन पाते हैं।

काश्मीर में एक वर्ष (सन् १८९४-१८९५) के अवकाश का परिणाम यह हुआ कि डॉ० ग्रियर्सन ने काश्मीरी भाषा का अन्य भारतीय भाषाओं से साम्य-वैषम्य खोजकर अनेक गवेषणात्मक निबन्ध लिखे। इस सम्बन्ध में 'बुरखर्ड्'स एस्सेज ऑन काश्मीरी-ग्रामर' (सन् १८९७) तथा पं० ईश्वर कौल के काश्मीर 'शब्दामृत' का अनुवाद, परिवर्द्धन और टिप्पणी इनकी देन है। ग्रियर्सन का काश्मीरी भाषा-सम्बन्धी अनुसंधान भाषाविज्ञान के इतिहास में बड़ा महत्वपूर्ण है सर जेम्स विल्सन के शिणों की गुरेजी बोली[१४] नामक लेख के आमुख में ग्रियर्सन ने दर्द शिणा काफिर आदि उन भाषाओं पर भी शोधपूर्ण दृष्टि डाली जो

काश्मीर की घाटी से लेकर हिन्दूकुश तक फैली थी। भारत की अन्य बोलियों से काश्मीर की स्थानीय बोलियों के अन्तर का संकेत उन्होंने 'ऑन पशई सघमानी एण्ड डेहगानी' शीर्षक लेख मे दिया जो क्रम से जर्मन ओरिएण्टल सोसाइटी की पत्रिका में सन् १६०० में प्रकाशित हुए।[१५] उन्होंने इन उपभाषाओं एवं बोलियों को भारतीय ईरानी भाषा से अधिक सन्निकट माना और अन्त में एक स्वतंत्र ग्रंथ 'द पिशाच लैंग्वेजेज़ ऑफ़ नार्थ वैस्टर्न इण्डिया' में निश्चित रूप से भारतीय आर्य भाषाओं से पृथक घोषित किया। कालान्तर में ग्रियर्सन ने भारतीय ईरानी भाषाओं का क्षेत्र सिन्धु: पार लहंदा और सिन्धी, वज़ीरीस्तान की ओर मुंड़ी या बर्गिस्ता तक विस्तृत कर दिया। इन बोलियों को उन्होंने अफ़गानिस्तान और भारत की सीमाओं के उत्तर से हिन्दूकुश पर्वत से प्रविष्ट भाषा का अंश माना।

इस प्रकार भाषा-सर्वेक्षण की योजना को सरंजाम देने के लिए तीस वर्ष तक कठोर परिश्रम में रत रहकर भी डॉ० ग्रियर्सन स्वतंत्र रूप से भाषा विज्ञान, साहित्य और धर्म सम्बन्धी अनेक स्वतंत्र लेख प्रकाशित करते रहे। उनके अध्यवसाय का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि वे बार-बार उन विषयों पर पुनर्विचार करते रहे जिन्हें वे बीच बीच मे कार्यव्यस्त होने के कारण छोड़ देते थे। भारतीय लोक-साहित्य की पाश्चात्य साहित्य से अभिन्नता स्थापित करने के लिए डॉ० ग्रियर्सन ने 'वॉटर ऑफ़ लाइफ़', 'द हैडलैस हॉर्समैन' 'दुर्योधन एण्ड द क्वीन आफ़ शैबा' आदि लेख भी लिखे। सन् १८८५ में नष्ट 'बिहार पीज़ेण्ट लाइफ़' ग्रन्थ का परिवर्द्धित संस्करण सन् १६२६ में पुनर्मुद्रित हुआ। इनके अतिरिक्त इनके भारतीय धर्म एवं भक्ति विषयक कई लेख सन् १६०८ से १६२६ तक 'एन्साइक्लोपीडिया ऑफ़ रिलिजन एण्ड एथिक्स' में सामने आये। इन्होंने प्रारम्भ में यह मान्यता स्थापित करने की चेष्टा की कि भारतीय अद्वैतवाद प्राचीन ईसाई धर्म का रूपान्तर है। किन्तु बाद में उनकी यह भ्रांति दूर हो गई और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भारतीय भक्तिसाधना ईसाई धर्म से कहीं पुरानी है। उनके मन में यह धारणा भी बद्धमूल हो गई थी कि पुरातन भागवतधर्म भगवद्गीता से उद्भूत है जो महाभारत का अंश है। वे इस बात पर बराबर बल देते रहे कि परवर्ती काल में ईसाइयों का भारतीयों पर अभूतपूर्व प्रभाव पड़ा। सन् १६०७ में उनका 'मॉडर्न हिन्दुइज्म एण्ड इट्स डेट टु द हिस्टारियन्स' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ। ऑक्सफर्ड की तीसरी अन्तर्राष्ट्रीय कॉंग्रेस (सन् १६०८) में उन्होंने धर्म के इतिहास पर दो लेख पढ़े जिसमें अपनी भक्ति सम्बन्धी धारणाओं को स्पष्टतर रूप दिया। ये दोनों लेख 'एशियाटिक क्वार्टर्ली रिव्यू' के तेईसवें अंक में (सन् १६०६) ज्यों के त्यों प्रकाशित हुए थे। इनके अतिरिक्त रायल एशियाटिक सोसाइटी की कतिपय पत्रिकाओं में सन् १६०७-१६११ तक 'हिन्दुइज्म एण्ड अर्ली क्रिश्चियनिटी', 'हिन्दुइज्म एण्ड भक्ति', 'द मॉडर्न हिन्दू डाक्ट्रिन आफ़ वर्क्स', 'द नारायनीज़ एण्ड द भागवताज', 'ग्लीनिग्ज फ्रॉम भक्तमाल' आदि लेखों में भी डॉ० ग्रियर्सन की भक्ति सम्बन्धी धारणाएँ पाठकों के समक्ष आईं।

डॉ० ग्रियर्सन ने भारतीय साहित्य पर भी कठोर परिश्रम किया था। उससे सम्बन्धित एक लेख १६०७ ई० के इम्पीरियल गजेटीयर में प्रकाशित हुआ था सन् १६२० १६३० तक की पत्रिकाओं में उनके साहित्य सम्बन्धी अनेक लेख मिलते हैं 'द पाप्युलर लिटरेचर

आफ नार्दन इण्डिया (सन् १९२०) में गीतों का संकलन एवं अनुवाद, आल्हाखण्ड से उद्धृत 'द ले ऑफ ब्रह्माज मैरिज' (सन् १९२३), 'द बर्थ ऑफ लोरिक' (सन् १९२८) के सम्पादन एवं अनुवाद के अतिरिक्त वॉटरफील्ड का 'द ले ऑफ आल्हा' पर परिचयात्मक लेख के अनूदित भाग का सारांश इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। कश्मीरी भाषा में लल्लावाक्यायिनी[15] का अनुवाद एवं टिप्पणी लिओनल डी० बार्नेट के सह-सम्पादन में तैयार किया गया। यह ग्रन्थ साहित्य और धर्म, दोनों दृष्टि से महत्वपूर्ण है, किन्तु भाषा-विज्ञान की दृष्टि से उसका महत्व, छह शताब्दियों तक मौखिक रूप में प्रचलित रहने के कारण अवश्य निर्धारित नहीं किया जा सका। सर रिचर्ड टैम्पल ने इसे बाद में प्रकाशित भी कराया था। सन् १९३० में 'काश्मीरी रामायण' का आंशिक अनुवाद एवं सम्पादन संक्षिप्त सार एवं परिचय सहित प्रकाशित हुआ। यह ग्रन्थ रूपान्तरण की दृष्टि से तो महत्वपूर्ण है ही, भाषा-विज्ञान के विचार से भी पठनीय है। 'श्री कृष्णावतार लीला' तथा 'शिव परिणय' का रोमन लिपि में प्रकाशन, अनुवाद एवं प्रयुक्त संस्कृत शब्दों के सम्पादन का प्रमुख आधार भी भाषा-विज्ञान था। पन्द्रहवीं शताब्दी के 'महानय प्रकाश' का सम्पादन भी उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त डॉ० ग्रियर्सन ने 'काश्मीरी स्टोरीज एण्ड सौंग्स' शीर्षक ग्रन्थ का भाषा वैज्ञानिक विश्लेषण भी प्रस्तुत किया। इसमें उन्होंने अनुवाद के अतिरिक्त सूची एवं शब्दकोश भी दिया। प्रस्तुत ग्रन्थ का लिपिकरण सर्वप्रथम सर ऑरल स्टेन ने कराके डॉ० ग्रियर्सन को दिया था।[16] इससे पूर्व सन् १९१५ में डॉ० ग्रियर्सन कश्मीरी के वैज्ञानिक वर्गीकरण पर लेख लिख चुके थे। भाषा-अध्ययन के निमित्त उन्होंने दो भागों में एक गुटका भी दिया था जिसमें व्याकरण, मुहावरे और कोश थे। यह सन् १९११ में ऑक्सफर्ड से प्रकाशित हुआ था। सन् १९१५ से १९२३ तक डॉ० ग्रियर्सन ने पं० ईश्वर कौल के अधूरे कार्य को पूर्ण करने के कश्मीरी विद्वान मित्र मुकुन्दराम शास्त्री की सहायता से कश्मीर कोश तैयार किया।

डॉ० ग्रियर्सन ने प्राकृत भाषा का भी विस्तृत अध्ययन किया था। यों तो उनसे पूर्ववर्ती अनेक मनीषी प्राकृत का अध्ययन कर चुके थे, पर सर्वप्रथम ग्रियर्सन ने प्राकृत-अध्ययन के लिए दो वर्ग स्थापित किये—एक प्राच्य तथा दूसरा पाश्चात्य। इस अध्ययन का सुपरिणाम यह हुआ कि स्थान-भेद से प्राकृत की अनेक उपशाखाएँ निश्चित की गईं। साथ ही ग्रियर्सन ने व्याकरण के मूल संस्कृत पाठ का सम्पादन तथा कठिन स्थलों के पाठान्तर भी प्रस्तुत किये। इस प्रकार उन्होंने अपनी समीक्षा-क्षमता के साथ अपने गंभीर संस्कृत-ज्ञान का भी परिचय दिया। सन् १९१८ में 'द प्राकृत विभाषाज,' सन् १९२२ में 'अपभ्रंश स्तवक', १९२४ ई० में 'प्राच्य एवं पाश्चात्य विचारधारा के आधार पर प्राकृत के धात्वदेश' तथा सन् १९२७ में शौरसेनी एवं मागधी स्तवक पर लेख भी प्रकाशित हुए। यों तो ग्रियर्सन ने आधुनिक आर्य-भाषाओं की जननी अपभ्रंश पर भी अपने विचार प्रकट किये थे किन्तु उनका ध्यान अधिकांशतः पैशाची प्राकृत पर ही अधिक रहा। जर्मन ओरिएण्टल सोसायटी की सन् १९१२ की पत्रिका में उन्होंने 'पैशाची की व्युत्पत्ति तथा उसका अन्य भाषाओं से सम्बन्ध' शीर्षक लेख लिखा 'लिंग्विस्टिक रिलेशन्स ऑफ द शाहबाजगढी इन्सक्रिप्शन्स (१९०४ ई०) तथा

आन द ओल्ड नार्थ-वैस्टन प्राकृत (सन् १९२७) में उन्होंने पुरानी बोलियों का क्रियात्मक विवेचन किया। साथ ही पालि पर भी कुछ विचार प्रस्तुत किये गये।

डा० ग्रियर्सन का भारतीय लिपि तथा व्याकरण सम्बन्धी कार्य पर दृष्टिपात कर लेना भी अप्रासंगिक न होगा। प्रारम्भ में बताया जा चुका है कि सन् १८८१ में उन्हें कैथी लिपि के अक्षर ढालने का कार्य सौंपा जा चुका था। उनके 'द मॉडर्न इण्डोआर्यन एल्फाबेट्स ऑफ़ नार्थ वैस्टर्न इण्डिया' (सन् १९०४), 'द तक्री एलफाबेट्स एण्ड द सारदा एल्फाबेट्स (आफ़ कश्मीर)' शीर्षक लेखों में लिपियों पर विस्तार से सूचना उपलब्ध है। भाषा-सर्वेक्षण के विभिन्न खण्डों में भी लिपियों पर यथास्थल विचार किया गया है।

प्रो० ई० ए० सोनेन्श्चीन ने एक प्राच्य परिषद् की स्थापना की थी जिसका कार्य व्याकरण-निर्माण की योजना बनाना था। एक परम्परानिष्ठ संस्था की स्वीकृति के पश्चात् परिषद् की विभिन्न गोष्ठियों में सम्बद्ध योजना पर विचार-विमर्श होना था। इसकी अध्यक्षता प्रो० सोनेन्शचीन तथा रिपोर्ट डॉ० ग्रियर्सन तैयार करते थे। इस प्रकार की एक रिपोर्ट सन् १९३० में ऑक्सफोर्ड प्रेस से छपी थी।

यहाँ डॉ० ग्रियर्सन के उस कार्य का उल्लेख भी अप्रासंगिक न होगा जो सर्वेक्षण से स्वतंत्र किन्तु उसी क्षेत्र में प्रगतिशील रहा। सन् १९०१ में उन्होंने राजस्थानी बोलियों का वर्गीकरण तथा हिन्दी-गुजराती से उनका सम्बन्ध स्थापित किया। सन् १९१४ में उन्होंने भारत की उत्तरपर्वतीय बोलियों पर गवेषणात्मक विचार प्रकट किये। इस बीच वे जर्मन प्राच्य-संस्था की पत्रिका में (१९०७ ई०) कुमायूँ घाटी की विभिन्न बोलियों पर टिप्पणी लिख चुके थे। साथ ही आपने 'पालि' एवं 'खस' पर एक विस्तृत निबन्ध-पाठ भी किया। सन् १९०२ में 'मुग्धावबोध मौलिक' के पाठ से प्राचीन गुजराती भाषा की अनुवानि एवं विकासमूलक इतिहास भी प्रस्तुत किया जा चुका था। उनका 'तिराही' एवं 'तोरवाली' पर भी एक लेख उल्लेखनीय है जिसकी मूल शोध-सामग्री सर ऑरल स्टैन ने दी थी। कदाचित् इस सामग्री से प्रेरणा लेकर ही ग्रियर्सन ने दर्द-परिवार की बोलियों का कोश एवं व्याकरण भी बनाया। इन दर्द-बोलियों के अस्तित्व की प्रतिष्ठा के लिए डॉ० ग्रियर्सन ने दक्षिण-पश्चिम अफगानिस्तान की 'ओरमुड़ी' या 'बर्गिस्ता' पर भी महत्वपूर्ण निबन्ध लिखा जिसका उल्लेख उनके प्रबन्ध 'इश्कास्मी, जेबाकी और यजगुलामी' (सन् १९२०) में उपलब्ध है। प्रस्तुत ईरानी भाषाओं की सामग्री-चयन का श्रेय भी सर ऑरल स्टैन को दिया जाता है। स्मरण रहे कि ब्रिटिश सरकार ने उपर्युक्त बोलियों पर अनुसन्धानात्मक कार्य करने का कोई आदेश नहीं दिया था, यह कठोर परिश्रम स्वयं उनकी इच्छा का ही परिणाम था। 'इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' के ग्यारहवें संस्करण में इन्होंने 'आहोम' (स्यामी-ताई परिवार की असमिया भाषा) तथा अन्य भारतेतर परिवार की भाषाओं पर भी विविध लेख लिखे। इस सन्दर्भ में उनके 'नोट्श ऑन आहोम', 'एन आहोम कास्मोगोमी विद ए ट्रान्सलेशन एण्ड ए वोकैब्युलरी ऑफ़ द आहोम लैंग्वेज' शीर्षक दो विस्तृत निबन्ध पठनीय हैं। अपने नारवेजियन मित्र प्रो० स्टैन कोनों की सहायता से सन् १९०२ में वे तिब्बत और चीन वर्ग की कुकिचिन् बोली पर भी विचार प्रकट कर चुके थे

एक बात और! शब्द का लहजा अथवा 'टोन' अथवा स्वराघात या स्वर-लहर जिसमें शब्द अथवा वर्ण बोला जाता है और जिससे शब्द के अर्थ और धातु में भी अन्तर आ जाता है, उस पर भी उनका विशेष ध्यान गया। विभिन्न उपभाषाओं के शब्दों का तुलनात्मक रूप प्रस्तुत करते समय ग्रियर्सन की वैज्ञानिक बुद्धि को 'टोन' या लहजे में सूक्ष्म अन्तर स्पष्ट करने के लिए कतिपय सामान्य चिह्न निर्धारित करने पड़े। सर्वेक्षण में उनका उपयोग करने से पूर्व सन् १९२० में उन्होंने 'ऑन द रिप्रेजेण्टेशन ऑफ् टोन्स इन ओरिएण्टल लैंग्वेजेज़' शीर्षक लेख प्रकाशित किया। ग्रियर्सन की धारणा थी कि भारतीय आर्यभाषाओं में पाये जाने वाले सब व्यंजनों को वैदिक संस्कृत की गेयता से सम्बद्ध मानना चाहिए।

ग्यारह खण्डों और उन्नीस भागों में बटाँ हुआ 'भारत का भाषा सर्वेक्षण' भारत की विभिन्न भाषाओं, उपभाषाओं और बोलियों का वैज्ञानिक, सुशृंखलाबद्ध एवं रीतिबद्ध वर्गीकरण प्रस्तुत करता है। इससे पूर्व अनेक यात्री, शोधकर्त्ता और सरकारी अफसर समय-समय पर उस प्रान्त विशेष की भाषा का अध्ययन करते रहे जिसमें वे नियुक्त रहते थे। भाषा-विज्ञान में रुचि रखने वाले ब्रायन हाफटन होजसन जैसे मनीषियों का भी सर्वथा अभाव न था जिन्होंने भाषाओं की उत्पत्ति, विकास और वर्गीकरण का प्रयत्न किया था। सर जॉर्ज कॅम्पवैल जैसे विद्वान् 'स्पैसिमन्स ऑफ् द लैंग्वेजेज़ ऑफ इण्डिया' में भाषाओं का उपयोगी संग्रह भी प्रस्तुत कर चुके थे। सूक्ष्म वैज्ञानिक आधार पर भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन सन् १८५६ में कौल्डवैल का 'कम्पैरेटिव ग्रामर ऑफ् द द्रवेडियन एण्ड साउथ इण्डियन फैमिली ऑफ् लैंग्वेजेज' में आया। सन् १८६७-७२ मे बीम्स एवं सन् १८७२-८० में हॉर्नले भी भारतीय आर्यभाषाओं के अध्ययन में रत दृष्टिगत होते हैं।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, सन् १८८६ में वियना में जो प्राच्य कांग्रेस हुई थी, उसमें भारत सरकार के समक्ष भाषा-सर्वेक्षण की योजना सर्वप्रथम डॉ० ग्रियर्सन ने ही रखी थी। सन् १८९४ तक भाषा-सर्वेक्षण का विषय विभिन्न ब्रिटिश प्रशासकों की रुचि का केन्द्र बन गया था और सब ओर से सहयोग का परिणाम यह हुआ कि सन् १८९८ तक इस योजना की रूपरेखा निर्धारित हो गई। यह ब्रिटिश सरकार के लिए बड़े सौभाग्य की बात थी कि उन्हें डॉ० ग्रियर्सन के रूप में ऐसा मनीषी एवं जिज्ञासु अनुसन्धाता मिला जो न केवल डबलिन से भाषा-विज्ञान का पूर्ण ज्ञान लेकर आया था बल्कि जिसे भारतीय जनजीवन, भाषा और लोकसाहित्य से गहरी दिलचस्पी हो गई थी। डॉ० ग्रियर्सन तब तक विभिन्न भाषाओं तथा साहित्य-सम्बन्धी प्रकीर्ण लेखों में अपनी गहरी सूझबूझ तथा सूक्ष्म वैज्ञानिक दृष्टि का परिचय भी दे चुके थे। फिर भी सर्वेक्षण का कार्य कुछ सहज न था। जिला-अधिकारियों अथवा सुपरिण्टेण्डेन्टों की सहायता से जो सामग्री उपलब्ध थी, केवल उस तक ही डॉ० ग्रियर्सन का अध्ययन सीमित न था। उन्हें तो उन रियासतों और भाषायी क्षेत्रों में भी पहुँचना अपेक्षित था जो ब्रिटिश सरकार के आधिपत्य म न थे कार्यपूर्ति के निमित्त उन्हें कभी-कभी ऐसे सकोची और दुर्लभ का

सहारा भी लेना पड़ता था जिनको समझने के लिए किसी दुभाषिये की आवश्यकता रहती थी। कुछ क्षेत्रों में तो हर गाँव की बोली बदली दिखाई पड़ती थी। घुमक्कड़ जातियों के कारण स्थिति और भी दुष्कर हो जाती थी। अतः सामग्री-चयन के लिए डॉ० ग्रियर्सन को वैयक्तिक संवाददाताओं द्वारा अथवा व्यक्तिगत रूप में भी जाना पड़ता था। वह सबसे पहले प्राप्त कथा अथवा गीत अथवा साहित्यिक कृति का अनुवाद करते थे। इसके उपरान्त उस भाषा में मौखिक रूप में प्रचलित साहित्य अंश को आवश्यकतानुसार रोमन में लिपिबद्ध किया जाता था। यथाशक्ति पाठान्तर प्रस्तुत कर सम्बन्धित मुहावरे और शब्दों का कोश डॉ० ग्रियर्सन की अपनी देन रहती थी। सम्पादन के समय वे प्रायः व्याकरणिक टिप्पणियाँ, शब्दविन्यास, ध्वनि और वाक्य-रचना देना भी नहीं भूलते थे। इसके अतिरिक्त कृति का भाषा सम्बन्धी क्षेत्र, देशकाल, भौगोलिक स्थिति, जनसाधारण अथवा वर्ग को देखते हुए निश्चित जाता किया था। भाषा वर्गीकरण का प्रमुख आधार ऐतिहासिक तथा ध्वनि से सम्बद्ध रहता था। क्षेत्रीय सर्वेक्षण में भाषा की विशेषताओं अर्थात् स्वरूप, शब्द-समूह आदि का बराबर ध्यान रखा जाता था। पाठकों के स्पष्टीकरण के लिए रंगीन मानचित्र भी रहता था।

'भारत का भाषा सर्वेक्षण' के खण्ड ३, ४, ७, ६, और ११ की सामग्री आस्लो निवासी डॉ० स्टेन कोनो द्वारा संगृहीत हैं। यह कहना यहाँ अप्रासंगिक न होगा कि डॉ स्टेन कोनो ने कैम्बर्ले में कुछ वर्ष डॉ० ग्रियर्सन के सहायक के पद पर भी काम किया था। डॉ० ग्रियर्सन द्वारा प्रणीत भाषा-सर्वेक्षण के विभिन्न खण्डों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है:—

पहले खण्ड के भाग एक में परिचय, भाग दो में भारतीय भाषाओं तथा भाग तीन में भारतीय आर्यभाषाओं का तुलनात्मक कोश है। दूसरे खण्ड में मन और ताई परिवार की भाषाओं का विस्तृत अध्ययन है। तीसरे खण्ड के पहले भाग में तिब्बत-बर्मी और उत्तर असमिया एवं दूसरे भाग में बोडो, नागा और कचिन समूह की भाषाओं का परिचय है। चौथा खण्ड मुण्डा और द्रविड से सम्बद्ध है। पाँचवा खण्ड पूर्वी समुदाय की भारतीय-आर्यभाषाओं से सम्बन्धित है। इसके प्रथम भाग में बंगाली और असमिया तथा द्वितीय में बिहार और उड़िया का परिचय दिया गया है। छठे और सातवें खण्ड में क्रम से भारतीय आर्यभाषाओं की मध्य उपशाखा और दक्षिण उपशाखा 'मराठी' का परिचय उपलब्ध है। आठवें खण्ड के दो भाग हैं। पश्चिमोत्तर समुदाय के सिन्धी और लहंदा पहले में तथा दर्दी अथवा पिशाची शाखा और कश्मीरी का वैज्ञानिक विश्लेषण दूसरे भाग में है। सर्वेक्षण के नवें खण्ड में भारतीय आर्यभाषाओं की भीतरी उपशाखा केन्द्रिय समुदाय के पश्चिमी हिन्दी और पंजाबी (पहला भाग), राजस्थानी एवं गुजराती (दूसरा भाग), भीली और खान्देशी आदि (तीसरा भाग) तथा पहाड़ी भाषाएँ (चौथा भाग) दी गई है। दसवें खण्ड में ईरानी परिवार तथा ग्यारहवें में अवर्गीकृत जिप्सी बोलियों का परिचय है।

डॉ० ग्रियर्सन ने भाषा-सर्वेक्षण से पूर्व उसकी एक प्राथमिक सूची भी तैयार की थी।[१८] इसके अतिरिक्त उनकी अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्राच्य कांग्रेस की प्रगति की रिपोर्ट

ब्रिटिश संस्थाओं में भाषा म पढ़ाने के लिए प्रमुख भाषाओं के ग्राम.फ़ोन रिकार्ड आदि का भी उल्लेख किया जा सकता है। बहुत पूर्व, सन् १९०६ में रायल सोसाइटी ऑफ़ आर्ट की एक बैठक में ग्रियर्सन इस सर्वेक्षण का अत्यन्त आकर्षक विवरण प्रस्तुत कर चुके थे। यह विवरण बाद में पत्रिका में भी प्रकाशित हुआ था। सन् १९२४ में कैम्पबैल मेमोरियल मैडल और सन् १९२८ में सर्वेक्षण-कार्य की पूर्ति के उपलक्ष्य में उन्हें जो प्रीतिभोज दिया गया था, उसमे सर्वेक्षण पर अपने व्यक्तिगत विचार प्रकट करते समय वे प्रो० स्टेन कोनो के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना न भूले थे।

डॉ० ग्रियर्सन के इकतालीस वर्ष के इंगलैण्ड-निवास की अवधि (सन १९००-१९४१) उनके सम्मान और आदर-प्राप्ति की कहानी है जो उन्हें विश्व के कोने-कोने से मिली। सन् १८९४ में वे सी० आई० ई० हुए। सन् १९१२ में सर की उपाधि मिली। सन् १८९४ में उन्हें हाल (Halle) से पी-एच० डी० की उपाधि मिल चुकी थी, सन् १९०२ में ट्रिनिटी कालेज डबलिन से डी० लिट्० की उपाधि भी मिली। १९०५ ई० में फ्रांसीसी संस्था से प्रिक्स वाल्ने, सन् १९०९ में प्रिंस आफ वेल्स द्वारा ट्राइएनियल स्वर्णपदक तथा बम्बई शाखा द्वारा सन् १९२३ में कैम्पबैल मेमोरियल पदक भी उल्लेख्य हैं। २५ जुलाई, १९२८ को उन्हें 'आर्डर आफ मैरिट' की उपाधि मिली और ब्रिटिश अकादमी ने उन्हें विशिष्ट स्वर्ण-पदक भी दिया। सन् १९२९ में बंगाल एशियाटिक सोसाइटी की ओर से सर विलियम जोन्स स्वर्णपदक दिया गया। सन् १९२० में कैम्ब्रिज तथा सन् १९२९ में उन्हें आक्सफ़ोर्ड से डी० लिट्० की उपाधि मिल चुकी थी। विभिन्न भारतीय अकादमियाँ एवं शिक्षा-संस्थाएं जिस प्रकार उनको समय-समय पर मान देती रहीं, उनकी चर्चा असंभव है। हाँ, बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी के सन् १९०४ में वे अवैतनिक फेलो बन गये थे। १९००-७ ई० तथा १९१२-१६ ई० तक वे रॉयल एशियाटिक सोसाइटी कौंसिल के सदस्य, १९०७-१२ ई० तथा १९२०-४ ई० तक उपसभापति, सन् १९१६-१९२० तक अवैतनिक सदस्य एवं सन् १९२५ मे अवैतनिक उपकुलपति रहे।

डॉ० ग्रियर्सन द्वारा स्थापित (सन् १९३१) 'लिंग्विस्टिक सोसाइटी आफ़ इण्डिया' ने सन् १९३२-३४ में लगभग ४०० पृष्ठों का ग्रियर्सन स्मृति-अंक प्रकाशित किया। सन् १९३६ मे प्राच्य-शिक्षा सम्बन्धी बुलेटिन के दूसरे और तीसरे भाग में आबद्ध (६०० पृष्ठ) 'इण्डियन एण्ड इरानियन स्टडीज' की प्रति भेंट की गई जिसमें उनकी तस्वीर तथा प्राप्त उपाधियों और ५२ लेखों के अतिरिक्त डॉ०ग्रियर्सन की समस्त लेखमालाओं की सूची भी प्रकाशित की गई थी।

सन् १९०८ के बाद डॉ० ग्रियर्सन सम्भवतः प्राच्य विशारदों की अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस में शामिल नहीं हुए। वे रॉयल एशियाटिक सोसाइटी की कौंसिल अथवा ब्रिटिश या विदेशी बाइबल सोसाइटी की सभा (जैसे ग्रमैटिकल टर्मिनालोजी कमेटी) अथवा विशेष विद्वानों से अवश्य बराबर मिलते रहे।

आर० एल० टर्नर का कहना है कि मनीषी डॉ० ग्रियर्सन के संगीत-प्रेम से उनके विद्वान् मित्र रहे के जिस वायलिन प्रेम का संकेत दिया जा चुका है वह ओं में आर्केस्ट्रा के आयोजन द्वारा फलीभूत हुआ जो कि भारत की गर्मी का

दूर रखने के लिए किया जाता था। उन्होंने कैम्बल म पाइन उड नामक आर्केस्ट्रा भी चलाया। मनोरंजन का यह साधन कदाचित् उनके अध्ययन-क्षेत्र में अधिकाधिक अध्यवसाय ला सका। रोचक कथाओं में उनकी दिलचस्पी सन् १९३२ में भी बनी हुई थी। जिप्सी लोर सोसाइटी की पत्रिका के लिए उन्होंने 'चैक्स इन कौफिन' लिखा। सन् १९३३ में उनकी दो टिप्पणियाँ और निकलीं। यही उनके अन्तिम प्रयास थे। उनका देहावसान ९ मार्च सन् १९४१ तथा उनकी निस्सन्तान पत्नी की मृत्यु १९ फरवरी, १९४३ ई० को हुई।

जीवनवृत्त का आधार

१. Proceeding of the British Academy, Vol. XXVIII, 1942. (Obituary Notice). Published for the British Academy by Humphrey Milford. Oxford University Press, London.

२. Oxford Dictionary of National Biography 1941-1950.

३. Indian Linguistics—A quarterly Bulletin of the Linguistics Society of India VIII, 1940—1941. Part 2 & 3, pp. 163-179: (Sir George Abraham Grierson Memorial Number.)

४. Colliers Encyclopaedia, Vol. IX; P. F. Collier & Sons Corporation, New York, 1955.

५. Dictionary of Indian Biography by C. E. Buckland, C. I. E. Indian Civil Service retired; Swan Sonnenschein & Co., 25, High Street, Bloomsbury, London, 1906.

६. Indian and Iranian studies, 1936.

७. Index to the Proceeding of the Home Department for the year 1898, 1899, 1900, 1901, 1902. Calcutta: Office of the Superintendent of Govt. Printing India (from National Archives of India, New Delhi),

८. Journal of the Royal Asiatic Society, 1941.

९. 'हिन्दुस्तानी' पत्रिका, जनवरी-मार्च, भाग ११, अंक १ (१९४१), हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद।

१०. हिन्दी कोविद-रत्नमाला, भाग १, १९२९—डॉ० श्यामसुन्दर दास।

११. हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास; अनु० डॉ० किशोरीलाल गुप्त।

संदर्भ-संकेत

(१) Linguistic Survey of India (२) Proceedings of the British Academy Vol. XXViii, 1942. London. (३) हेनरी अष्टम द्वारा चालू प्रोफ़ेसर के समकक्ष ग्रीक-लैटिन का विशेषज्ञ की पदवी (४) upper.fifth form. (५) "It shoud be said also that the folk literature with which Grierson was in fact, mostly concerned is to be conceived rather upon medieval than upon modern European anologies Proceedings of the British

Academy, Page 286 (६) "With his transference to Bhagalpur (end of 1877) and then to a station in Darbhanga commenced the long period of his writings which may with good reason be designated "The Bihari Period"—Proceedings of the British Academy 1942, Page 289. (७) The feeling for the Peoples Tongue, natural in a linguist was intimately related to his hearty affection for theistic people themselves, pp. 288—Proceedings of the British Academy 1942. (८) Centenary Review of the Asiatic Society of Bengal from 1784—1883, Page 169 (Calcutta 1885; (९) And the same accounts for his translation (1888) of M. Senarts Treatise on the "Inscriptions of Piyadasi (third cen. B. C.) and for some notes on Pali and Prakrit".—P. 290. Proceeding of the British Academy, 1942. (१०) Index to the Proceeding of the Govt. of India in the Home Department for the year 1898. PP. 24491. 425-28,2077-89 713-16 (११) Ibid—for the year 1900. Exam. B. gan. procedding 8-13. (१२) Ibid—for the year 1900. proceeding p. 46. Part B. (१३) Ibid—for the year 1900. proceeding part-B. P. 134 (१४) 'Gurezi dialect of shins'. (१५) ये लेख 'आन द लैंग्वेजेज स्पोकेन बियॉण्ड द नार्थ वेस्टर्न फ्रांटियर ऑफ इंडिया' शीर्षक से रायल एशियाटिक सोसाइटी की पत्रिका में भी प्रकाशित हुआ था (१६) The wise Sayings of Lal ded. (१७) इस सूची की एक प्रति नेशनल आरकाइव्स ऑफ इण्डिया में सुरक्षित है।

संस्कृत धातु : सम्भावित रूपसंख्या

• शिवनारायण शास्त्री

धातु शब्दों के दो अवयव हैं—'धा' + 'तु'। 'धा' क्रिया शब्द है और 'तु' कृत् प्रत्यय[1]। पाणिनि के धातुपाठ में धा धारण करना तथा पुष्ट करना अर्थ में प्रयुक्त है। डु-धाञ् धारणपोषणयो। 'तु' (वाला अर्थ) कृत् प्रत्यय से बना है।[2] अतः 'धातु' शब्द का अर्थ धारण करने वाला, पोषण करने वाला होता है।

'धातु' शब्द प्रयोग की दृष्टि से बहुत प्राचीन है। ऋग्वेदसंहिता से लेकर आज तक यह भारतीय वाङ्मय की विभिन्न शाखाओं में अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता आया है। संस्कृत से निकली या प्रभावित सभी भारतीय भाषाओं में भी यह तत्सम शब्द के रूप में अनेक अर्थों मे प्रयुक्त होता है।

अर्थ की दृष्टि से अपने व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ को केन्द्र बना कर वाङ्मय की विभिन्न शाखाओं में, उन शाखाओं में प्रतिपादित धारक, पोषक तत्व के अर्थ में इसका प्रयोग होता है। अलङ्कार शास्त्र को छोड़कर वाङ्मय की बहुत सी शाखाओं में इसका अपना एक विशिष्ट एवं पारिभाषिक अर्थ है। सरलता के लिए हम इन अर्थों का वर्गीकरण आध्यात्मिक आधिभौतिक एवं व्याकरण सम्मत अर्थों के रूप में कर सकते हैं।

'आध्यात्मिक' शब्द का प्रयोग इन दिनों इसके सङ्कुचित अर्थ 'आत्मा (soul) विषयक' अर्थ में प्रायः होता है। संस्कृत में इसके मूल अर्थ को देखते हुए यह एकाङ्गी अर्थ है, संस्कृत मे 'आत्मन्' शब्द का प्रयोग शरीर अर्थ में भी होता है। कम से कम 'अध्यात्मम्' शब्द में तो इसका प्रयोग इस अर्थ में अवश्य होता है।[3]

'अध्यात्म' के इस दूसरे अर्थ के अन्तर्गत, 'धातु' शब्द आयुर्वेद में देह के धारक, पोषक तत्वों—वात, पित्त एवं कफ—के लिए 'त्रिधातु' और रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा तक शुक्र के लिए 'सप्तधातु' शब्द में प्रयुक्त हुआ है। शरीर की सब क्रियाओं का साधन इन्द्रियां भी धातु कहलाती हैं।[4]

आधिभौतिक अर्थ में भी धातु शब्द का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है। दार्शनिकों ने पृथिवी आदि पञ्चतत्वों को सत्तावान् होने से जहाँ भूत या महाभूत शब्द से पुकारा है, वहीं इन्हें धातु भी कहा है। इसी प्रकार इनके पाँच गुणों—रूप, रस, स्पर्श, गन्ध तथा शब्द—को भी धातु कहा गया है। रसायन-शास्त्र में 'धातु' का अर्थ पारद (पारा) होता है।

अधिक टिकाऊ तथा पोषण के अन्य कामों में उपयोगी होने के कारण सोना, चाँदी, ताँबा आदि लौह भी धातु कहाते हैं।[५] छान्दोग्योपनिषद् में खाने-पीने के विकार से निष्पन्न तत्वों—मल मूत्र मांस, मन आदि —को भी धातु कहा गया है।[६]

व्याकरण-शास्त्र में शब्दों की आधारभूत एक खास इकाई भी धातु कहलाती है।[७] शाकटायन और नेरुक्त तो इस इकाई को ही शब्दों की जननी मानते हैं।[८] वस्तुतः नित नये शब्द गढ़ने के लिए इससे अधिक उपयोगी तत्त्व और कोई नहीं होता, इसलिए इस तत्त्व का 'धातु' नाम, धारण और पोषण दोनों अर्थों में ही उपयुक्त है। 'धातु', संस्कृत-भाषा की वह आधारशिला है जिस पर न केवल संस्कृत ही, अपितु प्रायः सभी भारतीय भाषायें खड़ी है। वास्तव में आज भी, जब कभी किसी आधुनिक भारतीय भाषा को नवीन शब्द की आवश्यकता पड़ती है, तो, या तो वह सीधे संस्कृत की धातु से संस्कृत का या आधुनिक भाषाओं का प्रत्यय लगा कर शब्द बनाती है या संस्कृत की धातु तथा उसकी शब्द निर्माण शैली के अनुकरण पर अपनी ही धातु से प्रत्यय लगाकर शब्द निर्माण करती है। हमारे आज के विवेचन का विषय व्याकरण-शास्त्र-सम्मत यही 'धातु' तत्त्व है।

व्याकरण-शास्त्र के इस पारिभाषिक अर्थ में 'धातु' शब्द वैदिक संहिताओं में उपलब्ध नही होता। ब्राह्मण-ग्रन्थों में 'गोपथ' में ॐ की व्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में व्याकरण के अन्य पारिभाषिक शब्दों के साथ 'धातु' शब्द भी अपने पारिभाषिक परिवेश में प्रयुक्त हुआ है।[९] इसके अनन्तर निघण्टु, निरुक्त, बृहद्देवता तथा ऋग्वेद-प्रातिसाख्यादि ग्रन्थों में तो इसका इस अर्थ में प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है। पाणिनि द्वारा इस अर्थ में प्रयुक्त शैली से प्रकट होता है कि उनके समय तक यह इस अर्थ में एक बहुत सामान्य-सा शब्द बन चुका था। उनके द्वारा अष्टाध्यायी में अपनाया जाने पर तो यह शब्द अमर ही हो गया।

वैय्याकरणों के अनुसार, पूर्वापरीभूत सत्ता अर्थ को प्रकट करने वाला शब्द, 'धातु' कहलाता है। यह सत्ता अपने-अपने रूपों में प्रकट होती है- सामान्य सत्ता, विशेष सत्ता पूर्वापरीभूत सामान्य सत्ता को हम भाव, भावना आदि शब्दों से कहते हैं। पूर्वापरीभूत विशेष सत्ता को गति, क्रिया, उत्पादना आदि शब्दों से कहा जाता है। संक्षेप में, वैयाकरणों का धातु से आशय उस शब्द से है, जो सामान्य व्यापार (क्रिया) या विशिष्ट व्यापार रूप अर्थ का बोध कराता है। ऑटो येस्पर्सन ने इसी पूर्वापरीभूत सत्ता को तीन वर्गों में बाँटा है—

(क) क्रिया (activity), जैसे जाना (go), खाना (eat), बोलना (speak), लड़ना (fight) आदि।

(ख) दशा (state), जैसे जीना (live), दुःख पाना (suffer) इत्यादि।

(ग) भाव (process), जैसे होना (being), बनना (becoming), बढ़ना (grow), सूखना (dry) इत्यादि।[१०]

शब्द की यह इकाई क्रिया अर्थ को व्यक्त करती है। उसके बाद लगने वाले प्रत्यय, उस क्रिया के काल प्रकार कर्त्ता, कर्म भाव पुरुष तथा पुरुष की सङ्ख्या (वचन) को। इस प्रकार प्रकृति (धातु) तथा प्रत्यय से निष्पन्न शब्द को संस्कृत में आख्यात कहा जाता है[११]

संस्कृत में दो हजार के लगभग इस प्रकार की इकाइयाँ या धातु है। पाणिनि ने इन्हें अपनी सुविधा के लिए १ भ्वादि (√भू-आदि), २ अदादि (√ अद् आदि), ३ह्वादि (√ हु आदि, इसे जुहोत्यादि भी √ हु के प्रथम पुरुष एक वचन के रूप जुहोति आधार पर कहते है। ४स्वादि (√ सु आदि), ५दिवादि (√दिव् आदि), ६ तुदादि (√तुद् आदि) ७ रुधादि √ रुध् आदि), ८ तनादि (√ तन् आदि), ९ क्रयादि (√ क्री आदि) तथा १० चुरादि (√ चुर् आदि) —इन दस गणों में बाँटा है। ये धातु प्रायः एकाक्षर है, अनेकाक्षर तो कुछेक ही है।

संस्कृत-क्रिया-रूप, संश्लेषणात्मक होते है। धातु से कृत् प्रत्ययों से बनने वाले शब्द सस्कृत में आख्यात नहीं कहाते। हिन्दी मे, इसके विपरीत, क्रिया-शब्द विश्लेषणात्मक होते है तथा कृदन्त शब्द भी क्रिया-शब्द (आख्यात) ही माने जाते है। वस्तुत: संस्कृत-क्रिया जहाँ काल, प्रकार, भाव, कारक, पुरुष तथा उनकी सङ्ख्या बतलाती है, हिन्दी-क्रिया इन सबके अलावा कारक का लिङ्ग भी बताती है। हिन्दी क्रिया शब्द आम तौर पर, प्रधान क्रिया के कृदन्त शब्द के साथ सामान्य क्रिया (प्रायः होना, करना) लगाकर बनाया जाता है। प्रधान क्रिया, कारक का विशेषण-सा बन कर ही आती है, प्रधान के रूप में नहीं। हाँ, आज्ञा, सम्भावना आदि कुछ अर्थों में कुछ रूप ठीक क्रिया-शब्दों की तरह व्यवहार में आते है।

यहाँ एक बात स्पष्ट कर देनी आवश्यक है कि कुछ लोग जो कृदन्त शब्द को क्रिया-शब्द क्यों न माना जाय—यह प्रश्न उठाते हैं, वह तथ्यहीन है, क्योंकि कृदन्त शब्द सामान्य क्रिया-सापेक्ष रहते है। वे अपने आप में पूर्ण क्रिया का द्योतन नहीं कर पाते। जैसे, 'मैंने खाया' वाक्य में, भूत कृदन्त 'खाया' शब्द 'है' या 'था' इस सामान्य क्रिया शब्द की अपेक्षा करता है। यह एक भिन्न बात है कि सामान्य क्रिया शब्द को वाक्य में साक्षात् प्रयुक्त किया जाये या प्रसङ्ग आदि से उसका अध्याहार किया जाये। हाँ, क्रिया इसके बिना पूरी नहीं होती। क्रिया शब्द, इसके विपरीत, स्वयं में परिपूर्ण होता है, सत्ता के सामान्य या विशेष रूप के लिए जितना कुछ वक्तव्य होता है, वह सब क्रिया शब्द के द्वारा कहा जाता है, अन्य की अपेक्षा उसे नहीं होती। संस्कृत के (तथा हिन्दी के भी) कृदन्त शब्द इस दृष्टि से पूर्ण क्रिया शब्द नहीं है, उन्हें सामान्य क्रिया (होना, करना) की अपेक्षा रहती है। संस्कृत के क्रिया-शब्द अपने आप में परिपूर्ण एवं समर्थ है। हिन्दी में क्रिया-शब्द अपूर्ण एवम् बहुत कुछ असमर्थ है। वस्तुत: यदि हिन्दी वाक्य में कृदन्त शब्दों का प्रयोग न किया जाये तो मन्तव्य को केवल क्रिया-शब्द से सही प्रकार से प्रकट ही नहीं किया जा सकता।

हिन्दी वाक्य मे क्रिया शब्द के स्थान पर कृदन्त शब्दों का प्रयोग होने के कारण, सस्कृत के एक क्रिया शब्द के अर्थ में कई शब्दों का प्रयोग करना पड़ता है। न केवल इतना ही, कई बार तो संस्कृत के एक आख्यात का अर्थ हिन्दी के समूचे एक वाक्य के द्वारा ही, प्रकट किया जा सकता है। प्रक्रियाओं तथा प्रत्ययमालाओं पर तो यह बात स्पष्ट घटित होती। जैसे √गम् से इच्छार्थक 'स' (सन्) प्रत्यय लगा कर फिर प्रेरणार्थक 'इ' (णिच्) प्रत्यय लगा कर √जिगमिषि धातु के 'जिगमिषयति' क्रिया शब्द का अनुवाद 'भेजना चाहता है' होता है। इसमें केवल कर्ता कर्म को ही अलग से लेने की आवश्यकता है, सो दोनों भाषाओं में समान

है। हाँ, संस्कृत में सामान्यतया यदि समझने में दिक्कत न हो तो, कर्ता शब्द छोड़ दिया जाय। वैसे, इस प्रकार के प्रयोग हिन्दी में भी होते हैं।

संस्कृत में, धातु से क्रिया शब्द बनाने के लिए धातु में दो प्रकार के प्रत्यय लगाये जाते हैं—(क) लिङ् प्रत्यय (personal endings)। इन प्रत्ययों का दुहरा अर्थ होता है—(अ) काल (Tenses) प्रकार (Moods भाव; (आ) कारक, पुरुष और सङ्ख्या।

(अ) संस्कृत में तीन कालों को छः भागों में बाँटा गया है अतः काल ६ हैं -१ वर्तमान में (लट्), ३ भूत (परोक्ष में लिट्, अनद्यतन में लङ् और सामान्य में लुङ्), २ भविष्यत् (अनद्यतन में लुट्, सामान्य में लृट्)।

प्रकार अर्थ में चार लकार होते हैं २ विध्यादि अर्थों में (लोट् तथा लिङ्), २ आशीः अर्थ में (लिङ्), १ क्रियातिपत्तिपरक हेतु-हेतुमद्भविष्यत् तथा भूत अर्थ में (लृङ्)।

(आ) कारक के आधार पर संस्कृत में धातु के तीन वाच्य (अर्थ, voice) होते हैं—भाववाच्य, कर्मवाच्य, कर्तृवाच्य।

भाववाच्य में प्रत्यय धातु के अर्थ में ही होते हैं। क्रिया का कोई पुरुष नहीं होता, अत. इस वाच्य में प्रत्यय प्रथम (हिन्दी: अन्य) पुरुष तथा एकवचन में ही होते हैं।[१२]

क्रिया को प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता। वह अपने कारक के शरीर में स्थित होकर ही अपने आपको प्रकट करती है।[१३] क्रिया के इस प्रकार के आश्रय दो होते हैं—कर्तृकारक तथा कर्मकारक। इनके प्रत्येक के तीन पुरुष—प्रथम, मध्यम तथा उत्तम—होते हैं। इनमें भी प्रत्येक में तीन (हिन्दी में दो ही) वचन होते है—एकवचन, द्विवचन और बहुवचन। जब क्रिया कर्ता अर्थ मे होती है तो 'कर्तृवाच्य' और जब कर्म अर्थ में होती है तब 'कर्मवाच्य' कहलाती है।

'तिङ्' प्रत्यय कुल १८ हैं। इनके दो वर्ग है—९ प्रत्यय 'परस्मैपद' और ९ 'आत्मनेपद।' 'भाव' तथा 'कर्म' वाच्यों में सब धातुओं से 'आत्मनेपद' प्रत्यय ही होते हैं। 'कर्तृवाच्य' में कुछ धातुओं से केवल 'परस्मैपद' प्रत्यय तथा कुछ से केवल 'आत्मनेपद' और कुछ से दोनो होते है। इसके अतिरिक्त कुछ खास अवस्थाओं में कुछ केवल परस्मैपदी धातुओं से केवल 'आत्मनेपद और कुछ आत्मनेपदी धातुओं से 'परस्मैपद' ही होते हैं। इसी प्रकार उभयपदी धातुओं से भी किसी एक पद के प्रत्यय ही लगें, ऐसा भी हो सकता है।

(ख) विकरण प्रत्यय। ये प्रत्यय दो प्रकार के हैं—(अ) कारक अर्थ में। जैसे कर्ता में अ शप् और (तुदादियों से श), नु, (स्वादियों से श्नु), य (दिवादियों से श्यन्), न (रुधादियो से श्नम्), उ (तनादियों से), ना श्ना क्र्यादियों से) तथा कर्म और भाव में य (यक्); (आ) काल तथा प्रकार अर्थ में। जैसे सब वाच्यों में अनद्यतन भविष्यत् में तास्, सामान्य भविष्यत् तथा हेतु-हेतुमद्भविष्यत् भूत में स्य, सामान्य भूत में स्, (सिच्)।

'अदादि' तथा 'जुहोत्यादि' गणों की धातुओं से कारक (कर्ता में) विकरण नहीं लगता। अ (शप्, कर्तृ-वाच्य का सामान्य विकरण है। भ्वादि-गण की धातुओं में यह लगता है। यों इसका कोई गण निश्चित नहीं है। 'चुरादि' गण की धातुओं तथा ण्यन्त, सन्नन्त आदि प्रक्रियाओं में इ णिच आदि प्रत्ययों के बाद और तिङ प्रत्ययों से पूर्व यह

विकरण लगता है। यङ् लुक् प्रक्रिया में यह या कोई अन्य कारक विकरण नहीं लगता। 'अ' कोटि के विकरण सभी धातुओं से, सभी वाच्यों तथा प्रत्ययों में लगते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि संस्कृत की किसी एकपदी धातु के ही कर्तृवाच्य में ९० रूप होते हैं। यदि वह सकर्मक भी है तो कर्मवाच्य के भी रूप बनते हैं। यदि सकर्मक धातु उभयपदी है तो कर्तृवाच्य में दूसरे पद के ९० रूप और बनेंगे और इस प्रकार एक धातु की सामान्य रूप सङ्ख्या २७० हो जाती है। प्रेरणार्थक आदि प्रत्यय लगाने पर तो यह सङ्ख्या और भी अधिक हो जाती है।

यह तो निर्विवाद है कि संस्कृत में बहुत सङ्क्षेप में अर्थ को अभिव्यक्त करने की जो क्षमता है, वह संसार की किसी भी अन्य भाषा में नहीं। इस संक्षेप का बहुत कुछ श्रेय संस्कृत की धातु-रूप-रचना-पद्धति को है। यों स्वरूप में बहुत छोटी दिखाई देते हुए भी इसकी महत्ता—रूपविस्तार का सहज में अनुमान नहीं लगाया जा सकता। शब्द-निर्माण की दृष्टि से धातु भाषा की रीढ़ की हड्डी है, प्रमुख उपादान है। संस्कृत धातु का पर्यायवाचक 'प्रकृति' शब्द वस्तुतः पूर्णतया सार्थक है। साङ्ख्य-सिद्धान्त के अनुसार, जिस प्रकार यह जगत् प्रकृति का ही विकार है, उसी प्रकार संस्कृत का समस्त शब्द जगत् भी बहुत कुछ धातुरूपी प्रकृति का ही विकार है। प्रकृति के प्रत्येक विकार का परिगणन करने का प्रयत्न जिस प्रकार साहस मात्र है, वैसे ही धातु के प्रत्येक विकार का परिगणन करना भी साहस मात्र ही है। अतः धातु से सम्भव समस्त रूपों का परिगणन न करके, एक धातु के समस्त प्रयोग योग्य तिङन्त रूपों की सम्भावित रूप सङ्ख्या क्या हो सकती है, इस पर कुछ प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे।

यहाँ मोटे तौर पर एक धातु के कितने रूप हो सकते हैं, यह गिनने का प्रयत्न किया जायेगा। किसी धातुविशेष के लकारविशेष या पुरुष, वचन विशेष में व्याकरण नियमों के अधीन बनने वाले वैकल्पिक रूपों को यहाँ नहीं लिया है। अतः परिगणित सङ्ख्या तो न्यूनतम सङ्ख्या है, इसके अतिरिक्त भी बहुत से विकल्प या अपवाद आदि के परिणाम स्वरूप बनते हैं। उन्हें गिनना प्रस्तुत निबन्ध का विषय नहीं है। प्रत्येक धातु के पृथक्-पृथक् रूपों की सही सङ्ख्या का ज्ञान तो व्याकरण से ही होगा।

यहाँ एक बात और भी समझ लेनी चाहिए कि इस संख्या में सन्धि आदि के नियमों के विकल्प से होने वाली संख्या[13] भी यहाँ नहीं जोड़ी गई है। मात्र संस्कृत में प्रयोग योग्य तिङन्त रूपों की सामान्य संख्या ही यहाँ दी गयी है।

संक्षेपतः इन रूपों का ठीक प्रकार से आकलन करने के लिए तीन विभाग किये गए हैं—

(क) **शुद्धावस्था**—जो रूप धातु से सीधे विकरण तथा तिङ् प्रत्यय लगा कर बनते हैं, वे शुद्धावस्था में कहला सकते हैं। जैसे—भू + अ + ति = भवति (होता। होती है।)

(ख) **प्रक्रिया**—धातुओं से प्रेरणार्थ में 'इ' (णिच्), इच्छार्थ में 'स' (सन्), क्रियासमभिहार (बार-बार, अतिशय) अर्थ में 'य' (यङ्) प्रत्यय लगाकर फिर कर्त्रर्थक विकरण (शप्) तिङ् प्रत्यय लगाये जाते हैं इस स्थिति को यहाँ 'प्रक्रिया' शब्द से कहा है।

'य' (यङ्) के ही अर्थ, में बिना 'य' के भी रूप बनाये जाते हैं। इसे यङ् लुक् प्रक्रिया कहा जाता है इसमें कर्त्रर्थक विकरण नहीं लगता इन प्रक्रियाओं में इनके प्रत्ययों के नाम

पर ही णिच्प्रक्रिया, सन्प्रक्रिया, यङ्प्रक्रिया और यङ्लुक्प्रक्रिया कहा जाता है। इनके उदाहरण भू धातु से क्रमशः **भावयति, बुभूषति, बोभूयते, बोभवीति, बोभोति,** रूप होते हैं।

(ग) **प्रत्ययमाला**—जब धातु में प्रक्रिया वाले प्रत्यय एक के बाद दूसरा लगाने पर फिर विकरण तथा तिङ् प्रत्यय लगा कर रूप बनाये जाते हैं तो उसे 'प्रत्ययमाला' (प्रत्ययों की शृंखला) कहते हैं। जैसे—भू + इ (प्रेरणार्थक) + स (इच्छार्थक = √बिभावयिष) + अ + ति = बिभावयिषति (होते हुए को प्रेरणा देना चाहता है)। **बिभावयिषिष्यति** (होते हुए को प्रेरणा देना चाहेगा)।

प्रत्ययों की यह माला बहुत लम्बी चलाई जा सकती है और धातु रूपों की सङ्ख्या का पार पाना असम्भव जैसा ही होगा। हमने प्रयोग में आने योग प्रत्ययमाला के रूपों का ही परिगणन किया है। सिद्धान्तकौमुदी में आचार्य भट्टोजिदीक्षित ने चार प्रत्यय एक के बाद दूसरा लगाने तक के उदाहरण दिये हैं। इतने तक का प्रयोग भी आसानी से हो सकता है। हमने केवल तीन प्रत्ययों की माला तक के रूपों का परिगणन ही प्रस्तुत निबन्ध में किया है।

मात्रा की दृष्टि से संस्कृत में धातु दो प्रकार की हैं—एकाक्षर और अनेकाक्षर। वर्णों की दृष्टि मे ये दोनों भी दो प्रकार की हैं—स्वरादि तथा व्यञ्जनादि। प्रक्रिया का 'य' (पौनः पुन्यार्थक यङ्) प्रत्यय केवल व्यञ्जनादि एकाक्षर धातु से ही[१५] होता है, अतः 'यङ्प्रक्रिया' तथा 'यङ्लुक् प्रक्रिया' से प्राप्त रूप केवल इन्हीं धातुओं से बनेंगे। शेष प्रत्यय सभी प्रकार की धातुओं से होते है। 'सन्' प्रत्यय के बाद दूसरा 'सन्' नहीं लगाया जाता।

क्रिया के फल के आश्रय की दृष्टि से संस्कृत धातु दो प्रकार की है; (क) सकर्मक-क्रिया के व्यापार का आश्रयकर्ता तथा फल का आश्रय कर्म कहलाता है।[१६] जिस धातु को उस (कर्म) की अपेक्षा होती है, वह सकर्मक कहाती है। जिस धातु का वाच्य अर्थ दो व्यापार (कर्ता, कर्म दोनों में स्थित) होता है वे सकर्मक कहाती हैं। (ख) अकर्मक जिस क्रिया को कर्म की अपेक्षा नहीं है, उसकी धातु अकर्मक कहाती है। जिन धातुओं का व्यापार केवल कर्ता में स्थित होता है वे अकर्मक कहाती हैं।[१६क]

संस्कृत वैयाकरणों ने सकर्मक अकर्मक के भेद को और भी आसानी से समझाने के लिए कुछ अर्थ गिनाए है। इन अर्थों में जो धातु है वे अकर्मक, तथा जो नहीं है वे सकर्मक होती है :—

लज्जा-सत्ता-स्थिति-जागरणम् वृद्धि-क्षय-भय-जीवित-मरणम्।
शयन-क्रीड़ा-रुचि-दीप्त्यर्थं धातुगणं तमकर्मकमाहुः॥

अर्थात् लजाना, होना, स्थित होना, (ठहरना, बैठना), जागना, बढ़ना, क्षीण होना, डरना, जीना, मरना, सोना, खेलना, अच्छा लगना (भाना, जलना, चमकना, दमकना—इन अर्थों वाली धातुओं का समूह अकर्मक कहाता है।

इन धातुओं से तिङ् प्रत्यय 'कर्तृवाच्य' तथा 'भाव वाच्य' में होते हैं। इनमे से कर्तृवाच्य में तिङ् प्रत्यय सभी पुरुषों तथा वचनों में और 'भाववाच्य' में केवल प्रथम पुरुष

एकवचन में ही होते हैं। सकर्मक धातुओं से 'कर्तृ वाच्य' तथा 'कर्मवाच्य में' होते है। इन दोनो वाच्यों में प्रत्यय सभी पुरुषों तथा वचनों मे होते है।

धातु की सकर्मकता या अकर्मकता स्थिर निश्चित नहीं है, अपितु धातु के प्रयाग के ऊपर निर्भर करती है। उपसर्ग के कारण अर्थभेद होने से तथा अन्यथा भी, परन्तु, सकर्मक से अकर्मक और अकर्मक से सकर्मक हो जाती है।[१७] कर्मवाच्य तथा भाववाच्य के प्रत्यय एक ही है, अतः रूप भी एक ही है, केवल अर्थ भेद है और वह प्रसङ्ग से या धातु के प्रयोग के प्रकार से जाना जाता है। जैसे खाना अर्थ में √ भुज धातु को खाये जाने वाले पदार्थ की अपेक्षा यदि विवक्षित है, तो उसका प्रयोग सकर्मक की तरह होगा और यदि अपेक्षा नहीं है तो अकर्मक की तरह होगा। जैसे किं क्रियते ? क्या किया जा रहा है ? भुज्यते। खाया जा रहा है (खा रहा हूँ)। यहाँ 'भुज्यते' भाववाच्य में है। किं भुज्यते ? क्या खाया जा रहा है ? ओदनो भुज्यते। भात खाया जा रहा है। यहाँ 'भुज्यते' कर्मवाच्य में है।

सम्भावित रूप

शुद्धावस्था

१. एकाक्षर सकर्मक धातुओं के कर्तृ-कर्म-भेद से २ वाच्य × १० लकार × ३ पुरुष × ३ वचन = १८० कुल रूप होते है। एकाक्षर अकर्मक धातुओं के कर्तृवाच्य में उपर्युक्त प्रकार के ९० रूप तथा भाववाच्य में १० लकार × १ पुरुष × १ वचन = १० रूप, दोनो के मिला कर १०० रूप होते हैं।

अपवाद

(क) कुछ धातु (जैसे—गुप्, तिज्, कित्, मान, वध्, दान्, शान् और चुरादि गण की धातु), धातुपाठों मे एकाक्षर रूप में होते हुए भी वस्तुतः अनेकाक्षर रूप में ही व्यवहृत होती हैं। इन धातुओं से तथा अय्, आस्, उष्, कास्, दय्, विद् भी, ह्री, भृ, और हु[१८]—इन धातुओं से, एवम् उन धातुओं से जिनके आदि में गुरु[१९] इ, उ, ऋ (ऋच्छ को छोड़ कर), ए, ऐ, ओ और औ आते है, परोक्षभूत (लिट्) में कृ, भू और अस् का अनुप्रयोग[२०] होने से प्रत्येक वाच्य में १८ रूप अधिक अर्थात् कर्तृवाच्य में १०८ और कर्मवाच्य में १०८ कुल २१६) रूप होते हैं। भाववाच्य मे लिट् के २ रूप अधिक हैं, अतः अकर्मक धातुओं के कर्तृवाच्य के १०८ और कर्मवाच्य में १०८ (कुल २१६) रूप होते है। भाववाच्य मे लिट् के २ रूप अधिक हैं, अतः अकर्मक धातुओं के कर्तृवाच्य के १०८ और भाववाच्य के १२ रूप-कुल १२० रूप होते हैं।

(ख) स्वरान्त तथा हन्, ग्रह्, दृश्, धातुओ के कर्मवाच्य में लुट्, लृट्, आशीर्लिङ्, लुङ् और लृङ्—इन पाँच लकारो में 'इ' वाले और बिना 'इ' के—इस प्रकार लगभग दूने[२१] अर्थात् ४४ रूप अधिक (९० + ४४ = १३४) होते है। दायिता, दाता (दिया जायेगा) अदायि (दिया गया)। कर्तृवाच्य में ९० ही होते है कुल मिलाकर २२४ रूप होते हैं।

अकर्मक धातुओं के भाववाच्य में केवल लुट्, लृट्, आशीर्लिङ् और लृङ् मे चार रूप अधिक अर्थात् समस्त १४ और कर्तृवाच्य के ९० से मिलाने पर १०४ रूप होते हैं। भाविता, भविता (हुआ जायेगा)।

(ग) कुछ धातु (जैसे—गुप्, धूप्, विच्छ्, पण्, पन् और कम्), कर्तृवाच्य में लट्, लोट्, लङ् और विधिलिङ् में नित्य और शेष छः लकारों में विकल्प से अनेकाक्षर हो जाती है।[२२] फलतः विकल्प वाले लकारों में से लिट् में १८ तथा शेष पाँच में ४५ (= ६३) रूप अधिक अर्थात् सब रूप कर्तृवाच्य में १५३ होते हैं।

कर्म और भाव वाच्यों में ये धातु सभी लकारों में विकल्प से अनेकाक्षर होती हैं,[२३] अतः कर्मवाच्य में अनेकाक्षरावस्था में लिट् में १८ अधिक अर्थात् समस्त रूप १०८ होते हैं। एकाक्षरावस्था में ९० रूप होते है और दोनों अवस्थाओं में मिलाकर १९८ रूप केवल कर्मवाच्य में होते है। कर्तृवाच्य के १५३ से योग करने पर इस प्रकार की सकर्मक धातु के रूपों की समस्त सङ्ख्या ३५२ होती है।

अकर्मक धातुओं से भाववाच्य में अनेकाक्षरावस्था में १० और एकाक्षरावस्था में १० के अलावा लिट् मे अनेकाक्षरावस्था में अनुप्रयोग के दो रूप और (कुल २२) बनेंगे। इस प्रकार कर्तृवाच्य के १५३ से मिलने पर अकर्मक धातु के कुल रूप १७५ होते हैं।

(घ) जिन सकर्मक धातुओं में 'इ' (इट्) विकल्प से होता है,[२४] उनके कर्तृवाच्य मे लिट् (मध्यमपुरुष, एकवचन और उत्तमपुरुष, द्विवचन एवं बहुवचन) में ३, लुट्, लृट्, लुङ्, लृङ् में प्रत्येक के ९ (× ४ = ३६) रूप (और कुल ३ + ३६ = ३९) अधिक होते है। कुल १२९ होते हैं।

कर्मवाच्य में लिट् (मध्यम पुरुष, एकवचन तथा बहुवचन, उत्तमपुरुष, द्विवचन और बहुवचन) में ४, लुङ् में ८, शेष लुट्, लृट्, आशीर्लिङ् और लृङ् प्रत्येक में ९ (× ४ = ३६) रूप (कुल ४ + ३६ + ८ = ४८) अधिक होते हैं। सामान्यतया बनने वाले ९० से मिलाकर यह सङ्ख्या १३८ होती है। इस प्रकार सकर्मक धातु के कुल रूप २६७ होते हैं।

अकर्मक वेट् (विकल्प से 'इट्' वाली) परस्मैपदी धातुओं के भाववाच्य में १४ (नीचे 'अ', दूसरा अनुच्छेद देखिये) कुल मिलाकर (१२९ कर्तृवाच्य + १४ = १४३) रूप होते हैं।

(अ) यदि उपर्युक्त प्रकार की धातु आत्मनेपदी है तो कर्तृवाच्य में लिट्, मध्यम पुरुष बहुवचन में एक रूप अधिक तथा आशीर्लिङ् के ९ रूप, इस प्रकार १० रूप परस्मैपदी (घ में बतलाए ३९) से अधिक (= ४९) और सब रूप १३९ होते हैं।

अकर्मक वेट् धातुओं के भाववाच्य में लुट्, लृट्, आशीर्लिङ् और लृङ् में 'इ' वाले और बिना 'इ' के प्रत्येक में २ रूप = कुल ८ तथा शेष छः लकारों में एक एक, कुल छ, और सब मिलाकर १४ रूप बनते है। इस प्रकार कर्तृवाच्य के १३९ से मिलने पर यह सङ्ख्या १५३ हो जाती है।

(आ) जो धातु (ग) के भी अन्तर्गत है (जैसे गुप् परस्मैपदी), उसकी रूप सङ्ख्या (ग) में बताये ३४१ में इन बढ़े हुए रूपों के मिलाने पर परस्मैपदी धातु के कर्तृवाच्य मे १५३ ग + ३९ घ पहला अनुच्छेद = १९२ कर्मवाच्य में १९८ ग + ४८ घ दूसरा

अनुच्छेद =) १४६ रूप होते हैं। इस प्रकार दोनों मिलाकर ४३८ रूप होते हैं। शुद्धावस्था मे सर्वाधिक रूप इन्हीं धातुओं के बनते हैं। 'ग' और 'घ' दोनों के अन्तर्गत आने वाली कोई आत्मनेपदी धातु उपलब्ध नहीं है।

(ङ) उह्, क्षुद्, घुण् (भ्वादि), च्युत्, छिद्, छृद्, निज्, तृह्, तृद्, दुह्, (भ्वादि), दृश, बुध् (भ्वादि), वुन्द्, बृह्, भिद्, युज्, (रुधादि), रिच् (रुधादि), रुद्, रुध्, विच्, विज्, शुच् (दिवादि), श्च्युत्, स्कन्द, स्वद्, स्फुट् (स्वादि)—इन इरित्[२५] धातुओं तथा जॄ, स्तम्भ्, मुच्, म्रुच्, ग्लुच्, ग्रुच्, ग्लुच्, ग्लुञ्च् और श्वि[२६] इन धातुओं के कर्तृवाच्य में लुङ् में ६ अधिक अर्थात् ९६ तथा कर्मवाच्य में ९० और समस्त १८६ रूप होते हैं। इनमें जो अकर्मक है, उनके भाववाच्य में १० ही रूप होते हैं। दोनों वाच्यों के मिलाकर ९६ + १० = १०६ रूप होते हैं।

अनेकाक्षर धातु सिद्धान्त कौमुदी के अनुसार ५५ है :—

१ ऊर्णु[२७], २ ऊर्णु, ३ चकास्, ४ जागृ, ५ दरिद्रा, ६ कावृत्,[२८] और कण्ड्वादि गण की ४९[२९]। इनके कर्तृकर्म में लिट् में ३६ रूप अधिक, कुल २१६ रूप होते है। भाववाच्य में लिट् में २ अधिक अतः कुल १०८ + १२ = १२० रूप होते हैं।

प्रक्रिया

३ प्रेरणार्थक 'इ' (णिच्) में कर्तृवाच्य में १० लकार × ३ पुरुष × ३ वचन × २ पद[३०] = १८० और लिट् में कृ, भू, अस् के अनुप्रयोग से प्रत्येक पद में १८ अधिक, कुल २१६ रूप होते हैं।

कर्मवाच्य में लिट् के १८ तथा लुट्, लृट्, आशीर्लिङ्, लुङ् और लृङ् में ४४ (लुङ् मे प्रथम पुरुष एक वचन में एक ही रूप होने से केवल ८, शेष प्रत्येक में ९ रूप) = ६२ रूप अधिक और कुल रूप १५२ होंगे।

प्रेरित किया जाने वाला पुरुष ण्यन्त क्रिया का कर्म होता है। अतः ण्यन्त धातु सकर्मक ही होती है। अतः अकर्मक धातु के भी कुल रूप २१६ + १५२ = ३६८ होंगे।

४. इच्छार्थक 'स' (सन्) में भी प्रत्येक वाच्य में १०८, कुल २१६ होते हैं। सकर्मकता या अकर्मकता धातु की शुद्धावस्था के समान ही होती है। भाववाच्य में १२ रूप ही होते हैं और अकर्मक धातु के सब रूप इस प्रक्रिया में १२० होते हैं।

५. पौनः पुन्यार्थक 'य' (यङ्) में भी वाच्यों की व्यवस्था धातु की शुद्धावस्था के अनुसार ही होती है। सकर्मकों के २१६, अकर्मकों के १२० रूप होते हैं।

६. पौनः पुन्यार्थक 'यङ् लुक् प्रक्रिया' में कर्तृवाच्य में लट्, लोट्, लङ् और विधिलिङ मे तीनों पुरुषों के ९ वाच्यों में एक-एक रूप अधिक अर्थात् ४ लकार × ३ वचन = १२ रूप और लिट् में पूर्ववत् १८ = कुल ३० रूप सामान्य सङ्ख्या (९०) मे अधिक होंगे। समस्त सङ्ख्या १२० होगी।

कर्मवाच्य में लिट् में १८ अधिक और समस्त रूप १०८ होंगे। इस प्रकार सकर्मक धातुओं के इस प्रक्रिया में कुल २२८ रूप होंगे

भाववाच्य में १२ ।अकर्मकों के १२० कर्तरि + १२ भावे = १३२ होंगे।

(अ) मूलतः अजन्त (स्वरान्त) धातुओं के इस प्रक्रिया के कर्मवाच्य में लुट्, लृट्, आशीलिङ् और लृङ् में प्रत्येक में ६ (×४ = ३६) रूप और लुङ् में ८ (३६ + ७ = ४४) रूप अधिक होते हैं। सामान्य सङ्ख्या १०८ से योग करने पर यह सङ्ख्या १५२ हो जाती है।

भाववाच्य में इन लकारों में एक-एक रूप (= ४) अधिक और समस्त रूप (६ के तीसरे अनुच्छेद में बताये १२ से जोड़ने पर) १६ होते है। इस प्रकार की अकर्मक धातुओं के कुल रूप (१२० कर्तृवाच्य = १६ भाव = १३६ होते हैं।

निष्कर्ष

इस प्रकार सकर्मक धातुओं के सब प्रक्रियाओं में कर्तृवाच्य में ५५२, कर्मवाच्य में ४७६ और कुल १०२८ रूप होते हैं। स्वरान्त सकर्मकों के कर्मवाच्य में ४४ (देखिये ६ अ) रूप अधिक अर्थात् १०७२ रूप होते है।

सब प्रक्रियाओं में अकर्मक धातुओं के समस्त रूप कर्तृवाच्य ५५३ + दूसरे वाच्य में १८८ = ७४० होते हैं। स्वरान्त अकर्मकों के भाववाच्य में ४ (देखिये ६ अ का दूसरा अनुच्छेद) अधिक अर्थात् ७४४ रूप होते हैं।

प्रत्ययमाला

७. णिच् + सन् (**जिगमयिषति** जाते हुए को प्रेरित करना (भेजना) चाहता है) में कर्तृवाच्य में दोनों पद होते हैं।[३१] अतः २१६ तथा कर्मवाच्य में १०८ रूप कुल ३२४ रूप होते हैं।

अकर्मक धातु भी ण्यन्त होने पर सकर्मक हो जाती है, अतः इसका दूसरा वाच्य कर्मवाच्य ही होता है। **बिभावयिष्यते स्वामिना भृत्य** मालिक के द्वारा होते हुए (विद्यमान) नौकर को प्रेरित करने की इच्छा की जाती है।

८. सन् + णिच् (**जिगमिषयति** जाना चाहते हुए को प्रेरित करता है) में भी पूर्वोक्त प्रकार से सकर्मक अकर्मक दोनों प्रकार की धातुओं से कर्तृवाच्य में २१६ + कर्मवाच्य में १०८ = ३२४ रूप होते हैं।

९. सन् + णिच् + सन् (**जिगमिषयिषति** जाना चाहते हुए को प्रेरित करना चाहता है) में भी पूर्ववत् ३२४ ही रूप होते हैं।

१०. णिच् + सन् + णिच् (**जिगमयिषयति** भेजना चाहते हुए को प्रेरित करता है) के भी पूर्ववत् ३२४ रूप बनते हैं।

११. सन् + णिच् + णिच् (**जिगमिषयति** जाना चाहते हुए को प्रेरित करते हुए को प्रेरित करना चाहता है) के भी ३२४ ही।

१२ णिच + णिच + सन् (**जिगमयिषति** भेजते हुए को प्रेरणा देना चाहता है) के भी रूप सङ्ख्या ३२४ ही होती है सन् प्रकृति से पुन सन् नहीं लगता है [३२]

१ यङ + णिच जङगम्ययति खूब या बार बार जाते हुए को प्रेरित करता है[३३] म भी = २४ हो

१४. यङ् + सन् (जङ्गम्यिषते बार बार या खूब जाना चाहता है) में कर्तृवाच्य मे केवल आत्मनेपद ही होने के कारण (देखिये पाददिप्पण ३१) १०८ दूसरे वाच्य में भी १०८ = २१६ रूप ही होते हैं।

अकर्मक धातु में भाववाच्य में १० सामान्यतः १० लकारों के रूप तथा २ लिट् में अनुप्रयोग के रूप अधिक और कुल (कर्तृवाच्य के १०८ से मिला कर) १२० रूप होते हैं।

१५. यङ् + णिच् + सन् जङ्गम्यायिषति बार-बार या खूब जाने हुए को प्रेरित करना चाहता है) में कर्तृवाच्य में धातु उभयपदी होती है (दे० पाददिप्पण ३१) अतः ३२४रूप ही होते हैं।

१६. यङ् + सन् + णिच् ,जङ्गम्यिषयति बार-बार या खूब जाना चाहते हुए को प्रेरित करता है) के भी पूर्ववत् ३२४ ही रूप होते है।

संस्कृत की सकर्मक धातु के इस प्रकार प्रत्ययमाला मे कर्तृवाच्य में २०५२ रूप, कर्मवाच्य में १०८० रूप होते हैं, और सब रूपो की सङ्ख्या ३१३२ होती है।

अकर्मक धातु के भी कर्तृवाच्य में तो २०५२ ही किन्तु दूसरे वाच्य में ९८४ रूप और मिलाकर ३०३६ रूप होते हैं।

महायोग

सामान्यतः एक सकर्मक धातु के शुद्धावस्था में (अपवादों को छोड़ कर) १८०, प्रक्रियाओं में १०२८ तथा प्रत्ययमाला में ३१३२ और कुल ४३४० रूप बनते है।

अकर्मक धातु के १०० शुद्धावस्था में, ७४० प्रक्रियाओं में और प्रत्ययमाला में ३०३६ रूप होते हैं और सबका योग होता हैं ३८७६।

स्वरान्त सकर्मकों के २२४ शुद्धावस्था में (दे १ ख), १०७२ प्रक्रियाओं में और ३१३२ प्रत्ययमाला में, कुल ४४२८ रूप होते हैं। अकर्मकों के १०४ शुद्धावस्था में, ७४४ प्रक्रियाओं में, ३०३६ प्रत्ययमाला में = ३८८४ रूप होते हैं।

१६. उपर्युक्त विवरण कुछ निर्दिष्ट स्थलों को छोड़कर एकपदी धातुओं पर लागू होता है। जो धातु शुद्धावस्था में उभयपदी हैं, वे सन्नन्तावस्था में भी उभयपदी होती हैं। णिच् मे धातु स्वभावतः ही उभयपदी हो जाती है। अतः उभयपदी धातु के शुद्धावस्था में कर्तृवाच्य मे और सन्प्रक्रिया में कर्तृवाच्य में जितने रूप बतलाये है, उससे लगभग दूने रूप बनेंगे। शेष प्रक्रियाओं तथा प्रत्ययमाला में शुद्धावस्था में उभयपदी होने से कोई अन्तर नहीं पड़ता। उनके पद का उनके स्थलों में निर्देश कर दिया गया है।

अतः उभयपदी धातु के शुद्धावस्था में सामान्यतः दूसरे पद के ९० रूप, सन्प्रक्रिया मे १०८ (= १९८) रूप अधिक होंगे। महायोग में सकर्मक धातु की रूप-सङ्ख्या ४५३८, अकर्मक की ४०७४, स्वरान्त सकर्मक की ४६२६, स्वरान्त अकर्मक की ४०८२ होती है। सर्वाधिक रूप-सङ्ख्या वाली एकपदी धातु में √गुप (गुपू रक्षणे भ्वादि ३९५ की

शुद्धावस्था में ४३८ प्रक्रियाओं में १०२८ + तथा प्रत्ययमाला में ३१३२ = ४५६८ रूप-सङ्ख्या होती है।

संदर्भ-संकेत

(१) देखिये, निरुक्तम् १।२० 'धातुर्दधाते।' (२) दे०, उणादिसूत्र ॥१।७२॥ 'सि-तनि-गमि-मसि-सच्यवि-धाञ्-क्रुशिभ्यस्तुन्।' (३) दे० शतपथ ब्राह्मणम्, काण्ड १२, अध्याय २, ब्राह्मण ४, खण्ड, 'अथाध्यात्मम्। उदान एव पूर्णमा। उदानेन ह्यायम्पुरुषः पूर्य्यत इव'।—इत्यादि स्थल में शरीर के प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान इन पांच वायुओं में से उदान आदि तत्त्वों को 'आध्यात्मिक' अर्थ में गिनाया है। इसी प्रकार छान्दोग्य उपनिषद २।१४ में उद्गीथ की अध्यात्म-व्याख्या में प्राण, वाङ्, श्रोत्र, मन आदि शारीरिक तत्त्वों का वर्णन किया गया है। (४) दे० कठोपनिषद् धरा। २०। 'धातु प्रसादान् महिमानमात्मनः' पर श्री शङ्कराचार्य 'मनआदीनि करणानि धातवः······'।

(५) श्लेष्मादि, रसरक्तादि, महाभूतानि, तद्गुणाः।
इन्द्रियाण्यश्माविकृतिः, शब्दयोनिश्च धातवः॥ अमरकोष

(६) दे० अध्याय ६, खण्ड ५। अन्नमशितं त्रेधा विधीयते। तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति। यो मध्यमस्तन्मांसम्। योऽणिष्ठस्तन्मनः। आपस्त्रेधा विधीन्ते। तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं भवति। (७) दे० ऊपर पादटिप्पण ५ तथा प्रक्रिया-कौमुदी, उत्तरार्ध, मङ्गलाचरणः-प्रकृतिः सा जयत्याद्या यया धात्वादिरूपया। व्यज्यन्ते शब्दरूपाणि परप्रत्ययसन्निधेः॥ (८) दे० निरुक्तम् १।१२। 'तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च। न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके।' और दे० महाभाष्यम् ॥३।३।१॥ 'नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्।' (९) दे० 'ओङ्कारं, पृच्छामः को धातुः ? किम्प्रातिपदिकम् ? किं नामाख्यातम् ? (१०) दे० Essentials of English Grammar. (११) दे० निरुक्तम् १।१।११। 'पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेनाचष्टे—व्रजति पचतीति।' (१२) दे० सिद्धान्त कौमुदी, भावकर्मप्रक्रिया। 'भावो भावनोत्पादना क्रिया। सा च धातुत्वेन सकलधातुवाच्या भावार्थकलकारेणानूद्यते। युष्मदस्मद्भ्यां सामानाधिकरण्याभाव प्रथमपुरुष। तिङ्वाच्यभावनाया असत्वरूपत्वेन द्वित्वाद्यप्रतीतेर्न द्विवचनादि, किन्त्वेकवचनमेव। तस्यौत्सर्गिकत्वेन सङ्ख्याऽनपेक्षत्वात्। (१३) दे० महाभाष्यम् ॥१।३।१। 'अमूर्ता हि क्रिया निरुपाख्या। सा कारकैरभिव्यज्यमाना कारकशरीरे वसन्ती शक्यते निर्देष्टुम्'। (१४) जैसे, एध् के कर्तृवाच्य में लुङ् (सामान्य भूत), मध्यम पुरुष, बहुवचन में 'ऐधिध्वम्' और 'ऐधिढ्वम्' दो रूप बनते हैं। इनके ध्, ढ्, व् और म् को द्वित्व (ऐधिढ्ढ्वम् आदि) का विकल्प होकर १६ रूप बनते हैं। दे० सिद्धान्त कौमुदी, भ्वादिगण, धातुसङ्ख्या २। हमने उस सङ्ख्या को छोडकर केवल एक रूप ही माना है। (१५) दे० अष्टाध्यायी ३।१।२२॥ 'धातोरेकाचो हलादे यङ्। (१६ दे० वैयाकरण भूषण-सार तिङर्थनिर्णय प्रकरणम्,

दे० अष्टा०—पूर्ववत्सनः ।।१।३।६२।। (३३) दे० सिद्धान्त-कौमुदी सन्प्रक्रिया में उद्धृत कारिका –

धातोः कार्यमुच्यमानं तत्प्रत्यये भवति इति विकल्पः ।

सरुप: प्रत्ययो नेष्ट: सन्नन्तात् सनिष्यते ।।

(३४) पाणिनि के अनुसार (दे० अष्टा० नित्यं कौटिल्ये गतौ ।।३।१।२३।।) तो गत्यर्थक धातुओं से यङ गति की कुटिलता अर्थ में ही होता है किन्तु हमने 'शब्देन्दु शेखर' में आचार्य नागेश के द्वारा प्रतिपादित मत का अनुसरण करते हुए उपर्युक्त अर्थ दिया है।

बंगला से अनूदित हिन्दी नाटक : सीमाएँ और उपलब्धियाँ

● सत्येन्द्र तनेजा

साहित्य के बहुमुखी विकास के लिए अनुवाद-साहित्य सदा उपयोगी और आवश्यक रहा है। मौलिक साहित्य की अपनी परंपराएँ और सीमाएँ होती हैं। अनुवाद साहित्य एक नई दिशा का उन्मेष करता है। प्रायः प्रचलित परंपराओं से भिन्न, नवीन एवं विविध रचनाओं का अनुवाद किया जाता है। इससे साहित्य में ताज़गी आती है और उसे नया आयाम मिलता है।

हिन्दी नाटक का उदय अनुवाद-कार्य से हुआ।[1] हिंदी का पहला नाटक 'विद्यासुन्दर' यतीन्द्र मोहन ठाकुर के इसी नाम के नाटक का अनुवाद है।[2] इसके अनुवादक युग-प्रवर्तक तथा युग नेता भारतेंदु हरिश्चन्द्र थे। बंगला जीवन एवं साहित्य से अनुप्रेरित एवं अनुप्राणित होने के कारण वे उसके व्यापक साहित्य-भण्डार से हिन्दी को समृद्ध करना चाहते थे।[3] उनके दिशा-निर्देशन के प्रभावस्वरूप उसयुग के सभी नाटककार बंगला-साहित्य की गतिविधियों से परिचित तो थे ही, अधिकांश ने किसी न किसी बंगला रचना का अनुवाद किया। बालकृष्ण भट्ट, राधाचरण गोस्वामी, केशवराम भट्ट, शालिग्राम वैश्य, किशोरीलाल गोस्वामी, बलदेव प्रसाद मिश्र, गोपालराम गहमरी कोई भी तो अपवाद नहीं है। यही नही, कुछ नाटककार नए साहित्यिक जगत से इतने चमत्कृत एवं प्रभावित हुए कि वे नाटक या नाटककार के चुनाव तक मे संतुलन नही रख पाए। एक ओर राजकिशोर दे, द्वारिका प्रसाद गांगुली और मनीलाल जैसे साधारण कोटि के नाटककारों की रचनाओं के भाषांतर प्रस्तुत किए गए, तो दूसरी ओर इस युग के सर्वाधिक क्रांतिकारी नाटककार दीनबन्धु का ख्यातिप्राप्त सशक्त नाटक 'नील दर्पण' छूट गया। बंगाल-सम्मोहन के प्रभावस्वरूप, ऐसा लगता है कि कुछ-कुछ 'जो हाथ लगा' की नीति का अनुसरण हुआ।

१९वीं शताब्दी में दो तरह के अनुवादक मिलते है, साहित्यकार अनुवादक तथा व्यावसायिक अनुवादक। भारतेंदु हरिश्चन्द्र, केशवराम भट्ट, राधाचरण गोस्वामी ने दो-दो नाटकों के तथा गोपालराम गहमरी ने तीन-चार नाटकों के हिन्दी रूपांतर प्रस्तुत किए। व्यावसायिक स्तर पर उदित नारायण लाल और रामकृष्ण वर्मा ने अनुवाद-कार्य किया। इस दिशा में वर्मा की उपलब्धियाँ उल्लेखनीय हैं। भारत-जीवन-प्रेस के द्वारा उन्होंने नाटकों के अतिरिक्त उपन्यास आदि के भी प्रस्तुत किए

अनुवाद-साहित्य के मूल्यांकन पर यह स्वीकार करना पड़ेगा कि सर्जनात्मक साहित्यकारों ने पुस्तक-चुनाव और रूपांतरण में अधिक प्रतिभा एवं सामर्थ्य का परिचय दिया है। रचना की आधारभूमि तथा उद्देश्य और रचयिता की सीमाओं का उल्लंघन न करते हुए इन अनुवादकों ने, अनुवाद को सजीव और सशक्त बनाने के लिए, यथास्थान परिवर्तन-संशोधन किए हैं। भारतेन्दु ने 'विद्यासुन्दर', केशवराम भट्ट ने 'सज्जाद संबुल' और 'शमशाद सौसन' शालिग्राम वैश्य ने 'पुरुविक्रम' में कांट-छांट और तराश कर इन्हें मूल रचना का स्वरूप एवं स्तर प्रदान करने का प्रयास किया। इस युग का सर्वाधिक श्रेष्ठ एवं सफल अनुवाद राधाचरण गोस्वामी का 'बूढ़े मुँह मुँहासे, लोगे देखें तमासे' है। यह प्रहसन माइकेल मधुसूदन दत्त के 'बुड़ शालिकेर घाड़े रों' का अनुवाद है, परन्तु गोस्वामी की सर्जनात्मक शक्तियों के कारण उसमें मौलिक रचना की सभी विशेषताएँ उपलब्ध हैं। इस तरह अनुवाद-कार्य में स्वच्छन्दता और मौलिकता का स्पर्श दिया गया और इसके परिणामस्वरूप हिन्दी गद्य को नई गरिमा एवं भंगिमा मिली। हिन्दी के प्रथम अनूदित नाटक 'विद्यासुन्दर' में ही दोनों विशेषताएँ मिल जाती है। यतीन्द्र मोहन ठाकुर की विद्या एक स्थल पर कहती है :—

"केवल यन्त्रणा भोग कलेइ आमि पृथिबीते एसेछिलेम, नैले देख आज पर्यन्त एकटि दिनओ आमार सुखेर तरे हलो ना। कि जानि विधातार केमन बाद, आमार सुखकर वस्तु तिथि आगे अपहरण करेन, आमार प्रियताई अक्षरण सूचक·········सखि, तबु आशार विपरीते आशा करे छिलेम जे एत कष्ट सये शेषे मनेर मत पति पेलेम, एखन बुझि सब दुःख दूरे जाबे। ता सखि सकल साधतो आज आमार मिट्‌लो। एखन निश्चय बुझलेम् जे जीवन सत्वे आमार यन्त्रणा शेष नाई।"[४]

भारतेंदु की विद्या इसी स्वर में अपनी मनोवेदना व्यक्त करती है, परन्तु उसकी प्रस्तुति में नवीनता है—

"केवल दुःख भोगने को जन्मी हूँ, क्योंकि आज तक एक भी सुख नहीं मिला। क्या विधाता की सब उलटी रीति है कि जिस वस्तु से मुझे सुख होता है, उसी को हरण करता है। हाय! मैंने जाना था कि मुझे मनमाना प्रीतम मिला, अब मैं कभी दुःखी न हूँगी सो आशा आज पूरी हो गई। हाय! अब मुझे जन्म भर दुःख भोगना पड़ा।"[५]

राजनैतिक जागरण और सामाजिक चेतना के उन्मेष में अनूदित नाटक-साहित्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। किरणचंद्र वंद्योपाध्याय और उपेन्द्रनाथ दास के प्रभावस्वरूप राष्ट्रीयता का तात्पर्य राज्य-भक्ति के धरातल पर देश-भक्ति माना जाने लगा। राज्य-भक्ति और देशभक्ति में विरोध नहीं माना गया। माइकेल मधुसूदन दत्त की प्रेरणा से धर्म और समाज की रूढ़िग्रस्त मान्यताओं की निंदा की गई; साथ ही, नवीनता से चमत्कृत एवं आकृष्ट होकर पश्चिम के अंधानुकरण की भर्त्सना की गई। इसी तरह अनुवाद-साहित्य नवीन नाट्य चेतना एवं नाट्य शिल्प के प्रसार में सहयोगी हुआ।

इस शताब्दी के अंत में इस विश्वास में जो कुछ कुछ ग्रंथि का रूप धारण कर रहा था कोई अंतर नहीं आया कि हिन्दी जगत् में नाटकों का अभाव है और उसकी पूर्ति के लिए

बंगला-साहित्य का आश्रय लेना चाहिए। इस सत्य की पुष्टि लोकप्रिय अनुवादक गोपाल राम गहमरी के निम्नलिखित कथन से हो जाती है :—"हमारी मातृभाषा की सहोदरी बंग बिहारिणी बंगभाषा इस समय जैसी उन्नति के शिखर पर पहुँची है, सहृदय हिन्दी रसिक मातृ और बंग भाषा की निर्मल ज्योति में कालयापन करने वाले भलीभाँति जानते हैं···हिन्दी भाषा का मेरा शुद्ध प्रेम बंग भाषा के अच्छे और उपयोगी नाटक और उपन्यासों को अपनी मातृभाषा में अनुवाद करने का प्रबल आकर्षण हुआ।[६]

२०वी शती के प्रारंभ में 'सरस्वती' के माध्यम से बंगला-सम्मोहन मुखरित होता रहा। १९०१ ई० में प्रकाशित 'ग्रंथकार लक्षण', पूर्व-परंपराओं और युगदृष्टि का बोध कराता है :—

"भला बुरा छपवाए सिद्ध
धन न सही नाम प्रसिद्ध
नाटक उपन्यास लिखने में जरा न सकुचाते हैं।
जिनके नाच कूद का सार,
बंगला भाषा का भण्डार
वे ही महिमा महिम विद्वज्जन ग्रंथकार कहलाते हैं।"[७]

स्वयं महावीर प्रसाद द्विवेदी नाटकों के अभाव के बारे में सजग थे और अनुवाद-कार्य को प्रोत्साहित करते रहते थे। इस शताब्दी के पहले दशक के प्रमुख साहित्यकार व्रजनंदन सहाय ने १९०७ ई० में बंगला-साहित्य का स्वागत किया। अपने एक अनूदित नाटक की भूमिका मे लिखते हैं—"जगन्मोहिनी बंग रमणी को देखकर आज कौन है जो मुग्ध नहीं होता है, विशेषत: जब वह देशीय नागरी के भेष को धारण करती है।"

क्षीरोद प्रसाद विद्याविनोद, अनु० व्रजनंदन सहाय, 'सप्तम प्रतिमा नाटक' (१९०७ ई० (पृ० ८)

इस समय के ओजस्वी लेखक पं० माधव प्रसाद मिश्र के विचार से 'इसका (रिक्तहस्ता हिन्दी) बहुत सा उपकरण भी इस लघीयसी को उसी महीयसी से मिला है।' १९१३ ई० मे रूपनारायण पांडेय ने 'अनुवाद ग्रन्थों की आवश्यकता' लिख कर इस प्रश्न की महत्ता पर प्रकाश डाला और विभिन्न पक्षों पर विचार व्यक्त किया। १९१३ ई० में 'गीतांजलि' पर नोबेल पुरस्कार घोषित होने से इस प्रवृति को गति मिली। हिन्दी-जगत् का वातावरण बंगलानिष्ठ-सा हो गया। इन्हीं अनुकूल परिस्तिथियों के संदर्भ में रवीन्द्रनाथ ठाकुर और द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों का भाषांतरण शुरू हुआ। नाथूराम प्रेमी ने राय के नाटकों का अनुवाद १९१६ ई० में प्रारंभ किया और १९३० ई० तक १३ नाटकों के हिन्दी रूपांतर प्रस्तुत किए। राय की प्रसिद्धि एवं प्रभविष्णु-शक्ति से प्रेरित होकर रूपनारायण पांडेय ने भी उनके नाटकों के अनुवाद किए। रवीन्द्र के नाटकों के अनुवाद रूपनारायण पांडेय तथा रामचन्द्र वर्मा ने इसी समय में किए। वास्तव में रवीन्द्र की रचनाओं के प्रति कई लोग आकृष्ट हुए। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'रक्त करबी' का रूपांतर किया। धन्यकुमार जैन ने कई भागों में रवीन्द्र साहित्य का अनुवाद कर सराहनीय काय किया

इस शताब्दी के अनुवादक सर्जनात्मक प्रतिभा रखते हुए भी मुख्य रूप से साहित्यकार न होकर अनुवादक हैं। इनकी कुछ मौलिक रचनाएँ अवश्य मिलती हैं, परन्तु उपलब्धि का क्षेत्र अनुवाद है। नाथूराम प्रेमी, रामचन्द्र वर्मा, रूपनारायण पांडेय इस युग के ख्यातिप्राप्त लोकप्रिय अनुवादक हैं। बंगला नाटकों के अनुवाद द्वारा इन्होंने हिन्दी नाटक को नई दिशा और दृष्टि प्रदान की।

रूपनारायण पांडेय का स्थान और गौरव अलग है। उनका अनुवाद क्षेत्र व्यापक एव विविध रहा। व्यावसायिक स्तर पर कई प्रकार की रचनाओं और रचनाकारों को लेते हुए उनकी प्रतिभा मौलिकता और साहित्यिकता बनाए रखने में यथेष्ट सफल रही है। उन्होंने बंगला के सभी श्रेष्ठ नाटककारों, गिरीश, क्षीरोद प्रसाद विद्याविनोद, द्विजेन्द्रलाल तथा रवीन्द्रनाथ ठाकुर को भाषांतरित करने में क्षमता और सिद्धि का परिचय दिया है। निम्न उदाहरणों से इस स्थापना की पुष्टि हो जाएगी। राय के 'चन्द्रगुप्त' में हेलेन का संवाद—

'जे एकटा प्रतिष्ठित राज्येर शान्तिभंग करते जाय – से बाइरेर शत्रु होक् बा सेइ राज्येर प्रजा होक् से महापातकी। शत शत माता के पुत्र होना, बालिका के पितृ-हीना, सती के पतिहीना करा—देशे एकटा आतंक जागिये तोला—शुद्ध एकटा विजय गौरवेर उद्देश्ये एकटा उद्दाम प्रवृत्तिर ताड़नाय, शुद्ध एकटा खेयलेर जन्य—एर चेये महापाप आछे।[1]

रूपनारायण पांडेय ने अपने अनुवाद में कथ्य को तो नहीं बदला परन्तु कथन-शैली में गति और शक्ति का परिचय दिया है। यथा :—

"जो एक प्रतिष्ठित राज्य की शांति भंग करने जाता है, वह चाहे शत्रु हो और चाहे उसी राज्य की प्रजा हो—वह महापापी है। सैकड़ों माताओं को पुत्रहीन करना, बालक-बालिकाओं को पितृहीन करना, हजारों नारियों को विधवा बनाना, देश में घोर आतंक पैदा करना, - केवल एक विजय गौरव प्राप्त करने के लिए, एक उद्दाम प्रवृत्ति की प्रेरणा से। इस से बढ़ कर पाप और कौन है ?"

मुगलकालीन नाटकों के रूपांतरण में पांडेय ने द्विजेन्द्र लाल की कोमल, ललित एव उच्छ्वासपूर्ण भाषा को उर्दू जामा पहना दिया। बहुत संभव है, उन्होंने यथार्थ का स्पर्श देने के लिए पत्र और परिस्थिति के परिप्रेक्ष्य में यह परिवर्तन किया हो। इसीलिए उर्दूनिष्ठ भाषा में भाव गंभीर्य एवं भावप्रवाह की मात्रा तथा स्वरूप में बहुत कमी नहीं आई। भावावेग से उद्वेलित एवं उत्तेजित शाहजहाँ के अशांत एवं असंतुलित व्यवहार का सजीव चित्र रेखांकित किया गया है—

"अगर ऐसा ही है, तो ऐ आसमान, अभी तक तेरा रंग नीला क्यों है ? सूरज तू अभी तक आसमान के ऊपर क्यों है ? बेहया ! नीचे उतर आ। एक बड़े भारी तूफान में तू चूर-चूर हो जा। भूचाल ! तू हुकम कर इस जमीन की छाती फाड़ कर, इसके टुकड़े-टुकड़े उड़ा दे। और क्या ही अच्छा हो अगर एक भारी आंधी आकर यही खाक दुनिया के मुँह पर डाल आवे

इस दिशा में, वास्तव में, पांडेय पर पारसी थिएटर की लोकप्रिय शैली का गहरा प्रभाव पड़ा, अन्यथा राय की सरस एवं प्रांजल भाषा को एकदम बदल देना युक्तिसंगत नहीं लगता। पांडेय पारसी रंगमंच की सर्वव्यापी, व्यावसायिक-वृत्ति से अछूते न रह सके। यह परिवर्तन केवल भाषा और अभिव्यक्ति का न रहा, इससे भाव-प्रस्तुति और प्रभाव में अंतर आ गया। राय के राणा प्रताप सिंह' की मेहर एवं दौलत का व्यक्तित्व कोमल, भावप्रवण एवं द्रवणशील है परन्तु सर्वत्र शालीनता का निर्वाह हुआ है। उर्दूनिष्ठ भाषा से उनके संवादों के स्वर एवं स्वरूप में दरबारी एवं बाजारू भावना उभर आई है। मेहर का निम्न लिखित गीत पारसी-मंच का ही लगता है—

' दिल मिला, आँख लड़ी, चैन गया, नींद गई।
इश्क का ऐसा हशर है, मुझे मालूम न था।''[१३]

निश्चय ही पारसी कम्पनियों से प्रभावित हो कर पांडेय ने भाषा-आधार बदला।

राय और रवीन्द्र के अनुवादों का हिन्दी नाटक साहित्य पर व्यापक प्रभाव पड़ा। हिन्दी नाटक की सर्वाधिक समृद्ध परम्परा ऐतिहासिक नाटकों की है। राय से अनुप्रेरित एवं अनुप्राणित हो कर हिंदी नाटककारों ने, इतिहास की युग-सापेक्ष व्याख्या की और उसे राष्ट्रीय जागरण एवं सांस्कृतिक चेतना का माध्यम बनाया। भावातिरेक का परिचय प्रत्येक दिशा मे मिलता है—भावप्रवण पात्र, उच्छ्वासपूर्ण भाषा तथा गीतप्रियता। नाट्य-शिल्प तथा नाट्य-विधानों में भी उल्लेखनीय परिवर्तन हुए।

बंगला नाटककारों में द्विजेन्द्रलाल राय हिन्दी जगत् में अधिक लोकप्रिय ही नहीं रहे, बल्कि बहुत देर तक उनका सम्मोहन सा छाया रहा। प्रेमचन्द जैसे प्रतिष्ठित कलाकार का अनुभव युगदृष्टि का संकेत देता है :—"हिन्दी में अच्छे ड्रामों की कमी है। डी. एल. राय के नाटकों को निकाल दीजिए तो हमारे पास कुछ भी नहीं रह जाता ''[१४] लक्ष्मीनारायण मिश्र ने अपने पूर्ववर्ती नाटककारों की नाट्य-चेतना समझ कर वस्तुस्थिति को स्पष्ट किया है :—"पुरानी परिपाटी से मेरा मतलब द्विजेन्द्र लाल राय की नाट्य-परिपाटी से है—जिसका प्रभाव हमारे नाटकों पर बहुत बुरा पड़ा, हमारे जो कुछ इने-गिने नाटक इधर प्रकाशित हुए है, सब में दुर्भाग्यवश द्विजेन्द्र लाल राय को आदर्श मान कर लेखकों ने कागज रंगा है—''[१५]

प्रायः अनुवाद कार्य अपेक्षित साहित्यिक निष्ठा से कम लिया जाता है। उसमें प्रचार और व्यावसायिक-वृत्ति उभर आती है। हिन्दी-नाटक के कई अनुवाद-अनुवादक हुए हैं। साहित्यिक दृष्टि से मूल्यांकन करने पर छिपा नहीं रहता कि गिने-चुने अनुवाद-अनुवादकों को छोड़ कर अधिकांश लोकप्रियता के प्रवाह में बह गये हैं। अनुवादक मौलिक कलाकार नहीं है, परन्तु उसमें मौलिक कलाकार के सभी गुण होने चाहिए। 'साहित्यिक गरिमा लिए हुए सफल एवं श्रेष्ठ अनुवाद, अनुवाद न रह कर, मौलिक रचना का गौरव प्राप्त कर लेते हैं। इस दुष्कर एवं दुरूह कार्य को एक अनुवादक ने मार्मिक शब्दों में व्यक्त किया है—"किसी लज्जावती वधु को एक के अंतःपुर से दूसरे किसी अंतःपुर में से ले जाने के लिए जिस साव धानी की होती है उसी प्रकार एक भाषा की वस्तु को दूसरी भाषा में ले जाने

के लिए भी उतनी ही सावधानी की जरूरत होती है"।[११] पं० चन्द्रशेखर मुखोपाध्याय, अनुवादक-कृष्ण कुमार मुखोपाध्याय, 'उद्भ्रान्त प्रेम', भूमिका क—ख।

अंत में; उन नाटकों की प्रामाणिक सूची दी जाती है जिनके बंगला से हिन्दी में अनुवाद हुए। यहाँ पर अनूदित नाटक के प्रथम प्रकाशन काल या संस्करण को लिया गया है। काल-निर्णय के संबंध में बहुत मतभेद मिला है। मूल-सामग्री की अनुपलब्धि से यह कार्य सदा शोध की अपेक्षा रखता है। कोष्ठक में 'हिन्दी नाम दिए गए हैं। इस सूची में मूल रचना के प्रथम अनुवाद को ही लिया गया है। परवर्ती अनुवादों का उल्लेख नहीं किया गया।

क्रमांक	मूलनाटककार	नाटक का नाम	अनुवादक	समय
१.	यतीन्द्र मोहन ठाकुर	विद्यासुन्दर	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	१८६८ ई०
२.	उपेन्द्रनाथ दास	शरत् सरोजिनी (सज्जाद संबुल)	केशवराम भट्ट	१८७४ ई०
३.	किरणचन्द्र वंद्योपाध्याय	भारत माता (भारत जननी)	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	१८७७ ई०
४.	मनमोहन बसु	रामाभिषेक नाटक	रामगोपाल विद्यान्त	१८७७ ई०
५.	माइकेल मधुसूदन दत्त	पद्मावती	बालकृष्ण भट्ट	१८७८ ई०
६.	अज्ञात	भारते यवन	राधाचरण गोस्वामी	१८७६ ई०
७.	माइकेल मधुसूदन दत्त	शर्मिष्ठा	रामचरण शुक्ल	१८८० ई०
८.	उपेन्द्र नाथ दास	सुरेन्द्र विनोदिनी (शमशाद सौसन)	केशवराम भट्ट	१८८० ई०
९.	ज्योतिरिन्द्र नाथ ठाकुर	सरोजिनी (चित्तौर आक्रमण)	केशवप्रसाद मिश्र	१८८१ ई०
१०.	अज्ञात	बाल विधवा संताप	काशीनाथ खत्री	१८८१ ई०
११.	माइकेल मधुसूदन दत्त	कृष्णकुमारी	रामकृष्ण वर्मा	१८८३ ई०
१२.	माइकेल मधुसूदन दत्त	एई कि बोले सभ्यता (क्या इसी को सभ्यता कहते हैं)	व्रजनाथ	१८८४ ई०
१३.	माइकेल मधुसूदन दत्त	बुड़ शालिकेर घाड़े रों (बूढ़े मुँह-मुंहासे लोग देखें तमासे)	राधाचरण गोस्वामी	१८८५ ई०
१४.	मनमोहन बसु	सती	उदितनारायण	१८८६ ई०
१५.	राजकिशोर दे	पद्मावती	रामकृष्ण वर्मा	१८८८ ई०
१६.	द्वारिकानाथ गांगुली	वीर नारी	रामकृष्ण वर्मा	१८८६ ई०
१७	गोपाल चन्द्र मुखोपाध्याय	यौवन योगिनी	महमरी	१८६२ ई०

क्रमांक	मूल	नाटक का नाम	अनुवादक	समय
१८.	उपेन्द्रनाथ दास	दादा ओ आमि (दादा और मैं)	गोपालराम गहमरी	१८९३ ई०
१९.	ज्योतिरिन्द्र नाथ ठाकुर	अश्रुमती	उदित नारायण लाल	१८९५ ई०
२०.	स्वर्ण कुमारी (संभवतः इनके उपन्यास का नाटकीय रूप)	दीप निर्वाण	उदित नारायण लाल	१८९५ ई०
२१.	लक्ष्मी नारायण चक्रवर्ती	नव्वाब सिराजुद्दौला	शिवनंदन त्रिपाठी	१८९६ ई०
२२.	बिहारीलाल चट्टोपाध्याय	प्रभासमिलन	मधुसूदन लाल	१८९९ ई०
२३.	राजकृष्ण राय	नाट्य संभर	किशोरीलाल गोस्वामी	१९०४ ई०
२४.	ज्योतिरिन्द्रनाथ ठाकुर	पुरुविक्रम	शालिग्राम वैश्य	१९०५ ई०
२५.	क्षीरोद प्रसाद विद्याविनोद	सप्तम प्रतिमा	व्रजनंदन सहाय	१९०६ ई०
२६.	गिरीश चन्द्र घोष	विषाद (दुखिया)	राजेन्द्र बंद्योपाध्याय	१९०८ ई०
२७.	दीनबन्धु	बूढ़ा वर	व्रजनंदन सहाय	१९०३ ई०
२८.	राजकृष्ण राय	बनवीर	गोपालराम गहमरी	१९१२ ई०
२९.	गिरीश चन्द्र घोष	शास्ति कि शान्ति (वैधव्य कठोर दण्ड या शांति)	गिरीश चन्द्र जोशी	१९१८ ई०
३०.	हरनाथ बसु	वीरपूजा	रूपनारायण पांडेय	१९१९ ई०
३१.	मनीलाल बंद्योपाध्याय	बाजीराव	परमेष्ठी दास जैन	१९१९ ई० (द्वितीयावृत्ति)
३२.	क्षीरोद प्रसाद विद्याविनोद	खाँजहाँ	रूपनारायण पांडेय	१९१९ ई०
३३.	क्षीरोद प्रसाद विद्याविनोद	चांदबीबी	रामचन्द्र वर्मा	१९२० ई०
३४.	गिरीशचन्द्र घोष	बलिदान	रूपनारायण पांडेय	१९२० ई०
३५.	गिरीशचन्द्र घोष	झखमारी	रूपनारायण पांडेय	१९२१ ई०
३६.	अमूल्यनारायणनागचौधरी	प्रायश्चित प्रहसन	रूपनारायण पांडेय	१९२१ ई० (द्वितीयावृत्ति)
३७.	अमरेश मुखोपाध्याय	अवध की बेगम	के० के० मुखर्जी	
३८.	गिरीश चन्द्र घोष	पतिव्रता	रूपनारायण पांडेय	१९२८ ई०
३९.	मनमोहन बसु	पृथ्वीराज	रूपनारायण पांडेय	१९२९ ई० (द्वितीयावृत्ति)
४०.	अज्ञात	आहुति या जयपाल	रूपनारायण पांडेय	१९२९ ई०
४१.	बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय	उदार प्रेम	ठाकुर रामपलट सिंह 'मधुर	१९३० ई०

क्रमांक	मूल नाटककार	नाटक का नाम	अनुवादक	समय
		(उपन्यास दुर्गेशनंदिनी का नाटकीय रूप)		
४२.	गिरीशचन्द्र घोष	बुद्ध चरित्र	रूपनारायण पांडेय	१९३१ ई०
४३	गिरीशचन्द्र घोष	प्रफुल्ल	रूपनारायण पांडेय	१९३४ ई०
४४.	योगेशचन्द्र चौधरी	जागृति	गिरीशचन्द्र जोशी	१९३७ ई०
४५.	क्षीरोद प्रसाद विद्याविनोद	सम्राट् अशोक	रूपनारायण पांडेय	१९४५ ई० (द्वितीयावृत्ति)
४६.	शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय	रमा	रूपनारायण पांडेय	
	(राय के व्यापक प्रभाव और प्रचार को ध्यान में रखकर ही अलग सूची दी जा रही है)			
४७.	द्विजेन्द्रलाल राय	मेवाड़ पतन	रामचन्द्र वर्मा	१९१६ ई०
४८.	”	दुर्गादास	नाथूराम प्रेमी	१९१६ ई०
४९.	”	ताराबाई	रूपनारायण पांडेय	१९१७ ई०
५०.	”	शाहजहाँ	नाथूराम प्रेमी	१९१७ ई०
५१.	”	भीष्म प्रतिज्ञा	रूपनारायण पांडेय	१९१७ ई०
५२.	”	उस पार	रूपनारायण पांडेय	१९१७ ई०
५३.	द्विजेन्द्रलाल राय	भारतरमणी	रूपनारायण पांडेय	१९१८ ई०
५४.	”	सीता	रूपनारायण पांडेय	१९१८ ई०
५५.	”	नूरजहां	नाथूराम प्रेमी	१९१८ ई०
५६.	”	ताराबाई	नाथूराम प्रेमी	१९१८ ई०
५७.	”	चन्द्रगुप्त	नाथूराम प्रेमी	१९१८ ई०
५८.	”	मूर्ख मंडली	नाथूराम प्रेमी	१९१८ ई०
५९.	”	सिंहल विजय	रामचन्द्र वर्मा	१९१९ ई०
६०.	”	पाषाणी	रूपनारायण पांडेय	१९२० ई०
६१.	”	राणा प्रताप सिंह	रूपनारायण पांडेय	१९२१ ई०
६२.	”	सूम से घर धूम	रूपनारायण पांडेय	१९२४ ई०
६३.	”	सुहराब और रुस्तम	रूपनारायण पांडेय	
	(विशिष्ट स्थान और गौरव के कारण रविबाबू की सूची अलग दी जा रही है)			
६४.	रवीन्द्रनाथ ठाकुर	चित्रांगदा	गोपालराम गहमरी	१८९९ ई०
६५.	”	डाकघर	रामचन्द्र वर्मा	१९२० ई०
६६	”	पशु-बलिदान	अज्ञात	१९२२ ई०
६७.	”	हास्य-कौतुक	रूपनारायण पांडेय	१९२३ ई०

*रवीन्द्रनाथ ठाकुर को हिन्दी जगत् में विशिष्ट स्थान एवं गौरव प्राप्त हैं, इसलिए इनकी भी सूची अलग दी गई है

क्रमांक	मूल	नाटक का नाम		समय
६८.	रवीन्द्रनाथ ठाकुर	व्यंग्य-कौतुक	रूपनारायण पांडेय	१९२४ ई०
६९.	"	अचलायतन	रूपनारायण पांडेय	१९२४ ई०
७०.	"	विसर्जन	मुरारीदास अग्रवाल (संशोधन : रामचन्द्र शुक्ल)	१९२४ ई०
७१.	"	मुक्तधारा	—	१९२५ ई०
७२.	"	राजा-रानी	रूपनारायण पांडेय	१९२५ ई०
७३.	"	चिरकुमार सभा	—	१९२८ ई०
७४.	"	नटी की पूजा	—	१९३९ ई०
७५.	"	लाल कनेर	हजारी प्रसाद द्विवेदी	१९४५ ई०
७६.	"	कच और देवयानी	धन्यकुमार जैन	रवीन्द्र साहित्य भाग—११
७७.	"	बाँसुरी	"	भाग—१३
७८.	"	कर्ण कुंती	"	भाग—१३
७९.	"	मालिनी	"	भाग —१५
८०.	"	तपती नाटक	"	भाग—१७

वर्तमान काल में भी अनुवाद-कार्य हो रहा है। नेमिचंद जैन ने माइकेल मधुसूदन दत्त के दोनों प्रहसनों के रूपांतर प्रस्तुत किए हैं। रवीन्द्र की रचनाओं को साहित्यिक धरातल पर रूपातरित किया जा रहा है। निश्चय ही इनकी प्रस्तुति स्वतंत्र, सशक्त एवं प्रभावशाली है।

संदर्भ-संकेत

(१) वस्तुतः कोई भी रचना अक्षरशः अनुवाद नहीं होती। इसलिए अनुवाद की परिधि में छायानुवाद, भावानुवाद, मर्म्मानुवाद, यहां तक कि रूपांतर को भी रखा जा सकता है (२) आधुनिक नाटकों की परंपरा के विकास को ध्यान में रख कर इसे प्रथम नाटक रहा गया, अन्यथा, 'नहुष' हिन्दी का पहला नाटक है ही (३) "अपनी सम्पत्तिशालिनी ज्ञानवृद्धा बड़ी बहन बंग भाषा के अक्षय रत्न-भण्डार की सहायता से हिन्दी भाषा बड़ी उन्नति करे।" ब्रजरत्नदास, 'भारतेन्दु ग्रंथावली' (पहला खण्ड) नाटक, पृ० ७५४ (४) यतीन्द्रमोहन ठाकुर कृत विद्याटन्दर', पृ० ७४ (५) भारतेन्दु कृत 'विद्या सुन्दर', पृष्ठ ३५ (६) 'दादा और मैं', १८९३ ई०, भूमिका (७) ग्रन्थकार 'लक्ष्मण', सरस्वती १९०१ ई० (८) क्षीरोदप्रसाद विद्या विनोद, अनु० व्रजनंदन सहाय, 'सप्तम प्रतिमा ओटक', १९०६ ई०, पृष्ठ ८ (९) माधव मिश्र निबंधमाला, प्रथम भाग, प्रथम खण्ड ४, पृष्ठ १००-१०१ (१०) 'चन्द्रगुप्त', पंचम अंक, प्रथम दृश्य, पृ० ११० (११) 'चन्द्रगुप्त', पंचम अंक, पहला दृश्य, पृ० १२१ (१२) शाहजहाँ, दूसरा अंक, तीसरा दृश्य, ३८ (१३) 'राणा प्रताप सिंह', तीसरा अंक, दूसरा दृश्य, पृ० १३ (१४) पान्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' के नाटक 'महात्मा ईसा (चतुर्थ संस्करण) का भूमिका भाग (१५) 'मुक्ति का रहस्य, (चतुर्थ आवृत्ति) भूमिका पृष्ठ २१।

साईंदाता सम्प्रदाय और उसके वाणीकार संत

• राधिका प्रसाद त्रिपाठी

अठारहवीं शताब्दी संतमत के विस्तार के नाम से अभिहित की जाती है। इस युग में उत्तरी भारत में अनेक निर्गुण सम्प्रदायों का प्रवर्तन हुआ था, किन्तु समय के अनन्त प्रवाह में पड़कर उनमें से अधिकांश का तो अब नाम भी नहीं रह गया है और कुछ अपने अस्तित्व को बचाये जहाँ-तहाँ इस प्रकार सिमटे पड़े हैं कि उनके सम्बन्ध में किसी को कोई जानकारी नही प्राप्त है। साईंदाता सम्प्रदाय भी इसी प्रकार का एक अत्यल्प प्रसिद्ध निर्गुण सम्प्रदाय है, जिसके सम्बन्ध में अभी तक स्वल्प ही लिखा गया है।

सामाजिक पृष्ठभूमि

साईंदाता सम्प्रदाय का उद्‌भव उत्तर प्रदेश के फैजाबाद जनपद में हुआ था। यह जनपद चिरकाल से भगवान् राम की जन्मभूमि और राम-भक्ति के केन्द्र रूप में प्रसिद्ध रहा है। यही कारण है कि अन्यान्य वैदिक एवं अवैदिक साधनाएँ यहाँ पनप नहीं सकीं। जन धर्म के प्रचार के असफल प्रयत्न की कहानी फैजाबाद और अयोध्या में स्थित सूने जैन-मदिरों से पूछी जा सकती है। साकेत में बौद्ध भिक्षु चातुर्मास्य मनाया करते थे, किन्तु आज इस बात का कोई ठोस प्रमाण नहीं मिलता, जिसके आधार पर हम विश्वास के साथ कह सके कि यह वही साकेत भूमि है जहाँ बौद्ध भिक्षु वर्षा ऋतु के चार मास व्यतीत करते थे। नाथ-पंथ का प्रचार देश के कोने-कोने में हुआ और गुरु गोरक्षनाथ की साधना गोरखपुर मे ही थी, किन्तु इस भू-भाग में उनके अनुयायी देखने को नहीं मिलते। संतमत के अग्रदूत कबीर का जीवन बस्ती और वाराणसी के बीच ही व्यतीत हुआ, किन्तु उसके जीवन काल तथा उनकी मृत्यु के अनन्तर कई सौ वर्षों तक उनकी परम्परा जड़ नहीं जमा सकी। इसका एकमात्र कारण यह था कि मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम का जो स्वरूप यहाँ के जन-मानस में समाया हुआ था उसके प्रति अनास्था उत्पन्न करना सरल कार्य नहीं था। किन्तु अठारहवीं शताब्दी के अन्त और उन्नीसवीं शती के प्रारम्भ होते-होते इस भू-भाग में निर्गुण मतावलम्बी संतों की अनेक गद्दियाँ जहाँ-तहाँ स्थापित हो गयी। गाजीपुर जिलान्तर्गत स्थित भुड़कुड़ा के संत भीखा साहब के शिष्य गोविन्द साहब ने इस जनपद के पूर्वी छोर पर स्थित महरौनी (अब गोविन्द साहब नाम से प्रसिद्ध हो गया है) नामक स्थान को अपनी

साधना भूमि बनाया गोविन्द साहब के शिष्य पलटू साहब की गद्दी अयोध्या में स्थापित हुई। गुरु नानक साहब के शिष्य श्रीचन्द के उदासीन पंथ की एक शाखा रामपाली (अयोध्या) में चली और सोहन शाह द्वारा प्रवर्तित साईंदाता सम्प्रदाय की गद्दियां जनारा, मिल्कीपुर मीठे गाँव और नौली-दसौली में स्थापित हुई। तात्पर्य यह कि समस्त जनपद मे लगभग एक ही समय निर्गुणोपासक संतो की बाढ़ सी आ गयी। ऐसी स्थिति में स्वभावतः प्रश्न उठता है कि आखिर वे कौन कारण थे जिन्होंने निर्गुण-पंथ के लिए इतना अनुकूल वातावरण प्रस्तुत किया।

विचार करने पर प्रकट होता है कि अठारहवीं शती तक अयोध्या में भगवान् राम के शील और शक्ति-समन्वित लोक-मंगलकारी स्वरूप की प्रतिष्ठा रही, किन्तु इसके उपरान्त यहाँ उनके रस-रूप की उपासना आरम्भ हुई। जिस प्रकार कृष्ण-भक्ति में 'गोलोक' की कल्पना है उसी प्रकार यहाँ 'साकेत धाम' की कल्पना की गयी। अष्टयाम पूजा का विधान यहाँ भी हुआ और राक्षसों के विनाश का बीड़ा लेकर बन-बन फिरने वाले राम केलिगृह मे सखियों के साथ रास-लीला करने वाले रसिया के रूप में हमारे सामने आए। सांसारिक विषय-भोग के उपादानों पर आधारित होने के कारण एक ओर तो इस साधना का विकास गुह्य अथवा रहस्य साधना के रूप में हुआ एवं रसिक साधना के सिद्धांत ग्रंथों में इसके प्रचार-प्रचार पर प्रतिबन्ध लगाया गया तथा दूसरी ओर सम्प्रदाय में दीक्षित हो जाने के बाद भी रसमयी चिंतन-पद्धति का अनुसरण करने पर अपरिपक्व साधकों के पतन की आशंका से उनकी सम्पूर्ण जीवनचर्या को वैधी भक्ति की श्रृंखलाओं में जकड़ा गया। कालान्तर में मंदिरों और अखाड़ों में 'नारि मुये घर सम्पति नासी' के कारण मूंड़ मुड़ाने वालो की संख्या बढ़ गयी।

परिणाम यह हुआ कि एक ओर श्रृंगारी उपासना के नाम पर भगवान् राम के दिव्य व्यक्तित्व के घोर पतन की कल्पना की गयी और दूसरी ओर उपासना में पाखण्ड और बाह्याचार ने प्रधान स्थान ग्रहण कर लिया। महात्माओं का व्यावहारिक जीवन भी विलासिता के अंध-कूप में जा पड़ा। जब भजनानंदी रामभक्त दाने-दाने के लिए तरस रहे थे, तब गद्दीधारी महंतों के यहाँ घी के दिये जलाये जाते थे और विलासिता पर पानी की भाँति धन बहाया जाता था। ऐसी स्थिति में पंथाई से ऊपर उठकर निश्छल भाव से साधना करने वाले सगुणोपासकों को भी इस दुष्प्रवृत्ति की कटु आलोचना करनी पड़ी। तत्कालीन दशा का चित्रण करते हुये महात्मा बनादास ने लिखा है—

सोहदा गुंडा भाँड़ पतुरिया राँड़ साधु धन खाहीं,
हँसी मसखरी संत सभा में भजन की चरचा नाहीं॥
बिरकत भजनानंद तपस्वी अन्न बिना मर जाहीं,
'बनादास' यह रीति अवध की ह्वै गै कलियुग माहीं॥

तत्कालीन समाज भी दीनावस्था में पहुँच गया था। लोगों में अंध-विश्वास दिन प्रति दिन बढ़ता जा रहा था। इस विषम परिस्थिति में जन जीवन में धार्मिक और सामाजिक

चेतना का संचार करने का दुर्वह भार निर्गुणोपासक संत ही वहन कर सकते थे। समय की इसी माँग के फलस्वरूप संत मोहनशाह ने इस जनपद में साईंदाता सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया।

प्रसार क्षेत्र—

वैसे तो साईंदाता सम्प्रदाय का प्रसार मध्य प्रदेश, दिल्ली, बड़ौदा, और काबुल तक बताया जाता है, किन्तु इस सम्प्रदाय की गद्दियाँ मुख्य रूप से फैजाबाद, लखनऊ, सुल्तानपुर, प्रतापगढ़ और बाराबंकी जिलों में स्थित हैं। फैजाबाद जिले में जनौरा, मीठे गाँव, दसौली, सुल्तानपुर जिलान्तगत चन्दौर तथा प्रतापगढ़ जिले में चिलबिला इस सम्प्रदाय के प्रमुख केन्द्र है। साईंदाता सम्प्रदाय में दीक्षित गृहस्थ तो यत्र-तत्र सर्वत्र दिखाई पड़ते हैं।

पर्व—

साईंदाता सम्प्रदाय का एक मात्र पर्व हंस-विहार है। यह पर्व वर्ष में दो बार क्रमशः कातिक अमावस्या और चैत अमावस्या को मनाया जाता है। अब कहीं-कहीं प्रत्येक मास का शुक्लपक्षीय सप्तमी को हंस विहार मनाने का रिवाज पड़ा है। इस पर्व के अवसर पर सम्प्रदाय के प्रमुख पीठों पर अवधूत और गृहस्थों की भारी भीड़ होती है। ढोलक और मजीरे पर भजन का सामूहिक कार्यक्रम चलता है। यह कार्यक्रम रात में बड़ी देर तक चलता रहता है। अर्द्ध रात्रि के बाद इत्र और गुलाब जल से परस्पर मिलन होता है। धार्मिक साहित्य में 'हंस' शब्द का प्रयोग मुक्तात्मा के अर्थ में होता है। इसप्रकार 'हंस विहार' प्रकारान्तर से मुक्तात्माओं का विहार है। मुझे तो हंस-विहार में रास लीला की छाया दिखायी पड़ती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि रासलीला भी मुक्तात्माओं की केलि है। सम्भव है, कातिक और चैत में इस पर्व के मनाये जाने के मूल में शारदीय एवं वसंत ऋतु के रास की प्रेरणा रही हो।

दीक्षा प्रणाली एवं रहनी—

साईंदाता सम्प्रदाय की दीक्षा-प्रणाली में वाह्याडम्बरों का सर्वथा अभाव है। दीक्षा लेने वाला व्यक्ति मात्र पुष्प समर्पण के साथ दीक्षा देने की प्रार्थना करता है और गुरु उसे दीक्षा देता है। इस सम्प्रदाय में संतों की दो कोटियाँ होती है— अवधूत और गृहस्थ। अवधूत संत बिरक्त होता है। गृहस्थ शिष्य को आंशिक भी कहते हैं। अवधूत और गृहस्थ का अन्तर यह है कि प्रथम, दो लकमे (मनका) धारण करता है और दूसरा एक।[1] वैसे तो इस सम्प्रदाय मे दीक्षा के लिए जाति और वर्ण का कोई प्रतिबंध नहीं है किन्तु अब इस पंथ में मुसलमान कुलोत्पन्न एक भी संत नहीं है। इन संतों का जीवन यापन अजगरी वृत्ति से होता है। अवधूत संत बस्ती में प्रवेश नहीं करता है। वह छप्पर में रहता है। स्वेत वस्त्र धारण करता है। सिर मुड़ाकर कर रखता है और नूर भी रखता है

वाणी साहित्य

आलोच्य सम्प्रदाय का वाणी-साहित्य अभी तक अप्रकाशित अवस्था में सम्प्रदायगत केन्द्रों पर पड़ा हुआ है। सम्प्रदाय के महात्मा वाणी-प्रकाशन के घोर विरोधी हैं, जिसके कारण इसका साहित्य अनुसंधित्सुओं को उपलब्ध नहीं हो पा रहा है। परिणामस्वरूप इस विषय पर अभी तक स्वल्प ही लिखा गया है। आगे की पंक्तियों में इस दिशा में कार्य करते हुए अद्यावधि प्राप्त सामग्री के आधार पर सम्प्रदाय के वाणीकार महात्माओं का जीवन-वृत्त तथा उनकी रचनाओं का संक्षिप्त-परिचय प्रस्तुत किया जायगा।

१—मोहनशाह

साईंदाता सम्प्रदाय के प्रवर्तक मोहनशाह आत्म प्रचार से दूर रहकर साधना करने वाले संत थे। यही कारण है कि उनका जीवनवृत्त अतीत के अंधकार में विलीन हो गया है। सम्प्रदायगत सूत्रों से भी उनके जीवनवृत्त पर कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। यहाँ उनकी वाणी से प्राप्त कतिपय अंतस्साक्ष्यों एवं जनश्रुतियों के आधार पर उनके जीवन का एक रेखाचित्र प्रस्तुत किया जा रहा है। महात्मा मोहनशाह का जन्म उत्तर प्रदेशान्तर्गत फैजाबाद जिले के मजनाई नाम ग्राम में हुआ था। इस बात की पुष्टि सम्प्रदाय के सभी सूत्रों से होती है।[२] आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने मजनाई ग्राम की स्थिति मिल्कीपुर थाने के पास बताई है।[३] वस्तुतः मजनाई, फैजाबाद से लखनऊ जाने वाली रेलवे-लाइन पर स्थित सोहावल स्टेशन के दक्षिण थोड़ी ही दूरी पर है। इस गाँव में मोहनशाह के कुल परिवार के लोग अभी रहते है। वह जाति के बढ़ई थे। अंतस्साक्ष्य से भी इस बात की पुष्टि होती है।[४]

उनके सांसारिक जीवन के सम्बन्ध में अधिक पता नहीं चलता, किन्तु उनकी वाणी से प्रकट होता है कि उन्होंने कुछ समय तक गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत किया था।[५] उनके एक दूसरे पद से यह भी पता चलता है कि गार्हस्थ्य जीवन में रहते हुए उन्होंने तीर्थ-व्रतादि वाह्याचार मूलक साधनों का अनुगमन किया था—

छकेउँ मैं नाम बूटी जानि।
जोग वैराग येकौ न जान्यो निअक्षर की खानि।
तीरथ बरत भरमि सब देखेउँ येकौ न भइ कानि॥
दुनियाचार बहुत कुछ जानेउँ येकौ लाभ न हानि।
'मोहनशाह' सतगुर के चरनन ऐसी मजा न है आनि।[१]

मोहनशाह के गुरु के सम्बन्ध में निश्चय के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता। कुछ लोगों का विश्वास है कि वह जगजीवन साहब (सतनामी पंथ कोटवा के प्रवर्तक) के शिष्य थे, किन्तु अन्तस्साक्ष्य से लगता है कि उनके गुरु सांईं नामक कोई महात्मा थे।[६] कदाचित् सांई के नाम पर उन्होंने सांईदाता सम्प्रदाय का प्रवर्तन भी किया था।

सम्प्रदाय में प्रचलित जनश्रुति के अनुसार मोहनशाह भ्रमणशील संत थे, किन्तु उनके एक पद से विदित होता है कि उन्होंने दीक्षोपरान्त अनेक वर्षों तक घोर तपस्या करते हुए अजगरी वृत्ति से जीवन-यापन किया था

उठब बैठब सब मिटा पसे फिरैं न देइ हो
मोहन के मन की भई ठावँ रातिब लेइ हो ॥

विरक्त होने के बाद मोहनशाह मजनाई ग्राम को छोड़कर कोछा बाजार में रहने लगे। यह स्थान फैजाबाद जिले में खजुरहट के निकट है। कहते हैं, नवाबी शासन की स्वेच्छाचारिता से ऊबकर वह कोछा से कहीं चले गए और फिर लौटकर नहीं आए।

मोहनशाह के शिष्यों में चार प्रमुख थे जिन्हें सचनाशाह, अहमकशाह, फौरमशाह और विजनशाह नाम से जाना जाता है। अन्तस्साक्ष्य से भी इस बात की पुष्टि होती है।[७] अपने चारों शिष्यों में मोहनशाह कदाचित् विजनशाह को सबसे अधिक मानते थे। सम्भवत: विजन ही उनकी प्रथम शिष्या थीं—

सदगुर सेल्ह शब्द मियाँ बांकी।
सबसे पहले विजन के निकली ॥

इन पंक्तियों के लेखक को इस विषय पर कार्य करते हुए संत मोहनशाह का जो वाणी-साहित्य प्राप्त हुआ है, वह बहुत ही विशाल है। उसे सम्प्रदाय के लोग 'अरस' की संज्ञा देते है। 'अरस' का अभिप्राय सम्भवत: आर्ष से है। मोहनशाह की रचनाओं की नामावली इस प्रकार है—

(१) अरस बेगम सार (७) अरस बयान
(२) अरस इश्कबाला (८) अरस जाहिर जवाब
(३) अरस हक्क ईमान (९) अरस सदगुर सेल्ह
(४) अरस मासूक मैदान (१०) अरस भक्तिबोध
(५) अरस पुरुष पुरान (११) अरस अरिल्ल सेत
(६) अरस कर्म खण्डन (१२) अरस अबरन सार
(१३) स्फुट पद

मोहनशाह की रचनाओं में बोलचाल की अवधी भाषा का प्रयोग किया गया है। इनमें सोहर, गारी, चैताल, टप्पा, नहछू, छपका, फाग आदि लोक-साहित्य के छन्दों का प्रयोग हुआ है। ये रचनाएं भावगत माधुर्य तथा अभिव्यक्तिगत सहजता के कारण संत-साहित्य में उच्च स्थान की अधिकारिणी हैं। काव्य-शैली के नमूने के लिए मोहनशाह के कुछ पद नीचे दिये जाते हैं—

पाँच सखी मिलि आई तौ मंगल गावैं हो।
हित की हरदी मिलाय तौ उबटन लावैं हो ॥
करनी बनी है कहाँर अमी भरि लावैं हो।
बिरहा कर बारी ठाढ़ दुलहा नहवावैं हो ॥
दाया दरजी बोलाय तौ जोड़वा संवारैं हों।
तत्तु तमोलिनी भामि पान मुख डारैं हो

सुरति सुहागिनि नाउनि ते पाँउ पखारै हो
तनिका मइलि जो होय अचरा लै झारै हो ।।
नेति-नहंनी हाथ तौ नाखुन काटै हो ।
प्रीति मेहाउर दीन्ह नीक भल लागै हो ।।
नाउनि चतुरि सयानि कुछ नहिं माँगै हो ।
देउ चरन बरदान इहै मोहिं छाजै हो ।।
दुलहे के भाई न बाप अकेले सोहै हो ।
देखि मड़ौना के रीति मोहन मन मोहै हो ।।१।।

अजपा जाप जपै सो जानै ।
संझा पूजा ध्यान गायत्री ई सब छोड़ि एक को मानै ।
तीरथ व्रत न करै तपस्या अन्तर अँलख सब्द पहिचानै ।।
झलकत रूप असी झरि लाये, पीयत संत धरै जो ध्यानै ।
'मोहन शाह' भानु छवि वहँ की, सेस सारदा बेद न मानै ।।२।।

यै दिल दूरि कहाँ तुम जइयौ ।।
सहजै सुरति लगाउ दिल अंदर, करि दीदार सबै सुख पइहौं ।
भरम छोड़ि करम करु कलि माँ तीरथ धाम चलत मरि जइहौं ।।
अरध-उरध बिच अहै वह कूचा तहँ सब्द गगन पर पइहौं ।
'मोहन शाह' करम करु साँई काबा भिस्त हियैं सब पइहौं ।।३।।

बिना पिया पाये रंगाये गौरी रंग ना ।
जटा रखाय पहिरि पाँवरी घर-घर धावै पेट के भुलना ।
माथे तिलक गरे बिच माला राँड़-सोहाग रयनि को सपना ।।
काँधे कवंडल हाथ सुमिरनी पलक छिपाय जगत को ठगना ।
'मोहन' कहै सबुर बिना साँसति झूठे जिस्म नाहक है मरना ।।४।

गोल पिया आनै गोरी आये तोहार ।
अनहद डंका गोयँड़े बाजै उठी अन्दोर अनभौ झलकार
तुमहूँ सुनो झूठ न जानो एकटक ताको तौ देखौ बहार ।
सब्द भीर पद सजे बराती सेत तखत पर आपु सवार
अबका देखौ साजो तुलवौ चढ़ो सुख पहले सुरति कँहार ।
चलो सखी अमरपुर बेलसो जहँ नित-नित बाढ़ै आनंदाचार
'मोहन' कहै बड़ि भागि सोहागिन ऐसे सतगुर अहैं उदार ।।५।।

ह

मकशाह जाति के बनियाँ थे । कहते हैं एक बार कुछ लोगों ने उन प
रोप लगा दिया था इससे उन्हे मर्त्यांवक ९ हुई

कारण उन्होंने अपनी इन्द्रिय ही काट डाली और संत मोहनशाह की शरण ले ली। मोहनशाह ने इन्हें दीक्षा दी और इनका नाम अहमक रख दिया। अन्त:साक्ष्य से भी इनका मोहनशाह का शिष्य होना सिद्ध होता है।[८] वह एक भ्रमणशील महात्मा थे। उनकी जन्म-भूमि लखनऊ में कहीं बतायी जाती है। कालान्तर में वह फैजाबाद जिलान्तर्गत मिल्कीपुर नामक स्थान पर रहने लगे थे। उनकी समाधि शाहवाला साँई की गद्दी बड़ेगाँव में है, जहाँ आज भी उनकी शिष्य-परम्परा चल रही है।

अहमकशाह के जीवन-काल के विषय में स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। उन्होंने अपने एक पद में अपने पूर्ववर्ती संतों की चर्चा करते हुए संत जगजीवन साहब का उल्लेख किया है।[९] यहाँ जगजीवन साहब से अहमकशाह का तात्पर्य सतनामी सम्प्रदाय, कोटवा के प्रवर्तक संत जगजीवन साहब से है, जिनका जीवन काल विक्रम सम्वत् १६२७[१०] और १८१७[११] के मध्य ठहरता है। अत: अहमकशाह का समय विक्रम की १९वीं शताब्दी में माना जा सकता है।

अहमकशाह ने अपनी वाणी में अल्लाह, राम तथा दशावतारों को जीव के लिए बंधन स्वरूप बताया है।[१२] उनके अनुसार मोहन का मत विज्ञान-ज्ञान और ध्यान के परे है। वह अपने समान स्वयं है।[१३] अहमकशाह की गुरु-निष्ठा बहुत ही उच्च कोटि की है। उन्होंने गुरु को तीन लोक चौदह भुवन में सबसे श्रेष्ठ बताया है।[१४] साँईदाता सम्प्रदाय में संत मोहनशाह के बाद अहमकशाह की वाणी को ही मान्यता दी जाती है। भाषा-भाव एवं अभिव्यक्तिगत सहजता के कारण इनकी रचनाओं में बरबस अपनी ओर आकृष्ट कर लेने की शक्ति आ गयी है। अहमकशाह कृत ग्रंथों की नामावली इस प्रकार है—

१. अरस सतगुर सर	७. मरस शब्दावली सतगुर सर
२. अरस पुरुष सम्बन्ध	८. अरस अमक दाखिला
३. अरस चरन परे मूल पारस	९. अरस सत्य फरमान
४. अरस नहछू	१०. अरस ठीक जवाब
५. अरस तिथि बहार	११. स्फुट पद
६. अरस खोदाइ देखो	

नमूने के लिए एक पद नीचे दिया जा रहा है :—

पिया पद पाय गोरी भइ अनंदा।
काज-अकाज लोक न लाजा, छूटे सकल जीवन के फंदा।
पाँच भूत पचीसो मारा, नौ मारग को कै कै बंदा॥
चढ़ि चित्त शत शूर पुकारे, जरि बरि खाक पाक भे गंदा।
'अहमकशाह' अजर भे अवधू, मोहन दिया अमर सुख कंदा॥१॥

३—सचनाशाह

सचनाशाह संत मोहनशाह की शिष्या थीं। अन्तस्साक्ष्य से भी यह बात प्रमाणित होती है[१५] मोहनशाह की वाणी[१६] तथा सूत्र से भी इसी तथ्य की पुष्टि

होती है इनकी साधना स्थली फैजाबाद से मिल्कीपुर जाने वाली सड़क पर स्थित कुचेरा बाजार के निकट मीठेगाव नामक स्थान पर है, जहा इनकी शिष्य परम्परा अब भी चल रही है। मीठेगाँव की परम्परा में आने वाले संतों की नामावली क्रमानुसार निम्नलिखित है—

१. सचनाशाह
२. मरहमशाह
३. जुलुमशाह
४. सहजशाह
५. निःशंकशाह (वर्तमान)

इन पंक्तियों के लेखक को अपनी शोध-यात्रा में सचनाशाह के कतिपय आरती के प. प्राप्त हुए हैं, जिनसे इनकी सहज साधना तथा गुरुनिष्ठा का पता चलता है। उदाहरण के लिए एक पद नीचे दिया जाता है—

आरति हो सतगुर के द्वारे सतमनि दीप आरती बारे।
तेहि समान तिहुँपुर नहिं कोई, देखु बिचारि शब्द में प्यारे।
दस औतार बिस्न सिव ब्रह्मा, तीनि लोक सबहिनि से न्यारे॥
निरगुन सरगुन परा बस्तु है, अपरम्पार अपार हमारे।
साँई मोहन के चरन कँवल पर तन मन धन 'सचना' सब वारे॥

४—बिजनशाह

मोहनशाह के जीवनवृत्त पर प्रकाश डालते हुए हम कह आये हैं कि मोहनशाह के चारों शिष्यों में सबसे बड़े बिजन थे। बिजन ने दसौली को अपनी साधना भूमि बनायी थी। कदाचित् वह दसौली के निवासी भी थे। वहाँ उनकी परम्परा अब भी चल रही है। इस जन को बिजनशाह कृत आरती का एक छंद प्राप्त हुआ है जिसमें सत्य-पुरुष की आरती के प्रसंग मे तन और मन को मारने तथा इन्द्रिय-निग्रह करते हुए निर्गुण-सगुण से परे शब्द-ब्रह्म की साधना करने की बात कही गया है। उदाहरणार्थ —

पाँच पचीस तीस को जीते आरति सत्य पुरुष की कीजै।
पहली आरति चरन चरन कँवल की, तन मन जारि खाक करि कीजै॥
दूसरि आरति इन्द्री बस करु, काम क्रोध तिसुना तजि दीजै।
तिसरी आरति सूरति सोधै, सोहं शब्द गगन माँ लीजै॥
चउथी आरति गइब लोक को, हुवाँ केऊ बिरला जन पहुँचै।
'साह बिजन' के सतगुर मोहन भगति पदारथ तुम फल दीजै॥

५—महाआनन्दशाह

संत महाआनंदशाह मोहनशाह के प्रशिष्य और फीरमशाह के शिष्य थे। उनकी रचनाओं से भी उनका फीरमशाह का शिष्य होना प्रमाणित है।[१८] आचार्य पं. परशुराम चतुर्वेदी ने महाआनंद को का बताया है चतुर्वेदी जी की यह

मान्यता साधार नहीं प्रतीत होती। मिल्कीपुर के बहुत ही निकट स्थित बड़ेगाँव की परम्परा में महाआनंदशाह नामक कोई संत नहीं हुआ। वस्तुतः महाआनन्दशाह शाहबालाशाह के चाचा गुरु फीरमशाह के शिष्य थे। उन्होंने चनउर (चन्दौर) को अपनी साधना भूमि बनाया। चनउर की गद्दी सांईदाता सम्प्रदाय के संतों में बहुत सम्मानित है। महाआनन्दशाह के बाद यहाँ की गद्दी के अधिकारी अवरनशाह हुए, जो वर्तमान हैं। महाआनंदशाह के एक दूसरे शिष्य सतगुरुशरण प्रतापगढ़ जिलान्तर्गत चिलबिला नामक स्थान पर निवास करते हैं।

महाआनंदशाह की रचनाएँ बड़ी ही सशक्त हैं। उनकी प्रेमाभक्ति और गुरुनिष्ठा बड़ी ही उच्चकोटि की थी। उन्होंने अपनी वाणी में बिरहा, कजरी, फाग जैसे लोक-छंदों तथा सवैया जैसे शास्त्रीय छंदों का प्रयोग किया है। महाआनंदशाह की रचनाओं में अवधी भाषा का बड़ा ही ललित रूप देखने को मिलता है। उदाहरण के लिए दो छंद नीचे दिये जाते हैं :—

आसन पदुम लगाय सुरति ब्रह्मांड चढ़ावै,
लखै नाम बिरवान, ब्रह्म जो सकल समावै।
मिटै जीव का सूल, मूल जो देखन पावै,
'महाआनंद' मोहन अलख पलक पर झलक देखावै ॥१॥

अनहद गरजा है गगन पै, बिजुली चमकै गुरु का ग्यान।
इंगला पिंगला तत्तु बिचारो, सुरति चढ़ी असमान।
सोहंग सब्द झरै जहँ निसदिन बरसै पुरुष पुरान॥
जगमग-जगमग होत भौन में उवा भोर जेस भान।
'महाआनन्द' मोहन मन मूरति, निरखि हंस मुसकान॥२॥

६—साहबालाशाह

साहबालाशाह अहमकशाह की प्रशिष्या थीं।[२०] उनकी साधना-भूमि मिल्कीपुर निकटस्थ मीठेगाँव नामक स्थान पर थी। इनके सांसारिक जीवन के सम्बन्ध में विशेष जानकारी नहीं प्राप्त होती है। इनका जीवनकाल उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के मध्यभाग में माना जा सकता है।

साहबालाशाह की शिष्य-शाखा मीठेगाँव में अभी चल रही है, जिसकी परम्परा निम्नलिखित है :—

१. शाहबालाशाह
२. सतयोगशाह
३. चरनधुरनशाह
४. सुकृतशाह
५. अगाधशाह
६. अबुधशाह (वर्तमान्)

प्रस्तुत लेखक को शाहबालाशाह कृत केवल एक ग्रंथ प्राप्त है. जिसका नाम है, 'सदा सोहागिन यह ग्रंथ कुल २५ छंदों में पूरा हुआ है। इसमें जीवात्मा और

के अमर एवं एकांतनिष्ठ प्रेम का वर्णन है। साहबालाशाह की कतिपय पंक्तियाँ नीचे दी जाती हैं—

कच्चा लोहा आब न आवैं।
पक्का होय तो पानी पावैं॥
एक पति ठीक दूसर न भावै।
तन मन प्राण रहै चाहै जावै॥

७—पृथ्वीशाह

पृथ्वीशाह एक भजनानन्द फकीर थे। उनके जीवन के सम्बन्ध में बहुत कम बातें ज्ञात हैं। जनश्रुति के अनुसार वे पलिवार क्षत्रिय थे। उनका निवास-स्थान फैजाबाद जिले की टाण्डा तहसील के बिड़हर परगने में सम्भवतः बिड़हर नामक गाँव में ही था। बिड़हर, थाना जहाँगीरगंज के क्षेत्र में जहाँगीरगंज से लगभग तीन मील उत्तर-पश्चिम के कोने सरजू नदी के तट पर स्थित है।

पृथ्वीशाह की वाणी से विदित होता है कि उन्होंने सोलह वर्ष की अवस्था मे रामनाम का मंत्र लिया और शेष जीवन ज्ञान एवं आनन्द के लोक में विचरण करते हुये व्यतीत किया।[२२] संत पृथ्वीशाह को पौष कृष्ण २, शनिवार को आर्द्रा नक्षत्र में आत्म-साक्षात्कार हुआ।[२३] दुर्भाग्य से इस सम्बन्ध में तिथि के साथ वर्ष का उल्लेख नहीं है।

पृथ्वीशाह की रचनाएँ 'हंस फनी' नामक एक हस्तलिखित संग्रह में पायी गयी है। 'हंस फनी' की व्याख्या करते हुए प्रो॰ कन्हैया सिंह ने लिखा है "हंस शब्द आत्मा का बोधक होता है। परमात्मबोध प्राप्त महात्मा परमहंस कहा जाता है। जीव अथवा आत्मा को बहुधा ऐसा पक्षी (मुख्यतः हंस) कहा जाता है जो अपने घर से भटक पड़ा है। 'फणि' शब्द नाग की जिह्वा के अर्थ में प्रयुक्त होता है, पर फणि का विशेष महत्त्व मणि जैसा बहुमूल्य पदार्थ धारण करने के कारण होता है। अतः 'हंस फनी' का अर्थ हुआ आत्मा की मूल्यवान वाणी।"[२४] पृथ्वीशाह की वाणी का रचनाकाल अभी तक ज्ञात नहीं है किन्तु एक स्थान पर उन्होने 'दुइपन बीतन चहत अब' कहकर इस बात का संकेत किया है कि इन पंक्तियों को लिखते समय उनकी अवस्था लगभग पचास वर्ष की थी।

प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से पृथ्वीशाह की वाणी सांईदाता सम्प्रदाय के अन्य संतों की रचनाओं से भिन्न है। उनकी वाणी पर वैष्णव भक्तों का विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है। उन्होंने कंस को मारने वाले, लाक्षागृह से पाण्डवों को उबारने वाले, द्रोपदी की चीर बढ़ाने वाले, महाभारत रचाने वाले, इन्द्र के कोप से ब्रज को बचाने वाले तथा शिशुपाल का वध करने वाले कृष्ण की वंदना के अतिरिक्त भगवान राम तथा चतुर्भुज विष्णु के मनोहारी वर्णन भी किये है, जबकि सांई पंथ में सगुणोपासना के लिये कोई स्थान नहीं है। स्मरण रखना चाहिए कि आलोच्य सम्प्रदाय में संत मोहनशाह और अहमकशाह की वाणी को ही मान्यता प्राप्त है। पृथ्वीशाह की वाणी का स्तर अच्छा कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए दो छन्द नीचे दिये जाते हैं

गुरु ज्ञान बिना किमि रूप लखो, नहिं मोट न मेहि न धूप न छाया,
गर्भ में आये नहीं कबहीं नहिं अण्ड व पिंड रचा वह काया।
बाहर भीतर लोक नहीं परलोक बनै कि राह बताया,
'पिरथी पद शाह' बिचारि मनै जग-तुच्छक ज्ञान को दूर बहाया ॥१॥

श्रुति काव्य पुरान पढ़ा न कभी नहिं पाप व पुन्न बसै मन में,
जप जोग समाधि किया न कभी नहिं झूठ वो सांच कहा जग में।
तीरथ व्रत वो दाया नहीं नहिं आतम खोज करैं तन में,
'पृथ्वी' पद चेत अचेत नहीं, गुरु केवल शब्द गहोरन में ॥२॥

संदर्भ-संकेत

(१) एक तकमा आसिक पहिरैं,
दुइ पहिरैं अवधूत।

(२) अलख इलाका जिल्ला खासा
तख्त गांव मजनाई है।

(३) उत्तरी भारत की संत-परम्परा (संशोधित संस्करण, पृ०, ७४१

(४) मोहन बढ़ई जानि के मुरखो ज्ञानी होय

(५) (क) भरोसे नाम के संतो त्यागि दीन जग भाऊ
नाता छोड़ा बाता छोड़ा, छोड़ा घर औ गाँऊँ
हित सनेही सकल सब छोड़ा ना काहू के जाऊँ

(ख) देखो लोगो मोहन बौराना।
हित कुटुम्ब सकल समुझावत. माने न येको कोटिउ बहाना।
सब कोइ कार करै धर आपन यह सब त्यागिसि दइउ रिसाना ॥

(६) (क) सतगुर सांई के चरन भरोसे मोहनशाह कहावैं।
(ख) मोहन सरन सतगुर सांई की करत निहालि पल छिन मां॥

(७) (क) मोहन कहैं सुनो हो सचना, अहमक दांव सम्हरते हैं।
फौरम फिकिर फारिके अब को विजन कटा सब करते हैं॥

(७) (ख) फौरमशाह की शिष्य-शाखा फैजाबाद नगर के दक्षिण जनौरा नामक ग. में चल रही है। यहाँ की परम्परा इस प्रकार है—(१) फौरमशाह (२) अद्भुतश (३) हाजिरशाह। अन्य शिष्यों की परम्परा यथास्थान दी जायगी।

(८) अनलहक सांई मोहन सतगुर, अहमकशाह न ढांकी है।

(९) नानक कबीर भरथरी गोरख, जगजीवन मुक्ति नसावैंगा।
जो कछु कहा गहा फिर नाहीं, चकरा के घर जावैगा

(१०) सैल पक्ष नग महि लिखि लेहू, पढ़ि गुनि अंक वाम गति देहू।
यतने अब्दि बीति जब गयऊ जगजीवन जनम कर औसर भयऊ॥
(शैल = ७, पक्ष = २, नग = ७, महि = १ वाम गति से १७२७ अर्थात् सत्रह
स।

(११) सम्वत् अठारह सौ सत्रह, करि आसन भे मौन।
कृष्ण पक्ष तिथि सप्तमी, बैसाख भौम करि गौन॥
—भक्ति विनोद—बोध मल्लदास

(१२) दस औतार करम की माया,
तिसको मुरखन ब्रह्म बनाया।
कैसे होइ जीव निबंधा,
अल्लाह राम दुनो जन अंधा॥ (पुरुष सम्बन्ध)

(१३) अहमक शाह साँई मोहन मता-विज्ञान, ज्ञान ध्यान के परे है
आपुइ सकल समान सकल समाना आपु में। —ठीक जवाब

(१४) सतगुर समरथ सब कर साँई तेहि बिन पार न होइ,
राम रहीम तवक चौदह में मुरसिद से बड़ नाहीं कोइ। —सत्य फरमान

(१५) साँई मोहन के चरन कंवल पर।
तन मन धन 'सचना' सब वारे॥

(१६) 'मोहन' कहैं सुनो हो सचना।

(१७) सचना सुर अहमक के साका।
विजन बहादुर फौरम बाँका॥

(१८) महाआनन्दशाह सतगुर मिले फौरम।
चीन्हा मोहन नाम नगीना॥

(१६) उत्तरी भारत की संत परम्परा, पृ० ७४२

(२०) साहिबालाशाह के सतगुर अहमक,
तहाँ कच्चा नहीं ठहराये।

(२१) बिहड़ल नाम परगना केरा।
तहँ सिद्धिन सब कीन बसेरा॥
पृथ्वीशाह बीरबल बन्दा।
× × ×
संकरशाह के बेयं बोहाई।
सब परगना में आसन पाई।

(२२) षोडस बरस की उमर में
राम मंत्र उपदेश
दूइपन बीतन चहत अब
ज्ञान आनंद के देश ।

(२३) पौष मास द्वितीया भ्रम नासा ।
× × ×
हुलसी सुमति पाई उजियारा ।
मूल मंत्र को सुनि धुधकारा ।।

(२४) भारतीय साहित्य, वर्ष ८, अंक ३, पृ० ६

बृहत् हिन्दी कोश की भूलें

• देवेन्द्रकुमार शास्त्री

हिन्दी भाषा में अभी तक जितने कोश प्रकाशित हुए हैं, उनमें सबसे बृहत् ज्ञानमण्डल, वाराणसी से प्रकाशित 'बृहत् हिन्दी कोश' है। इसका प्रथम संस्करण वि० सं० २००६ में प्रकाशित हुआ था, जिसमें एक लाख छब्बीस हजार शब्दों का संकलन किया गया था। हिन्दी में यह कोश अत्यधिक लोकप्रिय हुआ। इसकी लोकप्रियता के कई कारण हैं। एक तो इसका मूल्य अधिक नहीं है, दूसरे इसमें शब्दों की संख्या सबसे अधिक है और तीसरे नए शब्दों का समावेश भी इस कोश में किया गया है इसका द्वितीय संस्करण वि० सं० २०१३ मे प्रकाशित किया गया था, जिसमें अंग्रेजी के पारिभाषिक अन्य शब्दों की संयोजना से दस हजार शब्दों का और सन्निवेश किया गया। और इस प्रकार वि० सं० २०२० में प्रकाशित तृतीय संस्करण में शब्दों की वृद्धिगत संख्या एक लाख अड़तीस हजार परिलक्षित होती है। इन तीनो संस्करणों में से तृतीय संस्करण प्रकाशित होने के पूर्व ही द्वितीय संस्करण की भूमिका में यह कहा गया है कि 'इसमें आवश्यक संशोधन, परिवर्द्धन करने में हमने अपनी ओर से भरसक कोई कोर-कसर नहीं होने दी है, फिर भी हम नहीं कह सकते कि हम इस प्रयास में कहाँ तक सफल हो सके हैं।' यथार्थ में कोश-निर्माण का कार्य अत्यन्त कठिन है। कोई न कोई भूल हो जाना स्वाभाविक ही है और संभवत: यही जान कर 'व्युत्पत्ति' को स्थान नहीं दिया गया। किन्तु किसी भी प्रामाणिक कोश के लिए यह आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी प्रतीत होता है कि शब्द के मूल तथा विकास-क्रम को भी यथास्थान निर्दिष्ट किया जाना चाहिए। यद्यपि इसके लिए प्राचीन तथा मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं एवं उनके साहित्य का अध्ययन ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि आधुनिक भाषाओं तथा साहित्य में प्रयुक्त शब्दों का अनुशीलन भी आवश्यक है और यह कार्य दो-चार विद्वानों तथा दो-चार वर्षों का नहीं है; क्योंकि हिन्दी भाषा और साहित्य में कई धाराओं से समागत शब्द-रूपों का सन्निवेश एवं प्रयोग लक्षित होता है। भारतवर्ष की अधिकांश भाषाओं के ही नहीं, वरन् कई विदेशी भाषाओं के शब्द आज हिन्दी में बिना खटके चलते हैं। कई विदेशी भाषाओं के शब्द हिन्दी में अंग्रेजी के माध्यम से प्रचलित हुए हैं और कई शब्द प्रत्यक्ष रूप से सांस्कृतिक एवं अन्य संबंध के कारण अपना लिये गये हैं जिस प्रकार से प्राचीन शब्दों की खोज तथा खोज करने की ओर हमारी विशेष रुचि

तथा प्रवृत्ति नहीं है, उसी प्रकार नए तथा विदेशी शब्दों की सम्यक् जानकारी देने का प्रयत्न भी अभी तक हिन्दी में बहुत कम किया गया है और वह भी कुछ ही शब्दों के संबंध में। मेरे विचार से किसी भी प्रामाणिक तथा वैज्ञानिक कोश में इसका विचार किया जाना आवश्यक है। इस दृष्टि से हिन्दी में कई शब्द-कोशों के प्रकाशित हो जाने पर भी 'हिन्दी व्युत्पत्ति-कोश' की आज भी अत्यन्त आवश्यकता बनी हुई है। यदि हिन्दी में 'व्युत्पत्ति-कोश' का कार्य सम्पन्न किया जाता है तो न केवल हिन्दी शब्दो के इतिहास, वरन् भाषा-विज्ञान की एक छूटी हुई समूची कड़ी का वास्तविक स्वरूप भाषावैज्ञानिक जगत् के लिए स्पष्ट हो जाता तथा इतिहास और संस्कृति की भाँति अन्य विषयों के लिए भी यह अध्ययन उपादेय हो जाता। यह अध्ययन दो रूपों में किया जा सकता है—एक तो, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को ध्यान मे रखकर और दूसरा, केवल इतिहास या ऐतिहासिक विकास को समझकर उसका निर्देशन कर। शब्दों की सांस्कृतिक और सामाजिक व्याख्या करना स्वतन्त्र रूप से अनुसन्धान-कार्य है। शब्द-कोश में केवल विकसित या पूर्व रूप को देना ही पर्याप्त होगा। यद्यपि पहली बार में यह सम्भव नहीं है कि सभी शब्दों के पूर्व रूपों का उचित समावेश हो, पर यह प्रयत्न स्तुत्य ही कहा जायेगा।

किसी भी कोश में शब्द के दिये हुए अर्थ की वास्तविकता का बोध, उसके व्युत्पत्ति-मूलक शब्द या मूल शब्द के अर्थ से होता है। उदाहरण के लिए, संस्कृत में शुद्ध शब्द 'अगार' है न कि आगार; 'अधीन' है न कि आधीन; 'विस्तर' है न कि विस्तार और 'कर्पट' है न कि कार्पट। इनकी वास्तविकता का पता तब तक नहीं लग सकता है जब तक कि इनके मूलरूप तथा व्युत्पत्ति का पता न हो। जैसे कि अगार का सामान्य अर्थ आगार या घर है। घर के लिए संस्कृत में कई शब्द हैं सदन, भवन, निकेतन, धाम, गृह, गेह, वेश्म, मन्दिर, निकाय्य, सद्म, कुट, आलय, निलय, शाला, सभा, निवास, आवास, ओक और निशान्त इत्यादि। परन्तु 'घर' इन शब्दों का सामान्य अर्थ है। 'शाला' जिस प्रकार विद्यार्थियों के अध्ययन करने के कमरा (कक्ष) को कहते हैं, उसी प्रकार 'सभा' समाज के इकट्ठे होने के स्थान या घर (Hall को कहते है। इस प्रकार सभी शब्दो का अपना मूल अर्थ एक-दूसरे से भिन्न रहा है। इसी प्रकार, 'अगार' या 'आगार' का अर्थ घर न हो कर लकड़ी का बना हुआ मकान था। ईंटों से बनाए जानेवाले और चूने से पोते जानेवाले ऊँचे मकानों को 'सौध' कहा जाता था, जो प्रायः राजा-महाराजाओं के लिए बनते थे। इस तरह अन्य शब्दों की भी वास्तविक जानकारी उन शब्दों के भीतर ही छिपी हुई है, किन्तु उनकी व्युत्पत्ति न जानने के कारण न तो ठीक अर्थ समझ में ही आता है और न समझाया ही जा सकता है। अतः अन्य कोशों की भाँति इस कोश में भी यह कमी बहुत खटकती है।

शब्दों के विकास-क्रम का निर्देश न करने के कारण तथा अन्य भाषाओं के शब्दो का उल्लेख न होने से यह पता नहीं लग पाता है कि अमुक शब्द किस भाषा का है। उदाहरण के लिए, गेह, खट्टिक, टट्टर, गोविन्द, गालि (गाली), खेलनी (गोट), लड्डुक (लाडू) तथा बर्कर (बकरा) एवं लंच (लोच घस) आदि शब्द संस्कृत के न हो कर देशी भाषाओं के हैं संस्कृत में कई भाषाओं के शब्द मिलते हैं। हम अब तक उनका ठीक से इतिहास न

जानते हों, तब तक उनके संबंध में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कह सकते। ठीक इसी प्रकार की स्थिति 'बृहत् हिन्दी कोश' की है। इस कोश में अपनायी गई पद्धति से कहीं-कहीं अर्थ में भ्रान्ति हो जाती है। जैसे कि—'उच्चूड' या उच्चूल' का अर्थ उत् + चूल से यह तो समझ में आ जाता है कि 'ध्वजा के ऊपरी भाग' को कहते हैं, पर 'झंडे के सिरे पर की सजावट, (दे० बृ० हि० को०, पृ० १७६, तृ० सं०) को भी कहते हैं, यह समझ में नहीं आता। दूसरा अर्थ केवल शब्दकोश में ही मिलता है। संस्कृत के ऐसे अप्रसिद्ध तथा केवल सस्कृत-कोशों में मिलने वाले शब्दों तथा उनके अर्थों को हिन्दी कोश में ग्रहण किया जाए या नहीं, यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। मेरी राय में यदि ऐसे शब्दो को हिन्दी-कोश मे स्थान दिया जाता है, तो उनका मूलरूप भी दिया जाना चाहिए, जिससे अर्थ के समझने में भ्रम न हो सके। हिन्दी-कोश में तो मुख्य रूप से हिन्दी में प्रचलित तथा हिन्दी-साहित्य मे प्रयुक्त शब्दों का ही संकलन किया जाना चाहिए। क्योंकि अभी तक समस्त संस्कृत कोशों का समालोचनात्मक अध्ययन नहीं हो सका है और यह खोज-बीन भी नही हुई है कि कौन शब्द शुद्ध है और कौन-सा अशुद्ध। उदाहरण के लिए, संस्कृत में शुद्ध शब्द है 'पिचुमर्द', किन्तु 'अमरकोष' में 'पिचुमन्द' मिलता है जो कि देशी शब्द है। यथा—पिचुमन्दश्च निम्बेऽथ पिच्छिला गुरुशिशपा। (अमर० २।६२) परन्तु 'वैद्यकरत्नमाला' में 'पिचुमर्द' शब्द ही है। यथा—

कैटर्यः पिचुमर्दश्च निम्बोऽरिष्टो वरत्वचा।
वहुंश्रो हिंगुनिर्यासः सर्वतोभद्र इत्यपि॥

इसी प्रकार संस्कृत में शुद्ध शब्द हैं—सारथि, वाल्मीकि, विस्तर, राष्ट्रिय, तेल तथा बिना आदि। परन्तु हिन्दी में भिन्न मात्राओं के साथ इनका प्रयोग होता है। इनका उच्चारण प्रायः दीर्घ किया जाता है। अतएव कोश-रचना करते समय पूर्व परम्परा को ध्यान में रखना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। बिना इसके ठीक से कोश-निर्माण का कार्य बनता नहीं है। वह शब्दों का संकलन मात्र होता है। 'बृहत् हिन्दी कोश' में इसी प्रकार से शब्दों का संकलन किया गया है। भरती के शब्द अधिक हैं। शब्दों की संख्या बढ़ाने के लिए संस्कृत कोशो का अधिक सहारा लिया गया है। संस्कृत कोशों से सहायता लेकर शब्दार्थों की संकलना करने में आलोच्यमान कोश की सम्पन्नता एवं सफलता का विचार कर लेना उचित प्रतीत होता है। परिचय के लिए कुछ निम्नलिखित शब्दों को उद्धृत किया जाता है :—

दहर—

"दहर" का अर्थ मूषिका अर्थात् चुहिया है, किन्तु "बृहत्हिन्दीकोश" में इसका अर्थ चूहा है (दे०, पृ० ६१६)। यह अर्थ मोनियर विलियम के 'संस्कृत अंग्रेजी कोश' को देखकर लिखा गया है। उसमें "ए माउस" अर्थ (दे०, पृ० ४७३) दिया गया है। परन्तु संस्कृत के अधिकतर कोशों में इसका अर्थ चुहिया है। 'विश्वप्रकाश' और 'मेदिनी कोश' में इसका अर्थ मूषिका ही है। 'अनेकार्थसंग्रह में भी यही अर्थ मिलता है। ... स में भी

मेदिनी के प्रमाण के साथ "मूषिका" अर्थ दिखाई पड़ता है। संस्कृत के अन्य कोशों में भी यही अर्थ लक्षित होता है। 'शब्दकल्पद्रुम' में इस शब्द के चार अर्थ मिलते हैं—मूषिका, स्वल्प, भ्राता और बालक। यह शब्द दह् + अर से मिल कर बना है। इसका व्युत्पत्ति-मूलक अर्थ है—सन्ताप देने वाला। कहा भी है—'दहति गृहद्रव्यनाशनेन सन्तापयतीति दहरः।' अर्थात्—घर की वस्तुओं का नाश कर जो सन्ताप देती है उसे चुहिया कहते हैं। "दहर" शब्द पुल्लिग है इसलिए कुछ विद्वानों ने इसका अर्थ चूहा लिख दिया है। 'वाचस्पत्य' के अनुसार नपुंसक लिंग में इसका एक अर्थ 'कौपीन' भी है। यदि हम शब्दांशों का विचार करें तो स्पष्ट हो जाएगा कि 'दह' का अर्थ सन्ताप है और 'अर' का अर्थ शीघ्र है।[3] जो अपनी क्रिया से तुरन्त ही सन्ताप पहुँचाती है उसे 'दहर' कहते हैं। वस्तुतः यह शब्द बनाया गया है। "मूषक" भी इसी प्रकार का शब्द है, जो घर की वस्तुएँ चुरा कर बिल मे ले जाता हो उसे मूषक कहते हैं। आज भी प्रान्तीय भाषाओं में चुराने के अर्थ मे 'मूसना' शब्द प्रचलित है। इसके अन्य नाम 'खनक' (खोदने वाला) तथा 'बिलकारी' (बिल बनाने वाला) एवं 'धान्यारि' भी इसी प्रकार के हैं। इसे मूषक और मूषिक भी कहते है। 'अष्टांगहृदय' में वाग्भट ने चूहों के अठारह भेदों का वर्णन किया है।[4] यथा लालाय, चपल, पुत्र, हसिर, चिक्किर, अजिर, कषायदन्त, कुलक, कोकिल, कपिल, असित, अरुण, शबल, श्वेत, कपोत, पलित, उन्दूर, छुच्छुन्दर और रसाल ये अठारह प्रकार चूहे है। ये अठारह भेद चूहों के वर्ण तथा कार्य को ध्यान में रख कर किए गए प्रतीत होते हैं। इनमें 'दहर' का कोई उल्लेख नहीं है। मूषक के पर्यायवाची शब्दों में भी इसका पता नहीं लगता। परन्तु यह निश्चित है कि संस्कृत भाषा में शब्द के पुल्लिग या स्त्रीलिंग मे होने से ही उसका अर्थ पुलिग-स्त्रीलिंग नहीं होता। धन्वन्तरि तथा राजनिघण्टु में 'चूहा' अर्थ का वाचक 'नखी' शब्द इसका स्पष्ट प्रमाण है।[5] अतएव केवल 'दहर' शब्द को पुल्लिग में देखकर 'चूहा' अर्थ करना उचित नहीं जान पड़ता है। यद्यपि संस्कृत में आकृति की दृष्टि से भ्रमर, नखर, दन्तुर, मुखर, कुशर तथा कोटर आदि के सादृश्य पर 'दहर' शब्द की रचना हुई है, जो सभी पुल्लिग में हैं और जिनका अर्थ भी पुरुष लिंग से अनुबन्धित है, किन्तु इससे अर्थ-निर्णय में विशेष योग नहीं मिलता। क्योंकि 'दहर' शब्द 'दह्' धातु से बना है, जिसका शब्दार्थ जलने की क्रिया वाला होता है। अतएव यहाँ एक नया प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि 'दहर' शब्द से चूहा अर्थ कैसे अभिप्रेत हो सकता है? 'दह्' के साथ जुड़ने वाला 'अर' प्रत्यय स्वार्थिक है। जैसे, राजस्थानी में 'ड़ा' प्रत्यय जोड़ कर मुखड़ा, दुखड़ा, मुखड़ा, बाछुड़ा आदि बनते हैं, उसी प्रकार उक्त शब्द निष्पन्न होते है। अतएव यहाँ 'दहर' का अर्थ चूहा, चुहिया न हो कर कुछ दूसरा है।

'दहर' का अर्थ मूषिका है, न कि मूषक। मूषिका का अर्थ यहाँ धातु संबंधी-दोषो को दूर करने वाली घरिया (मूषा) है। यह प्रायः मिट्टी या लोहे की बनाई जाती है। रस, धातु आदि के दोषों को मूसने के कारण इसे मूषा, मूस या मूषिका कहते है।[6] रसायनवादी 'मूषा' को क्रौंचिका, कुमुदी, करहाटिका, पाचनी तथा वन्हिमित्रा कहते है।[7] मूषा बनाने के लिए रेतीली भूरी मिट्टी या कुछ लाल-पीली सी ऐसी मिट्टी काम में लाई जाती है जो

अत्यधिक तीव्र अग्नि सह सके इस मिट्टी में सफेद पत्थर अधजली धान की भूसी कण्डे की राख सन खपरा, घोड़े का लीद लोहे की कीट तथा काली मिट्टी मिला कर भली-भ ति कूट-पका कर 'मूस' बनाई जाती है। मूस या मूसा कई तरह की बनाई जाती है। ''रसेन्द्रसारसंग्रह'' के अनुसार गोस्तनीमूषा या अन्धमूषा, मल्लमूषा तथा पक्वमूषा के भेद से तीन प्रकार की तैयार की जाती है। गोस्तनीमूषा अंगूर के आकार की बनाई जाती है, जिसके ढक्कन पर पकड़ने के लिए एक शिखा होती है। इसके भीतर रख कर अभ्रक आदि के सत्व लगाये जाते हैं।[८] मिट्टी से बनी दो सराइयों का पुट करने से जो मूसा बनती है उसे मल्लमूषा कहते हैं। इसमें पर्पटी आदि का स्वेदन किया जाता है।[९] इसी प्रकार जो मूसा कुम्हार की मिट्टी से बना कुल्हड़ रूप हो तथा अपने आप खूब पक गई हो, उसे पक्वमूषा कहते हैं। इस मूषा में पोट्टली आदि रसों का पाक किया जाता है।[१०] संस्कृत में 'मूसा' के लिए 'मूषा' और 'मूषिका' दोनों शब्द मिलते है।[११] 'रसतरंगिणी' में कई प्रकार की मूषाओं का वर्णन मिलता है। सामान्यमूषा, वज्रमूषा, योगमूषा, वज्रद्रावणिकामूषा, गारमूषा, गोस्तनीमूषा, मल्लमूषा, महामूषा, और वृन्ताकमूषा। मूषा की रक्षा के लिए और औषध के दाह निवारण के लिए जो प्रयोग किया जाता है, उसे मूषाप्यायनक कहते है। इस प्रकार मूसा (घरिया) बनाने के कई प्रकार पर्पटी, रस आदि बनाने के लिए आयुर्वेदशास्त्र मे वर्णित है। अधिकतर सुनार लोग सोना-चाँदी गलाने के लिये घरिया काम में लाते है। घरिया विशेष रूप से धातु को शोधने, पिघलाने और ढालने के काम में आती है। अधिकतर मूसा चिकनी काली मिट्टी तथा लोहकीट आदि को मिला कर बनाई जाती है, जो तीव्र अग्नि को सहन कर लेती है। तीव्र अग्नि देने पर घरिया भली भाँति तप कर अग्नि की भाँति लाल हो जाती है। अग्नि की दाह से जलने के कारण ही इसे 'दहर' कहा गया है।

'दहर' का शब्दार्थ है—जलने वाला। मिट्टी या लोहे का वह पात्र, जो स्वयं अग्नि में तप कर, जल कर धातु को तरल बना देता है, 'घरिया' कहलाता है। अतएव संस्कृत-कोशों में समागत 'दहर' शब्द का अर्थ घरिया प्रतीत होता है। यद्यपि 'अमरकोश' मे 'त्रिकाण्डशेष' तथा 'अभिधानचिन्तामणि' आदि परवर्ती संस्कृत-कोशों में यह शब्द नही मिलता, किन्तु 'विश्वप्रकाश', 'मेदिनी', कोशकल्पतरु' तथा 'अनेकार्थसंग्रह' में प्राप्त होता है। 'हलायुध' कोश में भी 'दहर' शब्द नहीं है। 'नानार्थरत्नमाला' (इरुगपदण्डाधिनाथ), 'नानार्थमंजरी' (राघव), शारदीयाख्यनाममाला' (हर्षकीर्ति) और 'नाममालिका' (भोज) मे भी यह शब्द नहीं दिखाई पड़ता। परन्तु विश्वनाथ कृत 'कोशकल्पतरु' में 'दहर' शब्द चुहिया वाचक है। उसमें चूहे को भी दहर कहा गया है।[१२]

विलसन महोदय ने 'दहर' शब्द दह् + अर से निष्पन्न माना है।[१३] 'दह्' का अर्थ जलना है। इसी प्रकार मेकडानेल ने 'डहु' शब्द दह् + उ से सम्पन्न माना है।[१४] वस्तुत डह् और दह् शब्दों की रचना समान पद्धति पर हुई है और उन में ही 'अर्' प्रत्यय जुड़ कर 'दहर' शब्द निष्पन्न हुआ है। 'शब्दसागर' में यह शब्द 'दहरः, दहरा, दहरं' तीनो लिंगों में प्राप्त होता है।[१५] केशव कृत 'कल्पद्रुकोश' में 'दहरी' शब्द भी मिलता है। इस प्रकार 'दहर' शब्द के कई रूप मिलते हैं

'दहर' शब्द के सबसे अधिक अर्थ आधुनिक प्रकाशित शब्द-कोशों में से 'नालन्दा विशाल शब्दसागर' में मिलते हैं। उसमें अर्थ इस प्रकार हैं[१६]—दहर (संज्ञा पु०)। (सं०) १—छोट चूहा, चुहिया, २—छछूंदर, ३—भ्राता, ४—बालक, ५—नरक, ६—वरुण। (वि०) १—स्वल्प; छोटा; सूक्ष्म; दुर्बोध. (संज्ञा पु०) (हि०) १—नदी में का गहरा स्थान, दह, २—कुंड; हौज, गड्ढा; पाल।' दहर–दहर (क्रि० वि०)। (हि०) लपट फेंकते हुए, धायँ-धायँ। दहरसूत्र (संज्ञा पु०)। (सं०) बौद्धधर्म का एक ग्रन्थ। दहरना (क्रि० स०) दहलना। (क्रि० अ०) दहलाना।

बौद्ध पालि ग्रन्थों में भी 'दहर' शब्द का प्रयोग मिलता है। 'मज्झिम-निकाय' मे 'तरुण' के अर्थ में कई स्थलों पर इस शब्द का प्रयोग दिखाई पड़ता है। उसमें लिखा है—'जब तक यह पुरुष दहर (तरुण) युवा बहुत ही काले केशों वाला प्रथम वयस सुन्दर यौवन से युक्त होता है, तब तक परमप्रज्ञा-नैपुण्य से युक्त होते हैं।'[१७] संभवत: इसी अर्थ को ध्यान मे रखकर 'संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ' में दहर' शब्द के अर्थ निम्नलिखित है[१८]—दहर (वि०) छोटा; पतला, २—कम उम्र। दहर : (पुं०) १—शिशु, २—जानवर का बच्चा, ३—छोटा भाई, ४—हृदयगह्वर, ५—चूहा या घूँस।

इनमें से 'कम उम्र' अर्थ पालि-वाङमय के अनुसार है और 'चूहा या घूँस' अर्थ मूसने की क्रिया को ध्यान में रख कर किया गया है। सामान्य रूप से सभी संस्कृत-कोशों में 'दहर' का एक अर्थ 'मूषिकायाम्' मिलता है। 'मूषिका' शब्द संस्कृत मे 'चूहिया' अर्थ में प्रसिद्ध है। किन्तु अनेकार्थक कोशों के अध्ययन से पता चलता है कि मूलतः यह शब्द 'मूसा' अर्थ में प्रचलित था, जो आगे चल कर 'मूसने' की क्रिया से संबंधित होकर साहश्य-भेद के कारण चुहिया' अर्थ में प्रसिद्ध हो गया। 'रस प्रकाश सुधाकर' मे पन्द्रह प्रकार की मूसाओं का वर्णन मिलता है।[१९] उनके नाम है—योगमूषा, गारमूषा, वरमूषा, वर्णमूषा, रूप्यमूषा, बिडमूषा, बज्रमूपा, वृन्ताकमूषा, गोस्तनीमूषा, मल्लमूषा, पक्व-मूषा, महामूषा, मंजूषमूषा, गर्भमूसा और मूसलमूषा। यह अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि न तो 'चूहे-चुहियों' के पर्यायवाची शब्दों में और न मूसावाची शब्दों में 'दहर' का उल्लेख मिलता है। यही नहीं, मूषिका अर्थ में, मेरी जानकारी में, किसी साहित्यिक-पौराणिक ग्रन्थ में 'दहर' शब्द नहीं मिलता। यह शब्द प्राचीन ग्रन्थों में ही प्रयुक्त लक्षित होता है। उपनिषदों में मुख्य रूप से यह हृदयाकाश या दुर्बोध अर्थ में प्राप्त होता है। पालि-ग्रन्थों में यह नववयस्क तरुण के लिए आता है। इससे यह पता चलता है कि चूहा या चुहिया के लिए यह शब्द प्रचलित नही रहा है। वास्तव में 'दहर' शब्द का प्रचुर प्रयोग आयुर्वेद ग्रन्थों में हुआ है। और उन ग्रन्थों में मूसा के लिए यह शब्द प्रयुक्त हुआ, उचित जान पड़ता है। यद्यपि आयुर्वेदरसशास्त्रो मे मुख्य रूप से मूसा के लिए 'मूषा' शब्द आता है, किन्तु 'मूषिका' शब्द भी मिलता है। 'रसप्रकाश सुधाकर' में मूषा और मूषिका का एक साथ प्रयोग दृष्टिगोचर होता है।[२०] इस ग्रन्थ में मूषा और मूषिका शब्द कई स्थलों पर प्रयुक्त हैं।[२१] यथार्थ में 'दहर' और दहर का समानवाची 'दह्न' दोनों ही शब्दों का अग्नि एवं जननक्रिया से अत्यन्त साम्य है, जो 'मूसा' में सुरक्षित है अतएव मेरे विचार में संस्कृत के 'मेदिनी,

आदि अनेकार्थककोशों में उल्लिखित दहर शब्द के अर्थ में व्याख्येय मूषिका शब्द का अर्थ चूहा या चुहिया न हो कर मूसा या घरिया है। दहर शब्द पुल्लिंग म होने पर भी 'मूषिका' अर्थ का बोधक है। 'शब्दार्थ चिन्तामणि' से भी यह स्पष्ट है।[२२] उक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि 'मूषिका' अर्थ में प्रयुक्त 'दहर' शब्द का अर्थ 'मूसा' है। वास्तव में 'दहर' और 'मूषिका' दोनों ही शब्द देशी परम्परा के हैं जो 'मूसा' अर्थ के वाचक हैं। प्राकृत भाषा में 'मूसियदारय' (मूषिकादारक) शब्द इसी अर्थ से अनुबन्धित है। मूषिकादारक का अर्थ सुनार किया गया है।[२३] अतएव निश्चय ही मूषिका का अर्थ मूसा या घरिया है।

पार्पर—

'पार्पर' शब्द का एक अर्थ 'बृहत् हिन्दी कोश' में मुट्ठी भर चावल है।[२४] आप्टे की डिक्शनरी में भी यही अर्थ मिलता है।[२५] मोनियर विलियम्स और विलसन महोदय ने भी यही अर्थ किया है।[२६] किन्तु 'शब्दार्थचिन्तामणि' में इसका अर्थ है—'भक्तसिक्थ।'[२७] 'विश्वप्रकाश', 'मेदिनी' और 'अनेकार्थसंग्रह' में भी यही अर्थ दृष्टिगोचर होता है।[२८] भक्तसिक्थ' का अर्थ 'भात का मांड़' है।[२९] 'भक्त' का अर्थ है—भात, और 'सिक्थ' का अर्थ है—भात को पानी में पकाने के बाद निकला हुआ भात के दानों से रहित पतला सघन पदार्थ।' 'सुश्रुत' के कृतान्न वर्ग में इसका उल्लेख इस प्रकार है—

सिक्थैर्विरहितो मण्डः पेया सिक्थसमन्विता।
विलेपी बहुसिक्था स्याद् यवागूर्विरलद्रवा॥ सूत्रस्थान, ४६,३८१

अर्थात् यवागू (लपसी) के ही मण्ड, पेया और विलेपी ये तीन प्रकार हैं। पानी में पकाए हुए तण्डुल आदि के सघन भाग में से जो ऊपर का तरल भाग छान कर निकाल दिया जाता है, उसे 'मण्ड' (माँड़) कहते हैं। बनाने की विधि-भेद से मण्ड तीन प्रकार का कहा गया है। जो लाजा या भाड़ में भुंजे हुए चावलों से बनाया जाता है उसे—'लाजमण्ड' कहते है। चौदह गुने जल में पका कर बिना छाने हुए तरल तथा भात की कनकी सहित को 'पेया' कहते है। और चौगुने जल में खूब पकाए हुए कम पतले गाढ़े पदार्थ को—'विलेपी' कहते हैं।

संस्कृत के अनेकार्थक कोशों में 'सिक्थ' का अर्थ 'भक्तपुलाक' है और 'पुलाक' का अर्थ 'भक्तसिक्थ' है। वस्तुत: 'सिक्थ' का अर्थ लिबलिबा पदार्थ है। अत: मोम और भात के मांड को भी 'सिक्थ' या 'सिक्थक' कहा जाता है। यथा—

'सिक्थं नील्यां मधूच्छिष्टे सिक्थां भक्तपुलाकके।' अनेकार्थ० २, २२९
तथा — **पुलाकस्तुच्छधान्ये स्यात् संक्षेपे भक्तसिक्थके।** मेदिनी, १, १२२

'शब्दसागर' में 'सिक्थ' का अर्थ है—मुट्ठी भर उबला हुआ चावल, (पृ० ७८८६)। किन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है। सम्भवतः इस कोश की देखा-देखी में समस्त अंग्रेजी-संस्कृत या संस्कृत-अंग्रेजी कोशकारों ने यही गलत अर्थ दिया है। 'सिक्थ' शब्द 'सिच्-सेचने' धातु से कर्तरि में थक् प्रत्यय लग कर निष्पन्न हुआ है। 'वाचस्पत्य कोश' में 'मेदिनी कोश' के प्रमाण के साथ इसका अर्थ भक्तपुलाक और 'ग्रास किया गया है किन्तु मेदिनी में ग्रास अर्थ

नहीं है।[३०] 'मेदिनी' और 'त्रिकाण्डशेष' में समान रूप से उल्लेख है। किन्तु 'विश्वप्रकाश' और 'अनेकार्थ' में 'नीली' को भी 'सिक्थ' कहा गया है। 'त्रिकाण्डशेष' की टीका में 'भक्तपुलाक' का अर्थ 'अन्नगुलिका' और 'नीली' का अर्थ 'ग्रास' किया है, जो ठीक नहीं है।[३१] इस सम्बन्ध में 'विश्वप्रकाश' का पाठ प्रामाणिक तथा स्पष्ट है। कहा है—

सिक्थं नील्यां मधूच्छिष्टे सिक्थ ओदनसम्भवे।

अर्थात् - नपुंसक लिंग में 'सिक्थ' शब्द का अर्थ नीलो और मोम है तथा पुंल्लिंग में चावल से निकला हुआ पदार्थ मांड़ है।

अतएव मेरी जानकारी में 'बृहत् हिन्दीकोश' में 'सिक्थ' के दोनों अर्थ-माड़ निकाला हुआ भात, और भात का पिंड या ग्रास-गलत हैं। यथार्थ में 'पार्पर' का अर्थ 'भक्तसिक्थ' है और 'भक्तसिक्थ' भात से निकले हुए चिकने या लिबलिबे पदार्थ यानी मांड़ को कहते है। संस्कृत में 'मांड़' के लिए मण्ड, सिक्थ, पिच्छा और पार्पर आदि कई शब्द प्रचलित रहे हैं। मेदिनीकार ने 'पिच्छा' का अर्थ बताते हुए स्पष्ट शब्दों में 'भक्तसम्भूतमण्ड' कहा है।[३२] 'बृहत् हिन्दीकोश' में सिक्थ का एक अर्थ 'मोतियों का गुच्छा (जिसका वजन एक धरण हो)' भी दिया है।[३३] किन्तु मेरे देखने में यह अर्थ नहीं आया। उक्त कोश में एक और विरोधाभास दिखलाई पड़ता है। उसमें जहाँ 'सिक्थ' का अर्थ 'मांड़ निकाला हुआ भात, और भात का पिंड या ग्रास' किया गया है, वहीं 'भक्तसिक्थ' का अर्थ 'भक्तमंड' और 'भक्तपुलाक' का अर्थ 'भात का कौर तथा मांड़ (?)' कहा गया है।[३४] इसलिए अब किस अर्थ को ठीक मानें? वस्तुत: 'भक्तसिक्थ' का अर्थ भात (बिना मांड़ का), भात का पिंड या कौर तथा अन्य कुछ न हो कर 'भात का मांड़' है।

प्लव—

'बृहत् हिन्दी कोश' में 'प्लव' का एक अर्थ 'नागरमोथा' भी है, (दे०, पृ० ६१५)। किन्तु नागरमोथा अर्थ ठीक नहीं है। 'प्लव' केवटीमोथा को कहा गया है।[३५] 'मेदिनी', 'अनेकार्थ', 'विश्वप्रकाश' तथा 'पर्यायरत्नमाला' आदि अनेक ग्रन्थों में 'प्लव' का अर्थ केवटीमोथा है।[३६] आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भावप्रकाशनिघण्टु' में भी यही उल्लेख है जो इस प्रकार है :

कुटन्नटं दासपुरं वालेयं परिपेलवम्।
प्लवगोपुरगोनर्दकैवर्त्तीमुस्तकानि च ॥१०७, कर्पूरादिवर्ग

अर्थात्—कुटन्नट, दासपुर, वालेय, परिपेलव, प्लव, गोपुर, गोनर्द और कैवर्त्तीमुस्तक ये केवटीमोथा के संस्कृत नाम हैं।

केवटीमोथा को बंगला में केउटमुथा और गुजराती में केवड़ीमोथो कहते हैं। यह वितुन्नक नामक वृक्ष की छाल कही गई है, जो देखने में मोथे के समान ही होती है।[३७] सामान्य रूप से 'वितुन्नक' धनिया के पर्यायवाची शब्दों में मिलता है, किन्तु यह मोथा का एक भेद है इस को धान्य भी कहा जाता है [३८] यह नागरमोथा से भिन्न है नागरमोथा

और केवटीमोथा के नाम तथा गुण भी अलग-अलग है . सामान्यत. नागरमोथा का प्रयोग तृष्णा, ज्वर, अरुचि तथा पित्त विनाश के लिए होता है। किन्तु केवटीमोथा रक्त विकार, कुष्ठ, कण्डू और विसर्प रोगों को दूर करने के लिए हितकारी कहा गया है। 'आयुर्वेदचिन्तामणि' में इसका विवरण इस प्रकार है :—

भद्रमुस्तं च गुन्द्रा च तथा नागरमुस्तकः ।
मुस्टं कटु हिमं ग्राहि तिक्तं दीपनपाचनम् ।।
कषायं कफपित्तास्रतृड्ज्वरारुचिजन्तुनुत् ।
अनूपदेशे यज्जातं मुस्तकं तत् प्रशस्यते ।।
तत्रापि मुनिभिः प्रोक्तं वरं नागरमुस्तकम् । २,४६

तथा—

मुस्तावत् पेलवपुटं शुक्राभं स्याद्वितुन्नकम् ।
वितुन्नकं हिमं तिक्तं कषायं कटु कान्तिदं ।।
कफपित्तास्रवीसर्पकुष्ठकण्डूविषव्रणुत् । २,६२

इस प्रकार स्वाद में समान होने पर भी वर्ण तथा गुणों में दोनों में भेद है। 'द्रव्यगुण विज्ञान' के अनुसार मोथा की तीन जातियाँ कही गई हैं [३९]—नागरमुस्तक या नागरमोथा, (साइपरस् स्केरिओसस्), भद्रमुस्तक (साइपरस् रोटण्डस, और केवलंमुस्तक या केवटीमोथा (साइपरस् टेन्वीफ्लोरस्)। इन में से नागरमोथा की जड़ें लम्बी, टेढ़ी और कृष्ण वर्ण की होती हैं और भद्रमुस्तक का कन्द कुछ गोलाई लिए होता है, किन्तु केवटिया मोथा का कन्द छोटा ग्रन्थिसदृश होता है। यह प्रायः जलज होता है। इन सब में नागरमोथा उत्तम माना जाता है। यह समस्त भारत के जलीय तथा आर्द्र प्रदेश में होता है। मोथा घास की भाँति होता है। इस की जड़ बहुत गहरी होती है। जड़ के नीचे काली-काली छोटी गठानें होती है। गठानों में से सुगन्ध निकलती है। दस्तूर के अनुसार यह बारह महीनों रहने वाली बिना रोम की घास है जो भारत और पाकिस्तान में सभी-स्थानो पर उत्पन्न होती है। इस का उपयोगी अंग जटा है, जो स्पंज की भाँति सोखने वाली, सुगन्धित राल वाली और पीड़ा हरने वाली तथा एक आवश्यकीय तैल को उत्पन्न करने वाली है। [४०] यह तृण जाति का क्षुप है। इस के पत्ते घास की भाँति लम्बे-लम्बे होते है। इन की लम्बाई एक से दो फीट तक होती है। इन के बीच में एक तिकोनी डण्डी निकलती है, जो दो से चार फीट तक ऊँची होती है। इस के ऊपर हरे रंग के छोटे-छोटे फूल आते हैं। इन फूलों के इधर-उधर लम्बे-लम्बे पत्ते भी होते हैं। इस की जड़ में काले रंग का कसेरु की भाँति कन्द होता है। इसे नागरमोथा या मोथा कहते हैं। [४१] मोथा जाति प्रायः जलीय भूमि में या जलाशयों के निकट उत्पन्न होती है। केवटीमोथा नागरमोथा से भिन्न होता है। यद्यपि वर्णन अधिकतर नागरमोथे का मिलता है, क्योंकि वह प्रायः काम मे आता है और सब जगह मिलता है। श्री द्विवेदी जी के शब्दों में—केवटीमोथा मोथे की ही जाति का सुगन्धित तृणविशेष हैं। मोथे के कन्द काले वर्ण के होते है किन्तु इस के कन्द सफेद और छोटे-छोटे होते हैं जलीय प्रदेशो के पास यह अधिक होता है। ऊपर

हल्के-श्याम रंग का आवरण होता है, जिसे हटा देने पर दूध की तरह सफेद गांठ निकल आती है और इस में हल्के कपूर की सी गन्ध आती है। फूल भी सफेद ही होते हैं।[४२] श्री कीर्तिकर बसु ने 'इण्डियन मेडिसिनल प्लान्ट्स' में नागरमोथा, भद्रमुस्ता और क्षुद्रमुस्ता इस तीन भेदों का उल्लेख किया है। इन में नागरमोथा और भद्रमोथा तो मोथा के ही भेद है, किन्तु क्षुद्रमुस्तक मुस्तक-कुल का होने पर भी भिन्न है। हिन्दी में उसे कसेरु कहते हैं।[४३] अतएव मोथा के विभिन्न भेद-प्रभेदों में भारतीय वनस्पतिशास्त्रों में वर्णित 'केवटीमोथा' मोथा की प्रसिद्ध जाति है। इसे संस्कृत में कुटन्नट, प्लव, परिपेलव आदि कहते है। इस प्रकार 'प्लव' का अर्थ नागरमोथा न होकर केवटीमोथा है।

शालिपर्णी—

'बृहत् हिन्दी कोश में शालिपर्णी का अर्थ है—माषपर्णी (पृ० १३४९)। किन्तु इसका वास्तविक अर्थ हैं—सरिवन। शालिपर्णी को सुदला, सुपत्रिका, स्थिरा, सौम्या, कुमुदा, गुहा और ध्रुवा आदि भी कहा गया है।[४४] इसे शालिपर्णी भी कहते हैं। गुजराती मे इस का नाम शालवण तथा मराठी में सालवण है। लेटिन में इसे डेस्मोडियम गैंगेटिकम् कहते हैं। सरिवन का पौधा दो फीट से लेकर तीन चार फीट तक ऊँचा होता है। इसके पत्ते शालवृक्ष के पत्तों की भाँति होते हैं, इसलिए इसे शालिपर्णी कहते हैं।[४५] यह हिमालय की निचली पहाड़ियों में तथा समस्त भारत की समतल भूमि में उत्पन्न होता है।[४६] परन्तु 'माषपर्णी' इससे बिलकुल भिन्न है। उसे हिन्दी में भषवन या वनउड़द कहते है। वह उड़द के समान लता होती है। उसे गुजराती में जंगली उड़द तथा मराठी में रान उड़द कहते हैं।[४७] अतएव बृहत् हिन्दी कोश के विद्वानों ने "शालिपर्णी" का अर्थ 'माषपर्णी' लिख कर भारी भूल की है। एक तो उनका अर्थ करना ऐसा है कि साधारण जानकार की समझ के बाहर है। 'शालिपर्णी' का अर्थ 'माषपर्णी' ऐसा करना कि 'प्रकृत' का अर्थ 'निष्ठा' करना है। दूसरे अर्थ ही गलत है। तीसरे, उन्होंने स्वय 'माषपर्णी' का अर्थ 'जंगली उरद' लिखा है। (पृ० १०७३)। चौथे, शालपत्रा और शालपर्णी का अर्थ स्वयं उन्होंने 'सरिवन-वृक्ष' लिखा है (पृ० १३४९)। अतएव कारण कुछ भी हो, किन्तु उनका 'शालिपर्णी' का अर्थ 'माषपर्णी' गलत है। यदि यह अर्थ असावधानीवश हुआ है तो कोश के तीन संस्करणो में से किसी पर कोशकारों की दृष्टि क्यों नहीं पहुँच सकी ? अब इस में शीघ्र ही संशोधन अपेक्षित है।

तालपर्णी —

बृहत्हिन्दीकोशकार ने इसका अर्थ 'वन सौंफ' किया है।[४८] किन्तु उनका यह अर्थ ठीक नहीं है। धन्वन्तरि तथा राजनिघण्टु मे 'तालपर्णी' के पर्यायवाची शब्दों में 'मिश्रेया' शब्द का उल्लेख है;[४९] न कि शतपुष्पा का। संस्कृत में 'मिश्रेया' का अर्थ 'सोया' है और शतपुष्पा का 'सौंफ'। अतएव यहाँ पर तालपर्णी का अर्थ सौंफ या वनसौंफ न होकर सोया है। द्रव्यगुण-विज्ञान में भी मिश्रेया के नाम से सोया का परिचय प्राप्त होता है। सोया के

गुजराती में सुवा मराठी में शेपु तथा अंग्रेजी म डिल (D l) कहते हैं इसके बीजों से सुगन्धित तैल निकलता है अधिकतर इसके बीज व तैल औषधि के प्रयाग म आते ह इसका पौधा एक-दो फुट ऊँचा होता है। इसमें फूल पीले रंग के और फल छोटे सांवले रंग के लगते है। फूल और फल शीतकाल में उत्पन्न होते है।[५०] 'भावप्रकाशनिघण्टु' के अनुसार सौंफ और सोया के पौधे लगभग समान होते हैं। इनकी ऊँचाई चार-पाँच फुट तक होती है। इन में छत्ते लगते हैं और उन पर लाल फूल उगते हैं। प्रत्येक छत्ते में कम से कम एक सौ फूल लगते है। अत: शतपुष्पा कहते हैं। यह शीतकाल में अधिक होता है। सौंफ के दाने बड़े और सोया के छोटे होते हैं। दानों की सुगन्धि तथा स्वाद में अन्तर मिलता है। यह सभी स्थानों की उपजाऊ भूमि में होता है। पत्ते छोटे-छोटे नुकीले होते हैं। फूलों में बीज लगते हैं और पकने पर अलग कर लिए जाते हैं। सोया के बीज कुछ श्याम रंग के और सौंफ के हरापन लिए होते है।[५१] यद्यपि शिवकोष की व्याख्या में 'तालपर्णी' का अर्थ 'मूसली कन्द' किया है, किन्तु वह ठीक नहीं है। क्योंकि मूसली के पर्यायवाची शब्दों में 'तालपर्णी' शब्द किसी भी कोश में नही मिलता। फिर, स्वयं शिवकोषकार ने 'शालेय' और 'शैलेय' दोनों के अनेक अर्थों में जिस 'तालपर्णी' का उल्लेख किया है[५२] वह विश्वप्रकाश, मेदिनी तथा अनेकार्थसंग्रह आदि अनेकार्थक कोशों से सम्मत है। विश्वप्रकाश में उल्लेख है—

शालेयं शतपुष्पायामाहु: शाल्युद्भवोचिते ।
शैलेयं सिन्धुलवणे तालपर्ण्याञ्च शैलजे ।।
सुकेशे पुंसि शैलेयं तालपर्ण्याचं सैन्धवे। मेदिनी, २६।१०१

तुलना के लिए शिवकोष का पाठ इस प्रकार है—

शालेयं न द्वयोस्तालपर्ण्यां धाणक्यमूलके ।
शैलेयं गिरिमृत्तालपर्णीशैलजसिन्धुजे ।।

इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि 'शैलेय' का अर्थ तालपर्णी है। किन्तु तालपर्णी का अर्थ 'मुशली' न होकर मिश्रेया (सोया) है। क्योंकि मुशली को तालमूली तो कहा गया है, पर तालपर्णी सोयाँ को ही कहते है। स्वयं शिवकोषकार ने मुशली को तालमूली कहा है, तालपर्णी नही।[५३] अतएव विविध पर्यायवाची शब्दों के सन्दर्भ में धन्वन्तरिनिघण्टु का उल्लेख ही सत्य प्रमाणित होता है। उसके अनुसार मिश्रेया, तालपर्णी, तालपत्री, मिशि तथा शालेय आदि सोया के अन्य नाम हैं।[५४] सोये के पत्ते ताड़ के पत्ते जैसे अनीदार होते हैं। संभवत: इसी कारण उसे 'तालपर्णी' कहते हैं।

त्वक्पत्र—

इसी प्रकार 'त्वक्पत्र' का अर्थ तेजपात और दारचीनी किया गया है।[५५] किन्तु 'आयुर्वेदचिन्तामणि' में त्वक्पत्र का अर्थ तज मिलता है। श्री विश्वनाथ द्विवेदी ने भी 'तज' अर्थ किया है।[५६] हिंदी में इसे तज, गुजराती में जाडी तज और अंग्रेज़ी में सिनेमन कहते है। इसके अन्य नाम हैं—वारांग भृंग चोच उत्कट आदि। 'त्वक्पत्र' में दो शब्द हैं--त्वक और

पत्र। 'त्वक्' का अर्थ दालचीनी है और 'पत्रक' का अर्थ तेजपात है।[५७] शब्दार्थ की दृष्टि से त्वक् का अर्थ छाल तथा पत्र का अर्थ पत्ता है। सामान्य रूप से तज और तेजपात को एक समझते हैं, किन्तु दोनों भिन्न हैं। यद्यपि दोनों एक ही जाति के हैं, पर दोनों के गुण अलग-अलग हैं। तज का आमयिक प्रयोग कफ, वात, कण्डू, आमदोष, अरुचि, हृद्रोग, बस्तिरोग, वातज, अर्श, कृमि, पीनस और शुक्रनाश के लिए किया जाता है। परन्तु तेजपात मुख्य रूप से अर्श, हृल्लास, अरुचि और पीनसनाशक है।

इस प्रकार तीनों शब्द विचारणीय हैं। सामान्यतः दालचीनी के नाम से प्रायः सभी परिचित हैं। यह एक सुगन्धित छाल है, जो गर्म मसाले में डाली जाती है। दालचीनी सिन्नेमोमम् जेलानिकम् नामक वृक्ष की अग्र शाखाओं का शुष्क किया हुआ अन्तस्त्वक् है। इस सुखाई हुई डालियों की भीतर की छाल को व्यापारी लोग कल्मीदालचीनी कहते हैं। इसे सिंहली दालचीनी या सिलोन सिन्नेमन भी कहते हैं। किन्तु तज इससे भिन्न हैं। तज को लैटिन में सिन्नेमामम् कसिआ, अंग्रेजी में कसिया सिन्नेमन तथा गुजराती में सलीखा कहते हैं। तज (चाइना सिन्नेमन) का ज्ञान प्राचीन काल से चला आ रहा है। अन्य देशों की भाँति भारतवर्ष में भी इस जाति के अनेक वृक्ष आपने आप उत्पन्न होते हैं। प्रसिद्ध तेजपत्र या तेजपात भी इसी जाति के एक वृक्ष के पत्ते होते हैं। सिंहली दालचीनी का ज्ञान इस देश में अधिकतर अठारहवीं शताब्दी में हुआ। किन्तु इस के पूर्व भारतवर्ष में 'तज' का व्यवहार होता था। यूरोप में दारचीनी तथा चीनी तज का प्रचार अरबों के द्वारा हुआ। अरबी भाषा में इसे 'किरफातुद्दारसीनी' कहते हैं, जिसका संक्षिप्त रूप 'किर्फ़ा' है। यह बम्बई के बाजार में 'कल्फा' के नाम से प्रसिद्ध है। दक्षिण भारत के मलाबार प्रान्त में तज की स्वयंजात भारतीय जातियाँ प्राप्त होती हैं। इन की छाल 'कल्फा' कही जाती है।[५८] हिन्दी में इसे ही तज कहा गया है। 'तज' शब्द संस्कृत के 'त्वक्पत्र' शब्द का अपभ्रष्ट तथा विकसित संक्षिप्त रूप है। 'त्वक्' से तज शब्द का विकास हुआ। इस के पर्यायवाची शब्द हैं—वरांग, भृग, चोच, उत्कट। विश्वप्रकाश तथा मेदिनी कोश में 'तज' के लिए 'वरांग' शब्द ही मिलता है, जो भीतरी श्रेष्ठ अंग का सूचक है।[५९] दालचीनी के लिए त्वक् तथा गुडत्वक् शब्द प्रसिद्ध है।[६०] भावप्रकाश में इसके अन्य नाम स्वाद्वी, तनुत्वक् और दारुसिता भी मिलते है। श्री द्विवेदी जी का कथन है कि इस जाति के जो पेड़ बड़े होते हैं तथा जिनकी छाल मोटी होती है, उन्हें तज कहते हैं। यह उतनी सुगन्धित नहीं होती, जितनी कि दालचीनी। साथ ही गुण में भी न्यून होती है।[६१] परन्तु 'तेजपत्ता' इस से भिन्न है। तेजपत्र या तेजपत्ता के पर्यायी नाम है—पत्र, तमालपत्र और पत्रवाचक शब्द। तेजपत्र के वृक्ष उत्तरी भारत में अधिक होते हैं। इसके पत्ते लम्बे-लम्बे तज के पत्तों के समान होते हैं। इनमे रेखायें उभरी सी दिखाई पड़ती हैं। पत्तों में एक उत्तम प्रकार की सुगन्धि निकलती है। तेजपत्र पश्चिम प्रदेशों में भी बहुत होता है।[६२] अतएव तेजपत्र तज से निश्चय ही भिन्न है। तज की छाल में असली दालचीनी की अपेक्षा कार्क का अंश अधिक पाया जाता है। तोड़ने पर उस के टुकड़े खट से टूट जाते हैं। टूटे हुए टुकड़े का बाहरी भाग भुरभुरा, लेकिन भीतर से तन्तुल होता है तज मोठी तथा सुगन्धित होती है इसका सगठन दालचीनी से

भिन्न होता है इसमें ० ८ ० ० उत्पत् तेल ४ ० ० रेजिन ८४ ६ ०।० गोदीय सार एव टनिन तथा ६ ८ ३ प्रतिशत लिग्निन एव बसोरिन १६ ३ प्रतिशत जल तथा अल्प मात्रा में एक रजक तत्व प्राप्त होता है। [६३] इस विवेचन से स्पष्ट है कि दालचीनी, तज और तेजपात भिन्न-भिन्न औषधि-द्रव्य हैं। दालचीनी सिलोन से आती है और वह वृक्ष की अगली डालियो की सुखाई हुई भीतर की छाल होती है। किन्तु तज सिन्नेमोमम् कसिया वृक्ष के सुखाए हुए तनें की छाल होती है। [६४] और तेजपत्र तमालपत्र है। अतएव बृहद् हिन्दीकोश में 'त्वक्पत्र' का अर्थ तेजपत्ता और दारचीनी तथा 'तज' का अर्थ दालचीनी की जाति का एक वृक्ष है जिसकी छाल दवा के काम आती है (इस के पत्ते को 'तेजपत्ता' कहते हैं, [६५] चिन्तनीय है। आयुर्वेदशास्त्र में दालचीनी, इलायची और तेजपात को त्रिजात कहा जाता है। ये तीनों सुगन्धित द्रव्य हैं। आयुर्वेदचिन्तामणि मे 'पत्र' को तमालपत्र या तेजपात (बंगला तेजपत्र) कहा गया है। [६६] और तमालपत्र नागकेशर का पत्र कहा गया है। [६७] परन्तु वास्तव में वह तेजपात है। संस्कृत में उसे तमालपत्र तथा तेजपत्र कहते हैं। तेजपात का वृक्ष हिमालय पर्वत पर तीन हजार से आठ हजार की ऊँचाई तक और सिलहट एवं खासिया पहाड़ों पर उत्पन्न होता है। वनौषधि-चन्द्रोदय में इस की दो उपजातियों का भी विवरण प्राप्त होता है। इसकी एक उपजाति कनाड़ा में उत्पन्न होती है। इसका वृक्ष मध्यम तथा फल लंब गोल होता है। इसकी अन्य उपजाति नेपाल में पाई जाती है, जिसे वहाँ की भाषा मे बरसिंगोली या भलेसिकोली कहते हैं। [६८] तज का वर्णन करते हुए कहा गया है कि यह दालचीनी की जाति की एक वनस्पति है। यह चीन और सिलोन में विशेष रूप से उत्पन्न होती है। इसका वृक्ष दालचीनी के वृक्ष से बड़ा होता है। जो छाल मोटी, खुशबूदार, तीक्ष्ण और चिकनी होती है वह उत्तम होती है। इस में दालचीनी की भाँति मीठा स्वाद न हो कर लोंग की भाँति तीखा स्वाद होता है। [६९] भारतवर्ष में इसके वृक्ष दक्षिणी और पश्चिमी भागों में उत्पन्न होते है। इसकी केवल छाल ही औषधि के प्रयोग में व्यवहृत होती है। लकड़ी दालचीनी तज और तमाल की छाल को कहते हैं और पहाड़ी दालचीनी जंगली दालचीनी को कहते है। सिंहलद्वीप की दालचीनी हिन्दुस्तान में नहीं मिलती। [७०] बाजार में दालचीनी दो तरह की मिलती हैं—एक पतले छिलके की और दूसरी मोटे छिलके की। किन्तु तज उन दोनों मे भिन्न तथा मोटे छिलके की दालचीनी से भी अधिक मोटी मटमैले रंग की मिलती है। अतएव उक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि न केवल गुण-धर्म में वरन् आकृति एवं वर्ण में दालचीनी, तज और तेजपात भिन्न-भिन्न वनस्पति-द्रव्य हैं।

इस प्रकार आयुर्वेद ग्रन्थों में वर्णित अनेक वनस्पतियों तथा उनके पर्यायवाची नामों का अर्थ 'बृहत् हिन्दी कोश' में भ्रान्तिपूर्ण है। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि लेखकों ने अर्थ का विचार न कर, विविध कोशों को तुलनात्मक दृष्टि से न देख कर केवल सकलन के रूप में जो शब्द और उनके अर्थ मिले, उन्हें एक स्थान पर संकलित कर दिया है। आयुर्वेद-जगत् के शब्दों के अतिरिक्त अन्य शब्दों के अर्थों में भी भूलें हैं। उन सबका यदि सप्रमाण विचार किया जाय तो एक स्वतन्त्र पुस्तक ही बन जायगी। यहाँ कुछ शब्दों पर विचार किया जाता है

आसुतीवल—

मेरे विचार में शुद्ध शब्द 'आसुतीवल' है, न कि आसुतीबल। बृहत् हिन्दी कोश में आसुतीबल के तीन अर्थ उल्लिखित हैं[७१]—पुरोहित; कलाल; कन्यापालक। वस्तुत: 'आसुतीवल' का अर्थ कलवार या कलाल (मद्य विक्रय करने वाला) तथा सोमपायी याज्ञिक है। इसका कन्यापालक अर्थ ग़लत है। 'आसुतीवल' शब्द आसुति (आ + सु—क्तिन्) से बना है। आसुति का अर्थ है--मद्यनिष्पन्दन। वाचस्पत्य में स्पष्ट उल्लेख है[७२]—आसुतीवल : आसुतिरस्त्यस्य वलच् दीर्घः—१–शौण्डिके, २–सोमाभिषवशालिनि याज्ञिके च। मोनियर विलियम्स ने भी 'आसुतीवल' शब्द के दो अर्थ दिए हैं[७३]—सोम का निर्माण करने वाला याज्ञिक (प्रीस्ट) तथा शराब बनाने या बेचने वाला कलार (कलवार)। बृहत् हिन्दी-कोश मे पुरोहित अर्थ अंग्रेजी के 'प्रीस्ट' का हिन्दी रूपान्तर है। वस्तुत: इसका अर्थ सोमपायी याज्ञिक है।[७४] आसुतीवल का पर्यायवाची यज्वा शब्द है।[७५] यज्वा शब्द का सामान्य अर्थ यज्ञ करने वाला है।[७६] इसलिए पं० हरगोविन्द शास्त्री ने चौखम्बा से प्रकाशित अभिधान-चिन्तामणि के हिन्दी अनुवाद में 'यज्वा' का अर्थ 'विधिपूर्वक यज्ञ किए हुए के २ नाम' किया है। वह उचित नहीं है। इसीप्रकार उन्होंने जो 'आसुतीबल' पाठ दिया है, वह भी अशुद्ध है। सभी प्रमुख कोशों में 'आसुतीवल' शब्द है। यहाँ तक कि उन्होंने जिस मेदिनी-कोश को देख कर इसका अर्थ 'कन्यापालक' किया है, उसमें भी 'आसुतीवल' है। केवल मेदिनी में ही मेरी जानकारी में आसुतीवल का अर्थ 'कन्यापालक' है, जो अशुद्ध पाठ है।[७७] स्पष्ट ही यहाँ 'कल्यपाल' पाठ होना चाहिए। विश्वप्रकाश, त्रिकाण्डशेष, अनेकार्थ आदि कोशों के प्रमाण से यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी हस्तलिखित प्रति के लेखक ने प्रमादवश 'कल्यपाल' शब्दो को कन्यापाल पढ़ कर लिख दिया है। यथार्थ में आसुतीवल का कन्या के पालन से कोई सम्बन्ध नहीं है। अभिधानचिन्तामणि में एक अन्य स्थल पर सुराजीवी के पर्यायवाची शब्दों में कल्यपाल, शौण्डिक और आसुतीवल का स्पष्ट निर्देश मिलता है।[७८] अतएव यहाँ पर कन्यापालक का कोई अर्थ न हो कर कलार, कलाल या कलवार (मद्य बेचने वाला) अर्थ ही उचित है। कन्यापालक से अभिप्राय मेदिनीकार का किसी अन्य से न होकर कल्यपाल से है। क्योंकि अनेकार्थक कोशो की समग्र परम्परा इसी अर्थ का निर्वचन करती है और इन्ही शब्दों में मिलती है। महीप विरचित अनेकार्थतिलक में भी स्पष्ट निर्देश है—

आसुतीवलशब्दोऽयं कल्यपाले च यज्वनि।

अतएव यहाँ पर कन्यापालक न हो कर कल्यपाल शब्द अर्थसंगत तथा उचित है।

सन्धिला—

बृहत् हिन्दी कोश में सन्धिला शब्द के कई अर्थ है[७९]—सेंध, दरार, सुरंग, गड्ढा मदिरा, नदी। इनमें से मदिरा अर्थ ग़लत है। सन्धिला का अर्थ मदिरा न हो कर मन्दिर है। उक्त शब्द की भाँति यह भी अशुद्ध पाठ से उद्धृत किया गया है। इसलिए मदिरा अर्थ किया गया है। वस्तुत: मन्दिर होना चाहिए। यद्यपि मेदिनीकोश में 'मदिर' पाठ है,[८०] किन्तु लिखावट के प्रमाद से अनुस्वार छूट गया है शुद्ध पाठ मन्दिर प्रतीत होता है

सकती है। अतएव राष्ट्रभाषा हिन्दी के कोशों की छान-बीन होना सम्प्रति शोध एव अनुसन्धान का महान् कार्य है। मैं शोध-संस्थानों, विद्वानों, अनुसन्धित्सुओं तथा स्नातकों का ध्यान इस ओर आकर्षित करना चाहता हूँ कि इस दिशा में शोध-कार्य यथाशीघ्र होना चाहिए, जिससे संस्कृत तथा हिन्दी के समस्त कोशों में हुई भूलों का सम्मार्जन हो सके तथा शब्दों का व उनके अर्थों का वास्तविक इतिहास सम्मुख आ सके।

संदर्भ-संकेत

(१) दहरोमूषिकायाञ्च स्वल्पे भ्रातरि बालके—विश्वप्रकाश, ११६ रवर्ग तथा—दहरो भ्रातरि स्वल्पे मूषिकायाञ्च बालके - मेदिनी, १६५ रान्तवर्ग (२) दहरो मूषिका ह्यल्पो भ्राता डिम्बोऽथ दन्तुर: —अनेकार्थ० ३।५६७ (३) मेदिनी,२७,३ (४) अष्टांगहृदय, ३८।१-२ (५) ध० नि० ६।४३३; राज निघण्टु १९।४५८ (६) रसेन्द्रसार संग्रह, परिशिष्ट (७) वही (८) वही (९) वही (१०) वही (११) वही (१२)कोशकल्पतरू, सिंहादिवर्ग ४४-४६। (१३) देखिए, शब्द-सागर, १९००, पृ० ३३६ (१४) ए० ए० मेकडानेल : ए प्रेक्टिकल संस्कृत डिक्शनरी, ओ०यु०पी० १९५४, (१५) एच० एच० विलसन : शब्द-सागर, १९००, पृ० ३३६ (१६) देखिए, नालन्दा विशाल शब्दसागर, पृ० ५७२। (१७) सं०—राहुल सांकृत्यायन : मज्झिम-निकाय, १९३३, पृ० ५१ (१८) सं० – चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा : संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ, १९२८, पृ० ३७४ (१९) यशोधर : रसप्रकाश सुधाकर, अ० १०-१०-२८ (२०) रसप्रकाश सुधाकर, ११।११३ (२१) वही, ११।१२४; वही १३।१३६ (२२) "दहर:—पुं०—मूषिकायाम्, स्वल्पे, सूक्ष्मे, भ्रातरि, बालके, हृदयाकाशे, ब्रह्मणि।" —सुखानन्दनाथ : शब्दार्थचिन्तामणि, पृ० ११८० (२३) डॉ० जगदीशचन्द्र जैन : जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० ५९९ (२४) बृहत् हिन्दी कोश, तृतीय संस्करण, पृ० ८२१ (२५) वी०एस० आप्टे : संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी, जिल्द २, पृ० १०१४ (२६) देखिए, मोनियर विलियम्स संस्कृति-इंगलिश डिक्शनरी, पृ० ६२२ तथा शब्दसागर, पृ० ४४६ (२७) सुखानन्दनाथ : शब्दार्थचिन्तामणि, १९४०, पृ० १३९ (२८) वि०प्र०, मेदिनीकोश २७।१८३ तथा अनेकार्थसंग्रह, ३।६११ (२९) बृहत् हिन्दी कोश, तृतीय संस्करण, पृ० ९९९ (३०) मेदिनी, १७,१४ (३१) त्रिकाण्डशेष, ३,२०१ (३२) मेदिनी, ६,३-४ (३३) देखिए, बृहत हिन्दी कोश, तृतीय संस्करण, पृ० १४९४ (३४) देखिए, वही पृ० १४९४ तथा ९९९। (३५) मेदिनी, २९,१८ (३६) अनेकार्थसंग्रह, २,२४१; विश्वप्रकाश; पर्यायरत्नमाला, २२५; शिवकोष, ४९९; (३७) आयुर्वेदचिन्तामणि, पृ० ७१ (३८) "वितुन्नमिति। वन्यं—मुस्ताभेद:।" "कुटन्नटं प्लवं वन्यं वितुन्नं परिपेलव—' मिति हृदयदीपक:।"—शिवकोष—व्याख्या, पृ० ११८ (३९) प्रियव्रत शर्मा : द्रव्य गुण विज्ञान, १९५६. (द्वितीय तृतीय भाग), पृ० ३०४ (४०) जे०एफ० बस्तूर : यूजफुल प्लान्ट्स आव इण्डिया एण्ड पाकिस्तान, पृ० ९१ (४१) विश्वनाथ द्विवेदी : भावप्रकाशनिघण्टु, पृ० १२८ (४२) वही, पृ० १३९ (४३) क्षुद्र-मुस्ता कसेरुका राज निघण्टु

(४४) स्याच्छालिपर्णी सुदला सुपत्रिका स्थिरा च सौम्या कुमुदा गुहाध्रुवा।
विदारीगन्धांशुमती सुपर्णिका स्याद्दीर्घमूलापि च दीर्घपत्रिका ॥ रा० नि०, ४।११३
(४५) देखिए, भावप्रकाशनिघण्टु, पृ० १५३ (४६) देखिए, द्रव्यगुणविज्ञान, पृ० ६४०
(४७) देखिए, वही, पृ० २६७ (४८) दे०, बृहत् हिन्दी कोश, पृ० ५७२
(४९) मिश्रेया तालपर्णी तु तालपत्री मिशिस्तथा। ध० नि०, २१४
मिश्रेया तालपर्णी च तालपत्रा मिशिस्तथा। रा० नि० ४।५
(५०) विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य है—द्रव्यगुण विज्ञान, पृ० ३३० (५१) दे०, भावप्रकाशनिघण्टु, पृ० २७ (५२) दे०, शिवकोष, ३६०
(५३) मुशली तालमूल्याखुपर्णिकासितकङ्गुषु।
मृणालं नलदे क्लीबं पुंनपुंसकयो बिसे ॥ ४७०
(५४) मिश्रेया तालपर्णी तु तालपत्री मिशिस्तथा।
शालेयः स च शलीनो नाम्ना शीतशिवो मतः ॥ ध० नि०, २१४
(५५) दे०, बृहत् हिन्दी कोश, पृ० ५६७ (५६) दे०, भावप्रकाशनिघण्टु, पृ० ११८ (५७) दे०, आयुर्वेदचिन्तामणि, पृ० ६३ (५८) रामसुशील सिंह : पाश्चात्य द्रव्यगुणविज्ञान (मटेरिया मेडिका; उत्तरार्द्ध, पृ० ५७५-७६ (५९) त्वक्पत्रन्तु वरांगके—मेदिनी, विश्वप्रकाश। (६०) त्वक् स्त्री चर्मणि वल्के च गुडत्वचि विशेषतः। मेदिनी ६,६ (६१) भावप्रकाशनिघण्टु, पृ० ११८ (६२) वही, पृ० ११६ (६३) देखिए, पाश्चात्य द्रव्य-गुणविज्ञान, उत्तरार्द्ध, पृ० ५७६ (६४) वही, पृ० ५७५ (६५) बृहत् हिन्दीकोश, पृ० ५५५ (६६) आयुर्वेदचिन्तामणि, पृ० ६४।
(६७) तमालपत्रं तापिच्छे पत्रे श्रीमति पत्रके। शिवकोश, ४३४
पत्रकं—त्रिगन्धान्तःपाति तच्च नागकेसरपत्राणीति।
(६८) चन्द्रराज भण्डारी : वनौषधि-चन्द्रोदय, पाँचवां भाग, पृ० १२२० (६९) वही, चतुर्थ भाग, पृ० १२२८ (७०) वही, पांचवां भाग, पृ० १२७३ (७१) बृहत् हिन्दी कोश, पृ० १६२ (७२) वाचस्पत्य कोश, पृ० ८८६ (७३) सर एम० मोनियर विलियम्स : ए संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी, १९५६, पृ० १६० (७४) आलिः सेतुः सखी यज्वा शौण्डिकश्चासुतीवल'। त्रिकाण्डशेष, ३,३८२ (७५)—'यज्वा स्यादासुतीवलः।' अभिधानचिन्तामणि, ३,४८२ (७६) 'आसुतीवल शब्दस्तु यज्ञकर्तरि शौण्डिके।' अनेकार्थसंग्रह, ५,५१ (७७) 'आसुतीवल आख्यात. कन्यापालकयज्वनोः।' मेदिनी, २८,१६८
(७८) कल्यपालः सुराजीवी शौण्डिको मण्डहारकः।
वारिवासः पानवणिग् ध्वजो ध्वज्यासुतीवलः ॥ अभिधानचिन्तामणि, ३,५६५
(७९) देखिए, बृहत् हिन्दी कोश, पृ० १३६६ (८०) 'सन्धिला तु सुरुङ्गायां नदीमदिरयोः स्त्रियाम्।' मेदिनी, २८,१४४ (८१) 'सातला पाटला गुंजा सन्धिलौकः सुरुङ्गयोः। नद्या'—अनेकार्थसंग्रह, ३,७२८ (८२) 'सुरुङ्गा तु सन्धिला स्याद् गूढमार्गो भुवोऽन्तरे।' अभिधानचिन्तामणि, ४,५१ (८३) 'सन्धिला तु सुरुङ्गायां नदीमन्दिरयोरपि।' विश्वप्रकाश' (८४) एम०एम० विलियम्स : संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ११४५ (८५) देखिए, संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, १९२८, पृ० ८८९ (८६) देखिए, शब्दार्थचिन्तामणि, वि० सं० १९२१, पृ० ७१५।

लुग़त-ये-हिन्दी में ब्रजभाषा ध्वनियों की उच्चारण-पद्धति

● अचलानन्द जखमोला

हिन्दी भाषा के प्राचीनतम पूर्ण कोश 'लुग़त-ये-हिन्दी' पर आलोचनात्मक विवरण अन्यत्र दिया जा चुका है।[1] यह फ़ारसी-हिन्दी-कोश मिर्ज़ा खाँ द्वारा विरचित अनुपम ग्रंथ 'तुहफ़तुलहिन्द' (भारत का एक उपहार)[2] का अन्तिम 'बाब' (अध्याय) है, जिसको मिर्ज़ा ने ग्रंथ के 'मुक़द्दिमा' (प्रारम्भिक वक्तव्य) अंश में 'ख़ातिमा' (परिशिष्ट) नाम से भी अभिहित किया है। ग्रंथ का रचनाकाल सन् १६७५ ई० के आसपास माना गया है।[3] इसकी भाषा १७वीं शती ई० की फ़ारसी और लिपि नस्तालीक़ है। कृति प्रकाशित नहीं है, परन्तु ब्रिटिश म्यूज़ियम[4], बोदलियन लाइब्रेरी,[5] रायल एशियाटिक सोसाइटी आफ़ बंगाल,[6] इंडिया आफिस लाइब्रेरी लन्दन[7] और पब्लिक ओरियण्टल लाइब्रेरी पटना में उक्त ग्रंथ की एक-एक हस्तलिखित प्रति का उल्लेख मिलता है। प्रस्तुत अध्ययन इंडिया आफिस लाइब्रेरी, लन्दन की हस्तलिखित प्रति पर आधारित है।

मिर्ज़ा खाँ कृत प्रस्तुत 'लुग़त' में लगभग ३५०० मूल हिन्दी शब्दों के अरबी-फ़ारसी में अर्थ और व्याख्याएँ दी गई है। शब्द केवल संस्कृत के प्रचलित ही नहीं, वरन् तत्कालीन लोक व्यवहार, समाज व साहित्य में प्रचलित सभी वर्ग और सम्प्रदाय के हैं। यह ध्यान देने योग्य है कि इससे पूर्व के समस्त कोश संस्कृत परम्परा में निर्मित समानार्थी या अनेकार्थी शैली के शब्द-संग्रह[8] मात्र थे। उनमें अर्थ देने का कोई प्रयास नहीं किया गया था। परन्तु मिर्ज़ा ने प्रस्तुत 'लुग़त' मे केवल शब्दों का संग्रह ही नहीं किया, वरंच प्रत्येक संगृहीत शब्द का विभिन्न माध्यमों या अर्थ-प्रक्रियाओ द्वारा अर्थ या आन्तरिक भाव को बोधगम्य कराने का सफल प्रयास किया गया है। इसके अतिरिक्त शब्दों के माध्यम से भारतीय संस्कृति को भी हृदयंगम कराने का प्रयास है।

एक आदर्श कोश में आवश्यक अन्य उपादानों के अतिरिक्त, मिर्ज़ा खाँ विरचित 'लुग़त-ये-हिन्दी' की सर्वप्रमुख विशेषता इसमें प्रस्तुत ब्रजभाषा-ध्वनियों की उच्चारण एवं लिप्यंतरण (Transliteration) व्यवस्था का प्रतिपादन है। भाषा में प्रचलित शब्दो के वर्णक्रम, अर्थ, व्याख्या, निरुक्ति और व्याकरणिक रूपों के अतिरिक्त एक परिनिष्ठित कोश मे शब्दों की उच्चारण प्रणाली का निरूपण भी रहता है।[9]

एक सच्चे कोशकार की भ ति मिर्ज़ा खाँ को यह उत्तट अभिलाषा थी कि उनके इस विशाल द्विभाषीय 'लुग़त' का प्रयोग करने वाले फ़ारसी अध्येता तत्कालीन जन-समाज या भाषा-साहित्य में प्रचलित ब्रजभाषा या हिन्दी ध्वनियों का यथावत् और नितान्त शुद्ध उच्चारण करे। विदेशी भाषा के उच्चारण में पूर्णतः प्रवीणता उपलब्ध करना अत्यन्त दुष्कर समझा जाता है।[10] विशेषतः ठीक स्वदेशियों के लहज़े या 'टोन' में शब्दों को उच्चारित करना तो नितान्त असम्भव है।[11] परन्तु मिर्ज़ा खाँ नहीं चाहते थे कि एक ही हिन्दी शब्द का उच्चारण हिन्दी भाषी एक प्रकार से करें और अहिन्दी भाषी फ़ारसी अध्येता दूसरे ढंग से। उनकी तीव्र इच्छा थी कि फ़ारसी पाठकों के निमित्त किसी ऐसी सुस्पष्ट व्यवस्था का आविष्कार करें, जिससे हिन्दी-ध्वनियाँ उनकी समझ में सरलता से आ सकें।

परन्तु यह कार्य बहुत आसान न था। हिन्दी तथा तत्कालीन फ़ारसी या अरबी ध्वनियों मे बहुत कम ध्वनियाँ समान थीं। अधिकांश ब्रजभाषा ध्वनियों का फ़ारसी या अरबी ध्वनियो के माध्यम से उच्चारण देना सम्भव नहीं था। परन्तु मिर्ज़ा खाँ इससे विचलित नहीं हुये। उन्होंने दोनों भाषाओं की प्रचलित ध्वनियों का पारस्परिक तुलना के माध्यम द्वारा अत्यन्त सूक्ष्म-दृष्टि से निरीक्षण कर उन पर गहन मनन, चिन्तन और विवेचन किया। उनके प्रचलित स्वरूप को लिखित भाषा-साहित्य में सूक्ष्मता से देखा और उनके उच्चरित रूप को जन-साधारण के मुँह से अत्यन्त ध्यानपूर्वक सुना। इस व्यापक पर्यवेक्षण के अनन्तर उन्होंने हिन्दी ध्वनियों को तीन भागों में वर्गीकृत किया।

प्रथम प्रकार की ध्वनियाँ हिन्दी और फ़ारसी में एक समान लगीं। यथा, र, ल (लाम), न (नून), व (वाव) तथा ह।

द्वितीय श्रेणी की ध्वनियाँ दोनों भाषाओं में मिलती तो थीं परन्तु उनके साथ फ़ारसी या अरबी विशेषण लगाने पड़े। यथा, 'च' (जीमे-अजमीये-खफ़ीफ़ा = फ़ारसी हल्का 'ज') तथा 'ग' (काफ़ – अजमीये – खफ़ीफ़ा = फ़ारसी हल्का 'क')।

तृतीय वर्ग की हिन्दी-ध्वनियों का कोई भी रूप तत्कालीन फ़ारसी या अरबी अक्षरों में नहीं मिल पाया। ऐसी विशिष्ट ध्वनियों के लिये मिर्ज़ा ने कुछ मूल फ़ारसी ध्वनियो का आश्रय लेकर उनको कुछ प्रचलित वा स्वनिर्मित विशेषणों के योग द्वारा स्पष्ट किया। कुछ ध्वनियों के लिये पारिभाषिक शब्दावली[12] का आश्रय भी लिया गया है, जिनके माध्यम से इन ध्वनियों को फ़ारसी में समझाया गया है। उदाहरणार्थ हिन्दी के थ, ट, ठ, के लिये मिर्ज़ा को फ़ारसी-अरबी का 'ताय-फ़ौकानी' अक्षर सर्वाधिक समान मिला। उक्त तीनों अक्षरो की मूल ध्वनि इस अक्षर से मिल जाती है, परन्तु पूर्णतः नहीं। अतएव यदि अरबी 'त' मे थोडी महाप्राणता या भारीपन का मिश्रण कर दें तो मिर्ज़ा के मतानुसार यह हिन्दी 'थ' के लिये पर्याप्त होगा। इसीलिये 'थ' को मिर्ज़ा खाँ 'ताये-फ़ौक़ानीये-सक़ीला' के नाम से अभिहित करते हैं। यदि उसी अरबी 'त' में कुछ अधिक महाप्राणता या क्लिष्टता का संयोग कर दे तो मिर्ज़ा की पद्धति के अनुसार यह हिन्दी 'ट' के लिये पर्याप्त होगा। अतएव 'ट' के लिये 'ताये-फ़ौक़ानीये-मुसक़्क़ला' अंकित है। इसीप्रकार यदि उसी अरबी 'त' को अधिकाधिक महा-प्राणता भारीपन वा क्लिष्टता से सयुक्त कर दें तो यह हिन्दी ध्वनि ठ के लिये उचित

होगी। अतएव मिर्ज़ा ने 'ठ' के लिये लिखा है—'तायें-फौक़ानीये-अस्क़ल'। 'ढ' के लिये 'दाले अस्कल', 'भ' के लिये 'बाये मुवह्हदा-सक़ीला', 'ष' के लिये 'काफ़े-तज़ीये-अस्क़ल' और 'क्ष' के लिये 'जीमे अजमी अस्क़ल' प्रयोग में लाये गये हैं।

इन परिभाषिक शब्दों के सम्बन्ध में इतना निर्देश करना आवश्यक है कि ये शब्द किसी मान्य या शास्त्र-सम्मत सिद्धान्तों पर आधारित नहीं हैं। खफ़ीफ़ा (हलका), सक़ीला (भारी), मुसक़्क़िला (अधिक भारी) तथा अस्क़ल (सर्वाधिक भारी) शब्दों द्वारा निर्दिष्ट मात्रा सम्बन्धी भेद बहुत कुछ अनियमित और अनिश्चित मात्रा का बोध कराते हैं। डॉ॰ सुनीति कुमार चटर्जी इसीलिए इस पद्धति को वैज्ञानिक की अपेक्षा लोकप्रिय मानते है।[१३]

ब्रजभाषा ध्वनियों का फ़ारसी में उच्चारण तथा लिप्यंतरण प्रस्तुत करने के लिये मिर्ज़ा ने निम्न अठारह फ़ारसी अरबी अक्षरों का उपयोग किया :

अलिफ़, बाये मुवह्हदा, पाये अजमी, तायें-फ़ौकानी, जीमे-ताज़ी जीमे-अजमी, दाल, रा, सीने-मुहमल:, सीने-मो,जम, काफ़े-ताज़ी, काफ़े-अजमी, लाम, मीम, नून, वाव, हे तथा या।

इन अक्षरों पर ही कुछ आवश्यक विशेषण एवं पारिभाषिक शब्दावली का संयोग कर वाछित हिन्दी अक्षरों का रूपान्तर प्रस्तुत किया गया है। उच्चारण तथा लिप्यंतरण व्यवस्था की इस विस्तृत एवं जटिल पद्धति को यथावत् हृदयंगम कराने की दृष्टि से नीचे तालिका का आश्रय लिया गया है। तुहफ़त् में क्रम फ़ारसी-अरबी अक्षरों का है, परन्तु यहाँ देवनागरी क्रम रखना ही उचित समझा गया। इस तालिका का आधार 'तुहफ़तुलहिन्द' के 'लुग़त' अंश के अतिरिक्त भूमिका भाग (दर बयाने मुस्तलहात् हुरूफ़ तहज्जियाये हिन्दिया) से भी सहायता ली गई है। समस्त उदाहरण कोश अंश से ही है :

प्रारम्भिक स्वर (पत्र १५ पीठ पर विवेचित)

अ	अलिफ़ के ऊपर हम्ज़: तथा हम्ज़: के ऊपर ज़बर।
आ	अलिफ़ के ऊपर मद।
इ	अलिफ़ के ऊपर हम्ज़: तथा नीचे ज़ेर।
ई	अलिफ़ के नीचे ज़ेर तथा बाद में याय।
उ	अलिफ़ के ऊपर हम्ज़: तथा पेश।
ऊ	अलिफ़ के ऊपर हम्ज़: तथा पेश और आगे वाव।
ऋ	रा तथा याय।
ॠ	रा के नीचे ज़ेर तथा बाद में याय।
ऌ	लाम और रा तथा याय।
ॡ	लाम और रा तथा याय।
ए	अलिफ़ के नीचे ज़ेर तथा याय।
ऐ	अलिफ़ के ऊपर ज़बर तथा याय।
ओ	अलिफ़ के ऊपर पेश और बाद में वाव।
औ	अलिफ के ऊपर ज़बर और बाद में वाव

मध्यस्थ स्वर

अ		मफ़्तूह या फ़त्हः यथा 'थकत' (पृ० २२८ पीठ) में		
आ	ा	मम्दूदः यथा 'तनाई' (पृ० २२८ मूल) में		
इ	ि	कस्र या मक्सूर यथा 'फिरत' (पृ० २२४ पी०) में		
ई	ी	मक्सूर तथा याय मारूफ़ यथा 'तुरी' (पृ० २२८ मू०) में		
उ	ु	ज़म्म या मज़्मूम	यथा	'फुँआर' (पृ० २२४ पी०) में
ऊ	ू	मज़्मूम तथा वाव मारूफ़	,,	'दूध' (पृ० २४१ मू०) में
ए	े	मक्सूर तथा याय मज्हूल	,,	'फेंट' (पृ० २२४ पी०) में
ऐ	ै	सुकूने याय तहतानी	,,	'वैध' (पृ० २०५ मू०) में
ओ	ो	मज़्मूम तथा वाव मज्हूल	,,	'बोध' (पृ० २०५ मू०) में
औ	ौ	सुकूने वाव	,,	'छौना' (पृ० २४० मू०) में

व्यञ्जन

क्	काफ़े-ताज़ीये-ख़फ़ीफ़ा	यथा	'थकत' (पृ० २२८ पी०) में
ख्	काफ़े-ताज़ीये-सक़ीला	,,	'विदूखक' (पृ० २०७ पी०) में
क्ख्	काफ़े-ताज़ीये-मुसक़्क़िला	,,	'मुक्ख' (भूमिका भाग) में
ग्	काफ़े-अजमीये-ख़फ़ीफ़ा	,,	तुंगल' (पृ० २२७ पी०) में
घ्	काफ़े-अजमीये-सक़ीला	,,	'घनघोर' (पृ० २७२ पी०) में
ङ्	काफ़े-अजमीये-मग़नूना	,,	(भूमिका भाग) में
च्	जीमे-अजमीये-ख़फ़ीफ़ा	,,	'बचार' (पृ० २०६ मूल) में
छ्	जीमे-अजमीये-सक़ीला	,,	'मिरिगछाला' (पृ०२७५ पी०) में
च्छ्	जीमे-अजमीये-अस्क़ल	,,	'मच्छ' (भूमिका भाग) में
ज्	जीमे-ताज़ीये-ख़फ़ीफ़ा	,,	'ताजन' (पृ० २२७ पी०) में
झ्	जीमे-ताज़ीये-सक़ीला	,,	'झख' (पृ० २३५ मू०) में
ञ्	याये-तहतानी-ये-मग़नूना	,,	(भूमिका भाग) में
ट्	ताये-फ़ौक़ानीये-मुसक़्क़िला	,,	'टोटा' (पृ० २२६ मू०) में
ठ्	ताये-फ़ौक़ानीये-अस्क़ल	,,	'निठुर' (पृ० २८० मू०) में
ड्	दाले-मुसक़्क़िला	,	'डाडस' (पृ० २४६ मू०) में
ड़्	राये-मुसक़्क़िला	,,	(भूमिका भाग) में
ढ्	दाले-अस्क़ल	,,	(भूमिका भाग) में
ण्	नूने-मुसक़्क़िला	,,	'गणेश' (पृ० २७१ मू०) में
त्	ताये-फ़ौक़ानीये-ख़फ़ीफ़ा	,,	'वर्तमान' (पृ० २१० मू०) में
थ्	ताये-फ़ौक़ानीये-सक़ीला	,,	'थियर' (पृ० २०५ पी०) में
द	दाले-ख़फ़ीफ़ा		'बादर' (पृ० २०५ मू०) में
ध	दाले-सक़ीला		जलधर' पृ० २३२ मूल) में

न्	नून	यथा	'जुनय्या' (पृ० २३१ मू०) में
न्ह्	नूने-सक़ीला	,,	'कान्ह' (भूमिका भाग) में
प्	बाये-अजमीये-ख़फ़ीफ़ा	,,	'बिपत' (पृ० २०३ मू०) में
फ्	बाये-अजमीये-सक़ीला	,,	'फाटक' (पृ० २२५ मू०) मे
ब्	बाये-मुवह्हदा-ये-ख़फ़ीफ़ा	,,	'बिधना' (पृ० २०१ पी०) मे
भ्	बाये-मुवह्हदा-ये-सक़ीला	,,	'आभरन' (पृ० १६८ मू०) में
म्	मीम	,,	'तमाल' (पृ० २२७ मू०) में
म्ह	मीमे-सक़ीला	,,	'ब्रम्हा' (भूमिका भाग) में
य्	याये-तह्तानी	,,	'बायब' (पृ० २०२ पी०) मे
र्	रा	,,	'तारन' (पृ० २२७ पी०) मे
ल्	लाम	,,	'बालक' (पृ० २०७ मू०) मे
ल्ह्	लामे सक़ीला	,,	'काल्ह' (भूमिका भाग) में
व्	वाव	,,	'फुवार' (पृ० २२४ पी०) में
श्	सीने मो'जमः	,,	'जेशठा' (पृ० २३१ पी०) मे
ष्	काफ़े-ताज़ीये-अस्क़ल	,,	(भूमिका भाग) में
स्	सीने मुह्मलः	,,	'बिसाल' (पृ० २२६ मू०) में
ह्	हाय	,,	'थरहराट' (पृ० २२८ पी०) में
क्ष्	अजमी जीम अस्क़ल	,,	(भूमिका भाग) में
ज्ञ्	काफ़े-अजमीये-मग़नूना	,,	(भूमिका भाग) में

विशिष्ट ध्वनियाँ

उपर्युक्त व्यवस्था पर यदि ध्यान दें तो ज्ञात होगा कि मिर्ज़ा ख़ाँ ने 'क्ख', 'च्छ', 'न्ह', 'म्ह', 'ल्ह', 'क्ष' तथा 'ज्ञ' को स्वतन्त्र-ध्वनि माना है। इनमें से 'न्ह', 'म्ह' और 'ल्ह' को डॉ० धीरेन्द्र वर्मा[१४] एवं डॉ० अम्बा प्रसाद सुमन[१५] भी ब्रजभाषा की स्वतन्त्र-ध्वनि मानते हैं। यह द्रष्टव्य है कि उक्त दोनों विद्वानों द्वारा मान्य 'र्ह' को मिर्ज़ा ख़ाँ ने स्वतन्त्र ध्वनि नहीं माना, न इस ध्वनि का कहीं तुहफ़त् में प्रसंग ही आया है। वैसे 'लुग़त' में दी गई व्यवस्था के अनुसार इसे 'राय सक़ीला' होना चाहिए था। इसके अतिरिक्त 'क्ख', 'च्छ', 'क्ष', तथा 'ज्ञ' को स्वतंत्र-ध्वनि मानना मिर्ज़ा ख़ाँ का मौलिक प्रयास है। एक और महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि मिर्ज़ा ख़ाँ ने 'ख' और 'ष' को स्वतंत्र-ध्वनि माना है, जबकि समस्त मध्यकालीन कवि 'ष' के स्थान पर 'ख' का ही प्रयोग करते रहे। परन्तु 'ङ' तथा 'ज्ञ' की उच्चारण भिन्नता को मिर्ज़ा ख़ाँ समुचित रूप से नहीं समझ पाये। इसीलिये दोनों को 'काफ़े-अजमीये-मग़नूना' के नाम से अभिहित किया गया है। 'त्र' को मिर्ज़ा ने 'त' एवं 'र' का संयोग (ताये-फ़ौक़ानी व राय मुत्तसिला) माना है।

प्रथम एवं अन्तिम अक्षर का उच्चारण नहीं :

लुग़त-ये हिन्दी में शब्दों के प्रथम और अन्तिम अक्षरों के उच्चारण नहीं दिये गये

है। प्रथम अक्षर के केवल स्वर तथा अन्तिम अक्षर के केवल दीर्घ स्वर का ही निर्देश प्रस्तुत कोश में किया गया है। इसके फलस्वरूप आ, ई, ऊ स्वरों से समाप्त होने वाले शब्द तो शुद्ध रूप से अंकित है, परन्तु इ तथा उ लघु स्वरों से समाप्त होने वाले शब्दों का उच्चारण बिगड़ गया है। छबि, भूमि, कपि, निधि, रिपु, कटु एवं रघु क्रमश: छब, भूम, कप, निध, रिप, कट तथा रघ हो गये हैं।

इस व्यतिक्रम का कारण यह है कि मिर्जा ने अपने 'लुगत' को फ़ारसी के चौदह अक्षरों से निर्मित सत्ताईस ध्वनियों से प्रारम्भ होने वाले 'बाब' (अध्याय) तथा उनतीस ध्वनियों से समाप्त होने वाले उनतीस 'फ़स्ल' (प्रकरण) में वर्गीकृत किया है। उदाहरणार्थ, 'बाबे-बाये-मुवह्हदाये-खफ़ीफ़ा' ('ब' अक्षर का अध्याय) में 'ब' अक्षर से प्रारम्भ होने वाले शब्द तथा बनिता, बनरा, बूता, बौना, बौरा, बहुरताना, बेला, बिरबस, बात, बिपत शब्द सकलित हैं, परन्तु इन शब्दों के प्रथम अक्षर 'ब' का उच्चारण कहीं भी नहीं दिया गया है। केवल 'ब' के साथ संयुक्त स्वर—ऊ, औ, ए, इ, आ का ही निर्देश मिलता है। अध्येता को यह ध्यान सदैव रखना पड़ता है कि प्रस्तुत 'बाब' किस अक्षर का है।

ठीक यही स्थिति शब्द के अन्तिम अक्षर के सम्बन्ध में है। प्रत्येक 'बाब' के अन्तर्गत कई 'फ़स्ल' (प्रकरण) हैं। ये 'फ़स्ल' भी अक्षरों के नाम से हैं, यथा—'फस्ले नून' ('न' का प्रकरण) या 'फ़स्ले मीम' ('म' का प्रकरण)। ये अक्षर उस प्रकरण में संकलित शब्दों के अन्तिम अक्षर हैं। उदाहरणार्थं, 'बाबे-जीमे अजमीये-खफ़ीफ़ा' (अल्पप्राण 'च' का अध्याय, जिसके अन्तर्गत 'च' से प्रारम्भ होने वाले शब्द हैं) के अन्तर्गत 'फ़स्ले काफ़े ताज़ीये-खफ़ीफ़ा' (अल्पप्राण 'क' से समाप्त होने वाले शब्दों का प्रकरण) के अन्तर्गत चाक, चपक, चटक, चक, चिलक, चम्पक, चन्द्रक, चौक, चौंक, चूक, तथा चेटक शब्द समाहृत हैं। परन्तु आदि वर्ण की भाँति इन शब्दों के प्रसंग में भी कोशकार ने अन्तिम वर्ण 'क' का उच्चारण नहीं दिया है। यदि ये शब्द किसी दीर्घ स्वर से समाप्त होते तो उनका उच्चारण मिर्ज़ा खाँ ने विभिन्न पद्धति पर दिया होता। 'आ', 'ई', 'ऊ' तथा 'ओ' से समाप्त होने वाले शब्द क्रमश: अलिफ़, याय-तहतानी और वाव की 'फ़स्ल' में रखे गये हैं। फ़स्ल मात्र का ध्यान रखने से अन्तिम स्वर का अनुमान किया जा सकता है। ह्रस्व स्वर 'इ' तथा 'उ' का कोई अलग 'फस्ल' नहीं है, इसलिये इन स्वरों से समाप्त होने वाले शब्द व्यञ्जनान्त ही हो गये हैं।

पीछे दी गई तालिका में संकलित ध्वनियों में से 'क्ख् (काफ़े-ताज़ीये मुसक्किला), 'ङ्' (काफ़े-अजमीये-मग़नूना), 'च्छ' (जीमे-अजमीये-मस्क़ल), 'ञ्' (याये तहतानी-येब-मग़नूना), 'ण्' (नूने मुसक्क़िला), 'न्ह्' (नूने सक़ीला) 'म्ह' (मीमे-सक़ीला), 'ल्ह्' (लामे सक़ीला), 'श' (सीने मो'जम:), 'ष' (काफ़े ताज़ीये अस्क़ल), 'क्ष' (अजमी-जीम-अस्क़ल) तथा 'ज्ञ' (काफ़ अजमीये-मग़नूना), ध्वनियों के कोई स्वतन्त्र 'बाब' (अध्याय) या 'फ़स्ल' नहीं हैं। 'लुगत' में संकलित किसी भी शब्द के प्रारम्भ या अन्त में ये ध्वनियाँ नहीं आतीं। इनका विवरण तुहफ्त् की भूमिका में दर-बयाने-मुस्तलहाते हुरूफ -तहज्जियाये-हिन्दिया हिन्दी वर्णमाला का विवरण) शीर्षक से किया गया है।

यद्यपि भूमिका भाग में मिर्ज़ा ख़ाँ ने सानुनासिक व्यंजनों का स्वतंत्र विवरण दिया है, परन्तु कोश के अन्तर्गत 'न' तथा 'म' को छोड़कर अन्य सानुनासिक नहीं आये हैं। फिर संयुक्ताक्षरों के प्रसंग में पाँचों अनुनासिकों को आधा (सुकून) 'न' मानकर अनुस्वार (नूने मग़नूना) का प्रयोग किया गया है। 'आधा न' के भी मिर्ज़ा ने दो उपभेद किये—'नूने मग़नूना' तथा 'नूने मुनव्वना', परन्तु इसका आधार अधिक स्पष्ट नहीं है। इनको अनुस्वार तथा चन्द्रबिन्दु के लिए भी प्रयुक्त नहीं कहा जा सकता। क्योंकि थाँब, बाँध, बूँद में 'नूने-मुनव्वना' है तो फाँफ, फाँट में 'नूने मग़नूना'। इसी प्रकार तुन्दल, तुङ्गल, बिन्द और बीड में 'नूने मुनव्वना' है तो टँट, फँट और फुंकार में 'नूने-मग़नूना'।

उपर्युक्त ध्वनियों के अतिरिक्त संयुक्ताक्षरों में आये हुये अर्द्ध-व्यंजनों के लिए 'सुकून' तथा द्वित्त वर्णों के लिये 'मुशद्दद' या 'तश्दीद' शब्द प्रयुक्त किये गये हैं।

'लुग़त-ये-हिन्दी' में दी गई उच्चारण-व्यवस्था के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है :—

('अ' के अध्यायान्तर्गत 'व' के प्रकरण से)

इन्द्रवधू—(इस शब्द का) प्रथम (=अक्षर 'अ', जिसका यह अध्याय है) 'इ' स्वर के साथ (पढ़ा जाय), 'न' अनुस्वार मात्र है तथा हलका 'द' जिसके साथ 'र' भी मिला है। हलके 'ब' में 'अ' स्वर मिला है। महाप्राण 'द' (=ध) पर बड़ी 'ऊ' की मात्रा लगायें।[१६]

('ब' के अध्यायान्तर्गत 'र' के प्रकरण से)

ब्यौपार -(इस शब्द के) प्रथम (अक्षर 'ब' को) 'इ' स्वर के साथ (मिलाकर पढा जाय) आधा 'व' तथा हलका-सा 'य' (भी प्रथम अक्षर के साथ ही मिलाया जाय)। फारसी 'ब' (=प) अल्पप्राण तथा अकारान्त है (और अन्तिम अक्षर 'र' जिसका यह प्रकरण है)।[१७]

('द' के अध्यायान्तर्गत 'ज' के प्रकरण के)

द्विजराज—(इस शब्द के) प्रथम (अक्षर 'द' को) 'उ' स्वर सहित (पढ़ा जाय) तथा इसके आगे 'इ' (का उच्चारण करें) और अरबी अल्पप्राण 'ज' को आधा (पढ़ा जाय)। 'र' आकारान्त है (तथा 'ज' जिसका यह प्रकरण है)।[१८]

('द' के अध्यायान्तर्गत 'र' के प्रकरण से)

दुधिश्ठर -(इस शब्द के) पहले (अक्षर 'द' को) 'उ' स्वर के साथ (उच्चारण करें), इसके पश्चात् महाप्राण 'द' (='ध') को 'इ' स्वर सहित (पढ़ें) और आधा 'श' तथा भारी 'त' (='ठ') (और 'र' जिसका यह प्रकरण है)।[१९]

('फ' के अध्यायान्तर्गत 'ब' के प्रकरण से)

फनंद—(इस शब्द का) प्रथम (अक्षर 'फ') अकारान्त है तथा दो 'न' (जिनमें से) प्रथम न है और दूसरा 'न' केवल अनुस्वार के रूप में (तथा अन्त में 'द' जिसका यह प्रकरण है) •

(त के अध्यायान्तर्गत न के प्रकरण से)

तिलोतमाँ—(इस शब्द के) प्रथम अक्षर त को इ स्वर के साथ पढ़ा जाय) तथा 'ल' को पहले 'उ' फिर खींचा हुआ 'व' (= वो = ओ) सहित (उच्चारण करें)। इसके पश्चात् 'त'। इस पर अधिक बल न दें। आकारान्त 'म' (और अन्त में 'न' जिसका यह प्रकरण है)।[२१]

समस्त-पद तथा समासों का उच्चारण—मिर्ज़ा खाँ ने अपने 'लुगत' में समस्त पद तथा समासों का उच्चारण देने की एक विशिष्ट पद्धति अपनाई है। इसमें मूल शब्द का उच्चारण अपने स्थान पर पूर्व उल्लिखित पद्धति पर दिया गया है। परन्तु वही शब्द यदि पुनः किसी समस्त-पद या समास में आये हैं तो उनका उच्चारण दुबारा नहीं दिया गया है। उनके स्थान पर केवल 'ब हुरूफ़-हरकाते-मज्कूर:' (इस शब्द के अक्षर पूर्व वर्णित जैसे ही है) अंकित है। इसके पश्चात् समस्त पद में से अवशेष अंश का उच्चारण दिया गया है। इन समस्त-पदों में से अध्येता को इतना अवश्य ध्यान रखना पड़ता है कि कितने अंश की पुनरावृति हुई है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा :—

('म' के अध्ययायान्तर्गत 'न' के प्रकरण से)

मदन—(इस शब्द का) प्रथम (अक्षर 'म') अकारान्त है। थोड़े विराम के पश्चात् (= म ऽ) अकारान्त हलका 'द' (तथा 'न') जिसका यह प्रकरण है)।

मदनसदन—(इस सामासिक पद में से प्रथम तीन अक्षरों को) पूर्व वर्णित वर्णों के समान (पढ़ा जाय)। (इसके अनन्तर) 'स' तथा हलका अकारान्त 'द' (एवं 'न' जिसका यह प्रकरण है)।

मदनमोहन—(इस सामासिक-पद में से प्रथम तीन अक्षरों का उच्चारण वैसे ही करें) जैसे पूर्व वर्णित अक्षरों का (किया था)। (इसके पश्चात्) 'म' वर्ण पर पहले 'उ' फिर हलका 'व' (= ओ) तथा अकारान्त 'ह' (एवं 'न' जिसका यह प्रकरण है)।[२२] इन सामासिक तथा समस्त-पदों की उच्चारण-पद्धति के सम्बन्ध में इतना निर्देश करना आवश्यक है कि कहीं-कहीं ऐसे पदों का अन्तिम अक्षर विवेच्य प्रकरण के अन्तर्गत न आ पाया हो। ऐसी स्थिति में मिर्ज़ा ने अन्तिम अक्षर का भी उच्चारण दे दिया है। उदाहरणार्थ, 'बिर्ज', 'बिर्जबाल' तथा 'बिर्ज गोपाल' सामासिक पद 'ज' के प्रकरण में संकलित हैं। अतएव 'बिर्ज' का 'ज' तो बिना उच्चारण दिये छोड़ दिया गया है, परन्तु अन्तिम दो शब्दों का 'ल' लिप्यंतरित है।

उच्चारण-सम्बन्धी एक अन्य विशेषता—एक शब्द का उच्चारण देने के उपरान्त यदि 'लुग़त' में कोई दूसरा ऐसा शब्द आया हो, जिसका प्रथम अक्षर ही नहीं, वरंच उच्चारण भी बहुत कुछ पूर्व वर्णित शब्द से समानता रखता हो तो ऐसी स्थिति में दूसरे शब्द का नियमानुकूल पूर्ण उच्चारण न देकर केवल भिन्नता मात्र निर्देशित कर दी गई है, बप, बिप्प, बिट, बिष्णु; तनुज, तेज, तीज; तथा चेत, चीत, चैत एक ही मुख्य शीर्षक में संकलित हैं।

एक ही मुख्य शीर्षक के अन्तर्गत उसी से मिलते-जुलते शब्दों का उच्चारण देने की यह पद्धति किसी सुनिश्चित तथा सुनिर्दिष्ट प्रणाली पर आधारित नहीं है। 'बप' (बपु)

'बिप्प' (विप्र), 'बिट' एवं 'बिघू' का तनिक भी पारस्परिक सम्बन्ध नहीं है। प्रथम अक्षर के अतिरिक्त इनमें कुछ समानता न होते हुये भी इन शब्दों को मुख्य शीर्षक 'बप' के ही अन्तर्गत संकलित किया गया है। परन्तु अन्य अवसरों पर प्रारम्भिक और अन्तिम अक्षर ही नहीं, उच्चारण में भी पर्याप्त समानता है। शब्दों में केवल स्वर परिवर्तन मात्र से उच्चारण की भिन्नता निर्देशित की जा सकती थी। परन्तु ऐसा नहीं किया गया है। उदाहरणार्थ 'तिल' शब्द का उच्चारण देकर 'तल' तथा 'तुल' का उच्चारण तो मुख्य शीर्षक 'तिल' के ही अन्तर्गत है, परन्तु इसी प्रसंग में 'तूल' तथा 'तेल' का मिर्ज़ा ने स्वतंत्र उच्चारण दिया है। इसीप्रकार 'चाल', 'चल', 'चुल' तथा 'चील' शब्दों में से प्रत्येक का अलग-अलग उच्चारण दिया गया है। इन शब्दों का प्रारम्भिक और अन्तिम अक्षर ही समान नहीं, अन्तर केवल स्वरों का है।

शब्दों के उच्चारण में बोलचाल के स्वरूप का ध्यान रखा गया है। यदि एक ही शब्द कई रूपों में बोला या लिखा जाता हो तो मिर्ज़ा खाँ ने उन सभी वैकल्पिक रूपों का निर्देश कर दिया है। उदाहरण के लिये बेसा-बेसवा[२३]; तिरिया-तिया[२४]; प्रीतम-पीतम[२५]; दसरत-जसरत[२६]; सांग-स्वांग[२७]; कुकुमाँ-कुंकुम[२८]; नाम-नाँव[२९]; गौ-गऊ[३०] शब्द-युग्मों की उच्चारण-भिन्नता द्रष्टव्य है। ऐसे वैकल्पिक रूपों के प्रसंग में लिखित रूप पहले और सामान्य बोल-चाल का रूप सामान्यत: बाद में रखा गया है।

अक्षरों की बनावट का निर्देश—'तुहफ़तुलहिन्द' व्रजभाषा-हिन्दी शब्दों की फ़ारसी के माध्यम से उच्चारण व्यवस्था के अतिरिक्त देवनागरी वर्णमाला को नस्तालीक़ लिपि के माध्यम से लिखने की पद्धति भी पर्याप्त सूक्ष्मता, परिश्रम और विस्तार के साथ समझाई गई है। भूमिका भाग के 'दर बयाने-मुस्तलहाते-हुरूफ़े-तहज्जियाये-हिन्दिया' के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न देवनागरी अक्षरों का फ़ारसी में लिप्यंतरण के अतिरिक्त उनकी आकृतियों या बनावट को भी फारसी अक्षरों के माध्यम से समझाया गया है। मिर्ज़ा खाँ की यह निरूपण एवं विवेचन शैली पूर्ण व्यापक एवं मौलिक है।

देवनागरी अक्षरों की इन 'शक्लों' को तीन वर्गों में विभाजित किया गया है: (१) जुदा-जुदा शक्ल। यथा 'क' 'र' (पत्र ११ पीठ)। (२) संयुक्त वर्णों में प्रयुक्त आधे अक्षर (सुकून) यथा 'हस्त' 'स्वेद', तथा 'ग्रोस' (पत्र० १२ पीठ)। इसी प्रसंग में मिर्ज़ा खाँ ने लिखा है कि 'ग्र' 'ब' तथा 'य' अक्षर शब्द के प्रारम्भ में आधे रूप में नहीं आयेंगे। (३) तृतीय प्रकार के अक्षर द्वित्त वर्ण हैं, यथा—'क्क', 'ठ्ठ', 'ग्ग', 'च्च, 'ज्ज' 'न्न' 'घ्घ' 'ट्ट' 'ढ्ढ' 'म्म' 'प्प' 'फ्फ' 'ब्ब' 'र्र' 'ल्ल' 'स्स' तथा 'श्श' (पत्र० १२ पीठ)। इन समस्त वर्णों के लिखने की भी एक विशिष्ट शैली तुहफ़त् के भूमिका भाग में प्रस्तुत है। उदाहरण के लिये मुशद्दद (द्वित्त वर्णों) में से 'क्क' तथा 'न्न' को नस्तालीक़ लिपि के माध्यम से लिखने के लिये निम्न पद्धति अंकित है:—

'क्क'

हलके दो अरबी 'क' ऐसे (अक्षरों की को) कहते हैं (जो इस प्रकार बनती है कि कि दा दाल की दोनों भुजाओं सहित विपरीत दशा में एक दूसरे के ऊपर

नीचे लिखते हैं। (इनको इस प्रकार लिखा जाय) कि ये उपर्युक्त दो 'दाल' शून्य की भाँति एक के ऊपर दूसरा दिखाई दें। (शेष अंश के लिये इस द्वित्त) वर्ण की आकृति ठीक उसी प्रकार है जैसे (यह अक्षर 'क') स्वतन्त्र रूप से एक-एक अक्षर के प्रसंग में पहले वर्णित किया जा चुका है। (अधिक स्पष्टता से समझने के लिये इस द्वित्त वर्ण की) आकृति ऐसी होती है—क्क"[31]

'न्न'

"(इस द्वित्त वर्ण को लिखने की) पद्धति ऐसी है जैसे दो हलके 'न' (जिसका विस्तृत विवरण एक-एक अक्षर के प्रसंग में दिया जा चुका है) को अन्त में एक अलिफ़ के संयोग से (एक दूसरे के) ऊपर नीचे लिखते हैं। (अधिक स्पष्टता के लिये) इसकी आकृति ऐसी है—न्न[32]"

उपर्युक्त परिच्छेदों में मिर्ज़ा खाँ द्वारा सामान्य रूप से 'तुहफतुलहिन्द' और विशेष रूप से 'लुग़तये-हिन्दी' में प्रतिपादित हिन्दी-ध्वनियों का अरबी-फ़ारसी अक्षरों के माध्यम से लिप्यंतरण तथा उच्चारण-व्यवस्था का मूल्यांकन किया गया है। यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि अद्यावधि उपलब्ध समस्त फ़ारसी-हिन्दी कोशों में इस प्रकार की व्यवस्था कहीं उपलब्ध नहीं होती। आंशिक रूप से अक्रमिक वा अनियमित होते हुये भी यह पद्धति पर्याप्त वैज्ञानिक, श्रमसाध्य एवं नितान्त मौलिक है। मिर्ज़ा ख़ां का हिन्दी-ध्वनि-विश्लेषण के क्षेत्र में किया गया प्रयास ऐतिहासिक ही नहीं, वैज्ञानिक महत्व भी रखता है। तुहफ़तुलहिन्द इस अंश का अध्ययन, ध्वनि-विश्लेषण एवं नव्य आर्य भाषाओं के ध्वनि-तत्त्व के अध्ययन में बहुत बड़ा योगदान देगा[33]।



संदर्भ-संकेत

(१) देखिये—'हिन्दी भाषा का प्राचीनतम पूर्ण कोश—लुग़त-ये-हिन्दी' लेख (डॉ० अचलानन्द जखमोला), हिन्दी अनुशीलन, वर्ष १५ : अंक १ (२) देखिये – 'मध्यकालीन हिन्दी भाषा का अनुपम ग्रंथ—तुहफ़तुलहिन्द' लेख (डॉ० अचलानन्द जखमोला), सम्मेलन पत्रिका, भाग ४७ : संख्या ४ (३) रिव्यू का केटालॉग, खण्ड १, पृ० ६२; मआसिरुल उमरा, खण्ड १, पृ० ७९४-८०१; तथा मआसिरी आलमगीरी, पृ० १४२। (४) संख्या हस्तलिखित ए० डी० डी० १६८६८। (५) बोदलियन लाइब्रेरी केटॉलाग, पृ० १०२२ बी०। (६) हस्तलिखित ग्रंथ-संख्या ७८,१८ × १९½ एच० ४२१, ११, १५, पत्र १०६। (७) हस्तलिखित ग्रंथ-संख्या १२६९, ई० २०११, २८०, १३ सी०। (८) 'धनस्यादि फलस्यान्तः कोषः शब्दस्य संग्रहः'—त्रिकाण्ड चिन्तामणि, पृ० ६४ (९) नेलसन्स एनसाइक्लोपीडिया, खण्ड ३, पृ० २०८। ए न्यू इंग्लिश डिक्शनरी ऑन हिस्टारिकल प्रिन्सिपल्स, खण्ड ३, पृ० ३३१। (१०) हेरोल्ड ई० पामर : कन्सॉनैन्ट्स प्रानन्सिएशन, पृ० २-४। (११) वही, पृ० १।

(१२) ख़फ़ीफ़ा = हलका कम थोड़ा अल्पप्राण।

सक़ीला = भारी पुष्ट बोझिल महाप्राण।

मुसक़िलता अधिक भारी क्लिष्ट।

अस्क़ल = सबसे अधिक भारी।

अजमी = फ़ारसी भाषा का, ईरानी।

ताज़ी = अरबी भाषा का।

फ़त्ह:, मफ़्तूह = ज़बर, 'अ' की मात्रा, अकारान्त।

मम्दूद: = 'आ' की मात्रा, आकारान्त।

कस्र, मक्सूर = ज़ेर, इकारान्त, 'इ' की मात्रा।

ज़म्म, मज़मूम = पेश, 'उ' की मात्रा, उकारान्त।

तह्तानी, मुवह्हदा, मो'जम = नुक़्ते वाला फ़ारसी या अरबी अक्षर।

फ़ौक़ानी = वह फ़ारसी अक्षर जिसके ऊपर नुक़्ते हों।

मुहम्ल = वह अक्षर जिस पर बिन्दी न हो।

सुकून, साकिन = अर्द्ध-व्यञ्जन, वह व्यञ्जन जिसमें स्वर न हो।

तश्दीद, मुशद्दद = द्वित्त व्यञ्जन।

13. "......The author appears to have shown his originality in the section on pronunciation and orthography... ..and in dictionary......But in the portion on the sounds of Hindi and their representation by means of Perso-Arabic letters, Mirza Khan shown himself to be careful observer... His observation is careful but his deductions and definition are not strictly scientific......they are popular......These terms *i.e.* Khafifah (lighter), saqilah (heavy), musqilah (rendering itself heavy) and asqal (heaviest) etc. are as wide of the mark as 'hard' or 'soft' or 'strong' or 'weak' in the vague description of the unfamiliar sounds given in English and other European grammar of Arabic. Hindustani and other eastern languages......"

डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी : ए ग्रामर आफ़ ब्रजभाखा, भूमिका, पृ० १०

(१४) डॉ० धीरेन्द्र वर्मा : ब्रजभाषा, पृ० ३९ (१५) डॉ० अम्बा प्रसाद सुमन : ब्रजभाषा-उद्गम और विकास (राजर्षि पुरुषोत्तम अभिनन्दन-ग्रन्थ) पृ० ४३७ (१६) बे अव्वले मक्सूर व नूने मग़नूना व दाले ख़फ़ीफ़ा मवक़ूफ़ व राय मुत्तसिला व फ़त्ह बाय मुवह्हदा ख़फ़ीफ़ा व ज़म्मे दाले सक़ीला व वाव मारूफ़.........। तुहफ़तुलहिन्द (इंडिया आफ़िस लाइब्रेरी प्रति) पत्र १६६ पीठ (१७) "ब क़स्रे अव्वल व सुकूने वाव व याय मशमूमा व बाय अजमीये ख़फ़ीफ़ा मम्दूद: ...।" तुहफ़तुलहिन्द, पत्र २०६ पीठ (१८) ब ज़म्मे अव्वल व कब्ल ब क़स्र: व सुकूने जीमे-ताज़ीये ख़फ़ीफ़ा व राय मम्दूद: ...।" वही, पत्र २४१ मूल (१९) ब ज़म्मे अव्वल व कस्रे-दाले-सक़ीला व सुकूने-सीन-मो' जम: व ताये फ़ौक़ानीये-मुसक़िला.........।" वही, पत्र २४४ मूल (२०) 'ब फ़त्ह: अव्वल व नूनैन नूने अव्वल मफ़्तूह व सानी मुनव्वना ।" वही, पत्र २२४ पीठ (२१) ब कस्रे अव्वल व सुकूने वाव व याय मशमूमा व बाय अजमीये-ख़फ़ीफ़ा मम्दूद:...।" —तुहफ़तुलहिन्द पत्र २०६ पीठ (२२) "मदन ब फ़त्ह: अव्वल व सुकूने दाले-ख़फ़ीफ़ा मफ़्तूह । ——— ब हुरूफ़े हरकाते मज़्कूर: व सीन मुहमल व दाले

खफ़ीफ़ा मफ़्तूह ......। मदनमोहन—ब हुरूफ़े हरकाते मज्कूर: व मीमे मज्मूम: व वाव मज्हूल व हाय मफ़्तूह......।" – वही, पत्र २८० पीठ (२३) तुहफ़तुलहिन्द (इंडिया ऑफ़िस लाइब्रेरी प्रति), पत्र २७२ मूल (२४) वही, पत्र २२१ पीठ (२५ वही, पत्र २२२ मूल (२६) वही, पत्र २४१ मूल (२७) वही, पत्र २५५ मूल (२८) वही, पत्र २६६ मूल (२९) वही, पत्र २८४ मूल (३०) वही, पत्र २७१ पीठ (३१) "दो काफ़े-ताजीये-खफ़ीफ़ा चुनाँ बुवद कि दो दाल खते सुल्स मा' कूस ज़ेरो-बाला मुत्तसिल हम नवीसन्द चुनाँ कि अज़ हर दो दाले मज्कूर दो चश्मये ज़ेरो-बाला हादिस गर्दद शक्ले हर्फ़े हुमाँ बुवद कि साबिक़ दर मुफ़ ़दात ईराद पिज़ी रफ़्त: मो ज्यादत नुकसाने बदीं शक्ल-क" (३२) ब तरकीबे दो नूने खफ़ीफ़ा चुनाँ बुवद कि हर्फ़े मज्कूर रा ब यक अलिफ़े आखिर ज़ेरो-बाला हम मुकर्रर नवीसन्द बदीं शक्ल—न्न" वही, पत्र १३ मूल।

33. 'Mirza's analysis of the sounds is well worth a careful study and it is to be hoped that this portion of his Tuhfat will be made available to the students of phonetics and Indo-Aryan Linguistics.........."

सैन्धव सभ्यता का उद्भव : एक पुनर्विचार

• ओमप्रकाश

हड़प्पा और मोहनजोदड़ो जैसे अनेक ध्वंसावशेषों में आदि से अन्त तक अपने उसी प्रौढ़ और परिपक्व स्वरूप[1] में मिलने के कारण सिन्धु घाटी सभ्यता आज के जिज्ञासुओं को अपने शैशव तथा बाल्यकाल का कोई संकेत नहीं देती। क्या इसका यह तात्पर्य है कि प्रौढ़ और परिपक्व होने के अनन्तर ही इस सभ्यता का पदार्पण भारत-भूमि पर हुआ ?

वैडेल जैसे प्रारम्भिक विचारक इसका यही अभिप्राय समझते थे। उनकी धारणा थी कि सैन्धव सभ्यता वस्तुतः दजला और फरात नदियों की घाटी में पनपने वाली सुमेर सभ्यता का एक औपनिवेशिक विस्तार है।[2] किन्तु सैन्धव सभ्यता को अधिक निकट से जानने वाले मार्शल और व्हीलर जैसे विद्वान् इस धारणा से सहमत न हो सके और दोनों सभ्यताओं के मूलभूत उपादानों की तुलना करने के अनन्तर वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सुमेर और सैन्धव सभ्यता के बीच यदि कोई समानता है तो वह बहुत ही सामान्य कोटि की है।[3] जहाँ तक दोनों सभ्यताओं की व्यक्तित्व-निर्णायक विशिष्टताओं का प्रश्न है, उनमें कोई समानता नहीं देखी जा सकती।[4] सामान्य लक्षणों में एक ओर यदि सुमेर सभ्यता, सैन्धव सभ्यता से मेल खाती है, तो दूसरी ओर अपनी समकालीन मिस्री सभ्यता से भी। और इनके आधार पर यदि कोई सैन्धव सभ्यता को सुमेर सभ्यता का औपनिवेशिक विस्तार मानता है तो उसे मिस्री सभ्यता को भी वही मानना पड़ेगा, जोकि नितान्त अनर्गल है। मेसोपोटामिया की सुमेर सभ्यता ही नहीं, प्राचीन विश्व की किसी अन्य सभ्यता के साथ सैन्धव सभ्यता की एकात्मकता स्थापित करना ही सम्भव नहीं है, पैतृक-सम्बन्ध तो दूर रहा। सैन्धव सभ्यता एक निराली सभ्यता है, जिसका यदि कोई शैशव रहा भी होगा तो वह उसी क्षेत्र में पाया जा सकता है, जो उसका अपना क्रीडास्थल था।

लेकिन क्या ऐसा भी हो सकता है कि जापान की औद्योगिक सभ्यता की भाँति सैन्धव सभ्यता का इस देश में कोई शैशव भी न रहा हो और न किसी प्रौढ़ विदेशी सभ्यता का औपनिवेशिक विस्तार ही ? आज की विद्वद्धारणा वस्तुतः इसी सम्भावना में विश्वास करती है, क्योंकि हाल की खोजों और उत्खननों से प्रकाश भी कुछ इसी ओर पड़ता हुआ प्रतीत होता है

बलूचिस्तान और सिन्ध मे स्टीन[५] और मजुमदार[६] के अन्वेषणो के फलस्वरूप कुछ ऐसी सस्कृतिया प्रकाश मे आयी जिनका सम्पर्क हड़प्पन सस्कृति से था। ये सारी की सारी सस्कृतियाँ ग्रामीण संस्कृतियाँ थीं, जो अपने उत्तर-पाषाणकालीन जीवन को पार कर ताम्र-पाषाणिक युग में प्रवेश कर चुकी थीं। इनमें से कुछ संस्कृतियों का अस्तित्व इस क्षेत्र मे सैन्धव सभ्यता के सम्पर्क से भी प्राचीन है और ऐसी संस्कृतियों में झाब घाटी (उत्तरी बलूचिस्तान) की डाबर कोट, दक्षिणी बलूचिस्तान की कुल्ली तथा सिन्ध की अमरी (जिसका विस्तार दक्षिणी बलूचिस्तान के नाल और नुन्दारा स्थानों तक) आदि का नाम लिया जा सकता है। स्टुअर्ट पिगट ने सिन्ध और बलूचिस्तान की इन संस्कृतियों की तुलना ईरान की कुछ वैसी ही ताम्रपाषाणिक एवं ग्रामीण संस्कृतियों से कर कालक्रम में एक समीकरण स्थापित करने की चेष्टा की और इस बात का संकेत किया कि सैन्धव सम्पर्क के प्रारम्भ के पूर्व ही अस्तित्व में आ जाने वाली अमरी और कुल्ली जैसी संस्कृतियाँ कालक्रम में केन्द्रीय हड़प्पन सभ्यता के प्रादुर्भाव से भी प्राचीन हो सकती है, क्योकि इनकी समानधर्मा ईरानी संस्कृतियाँ स्वतंत्र प्रमाणों के आधार पर सैन्धव सभ्यता की अपेक्षा अधिक प्राचीन सिद्ध हो चुकी हैं।[७] अब चूँकि इन संस्कृतियों की पात्र-परम्परा में चित्रित पीपल की पत्ती तथा मत्स्यालंकरण आदि कुछ अभिप्राय सैन्धव सभ्यता की पात्र-परम्परा पर भी दृष्टिगोचर होते हैं इसलिये यह मान लिया जाता है कि सैन्धव सभ्यता के उद्गम में बलूचिस्तान और सिन्ध की इन ग्रामीण ताम्रपाषाणिक संस्कृतियों का भी थोड़ा बहुत हाथ रहा होगा।

सिन्ध क्षेत्र में कोट डिजी की संस्कृति ही एक ऐसी प्राक् हड़प्पन संस्कृति है जिससे एक नागरिक चेतना का आभास होता है, क्योंकि इस स्थान पर पाये गये सांस्कृतिक जमाव की ऊपरी चार पर्तों के नीचे, जो कि हड़प्पन और मिश्रित हड़प्पन हैं, कोट डिजी की मौलिक संस्कृति के साथ एक प्राकार-वेष्ठित गाँव के दर्शन होते हैं। ये प्राकार इस स्थान के मकानों की भाँति पत्थर की नींव पर टिकी हुई कच्ची ईंटों की एक स्थूल दीवार द्वारा बनाये गये हैं। कोट डिजी की इस प्राक् हड़प्पन मौलिक संस्कृति के अन्य उपादानों में चर्ट या फ्लिण्ट नामक पत्थर से बने हुए ब्लेड, पकी हुई मिट्टी की तिकोनी टिकियाँ तथा एक ऐसी पात्र-परम्परा का नाम लिया जा सकता है, जो चाक पर बनायी गयी और बारीक है, जो लाल या गुलाबी रंग की है तथा जिस पर अमरी की भाँति काले रंग से तरह-तरह के रैखिक अभिप्राय एवं अलंकरण एक लेप-रहित धरातल पर बनाये गये है। स्केल अलंकरण एक ऐसा अभिप्राय है जो एक ओर तो कोट डिजी की पात्र-परम्परा पर मिलता है और दूसरी ओर हड़प्पा की।[८] यद्यपि कोट डिजी के स्तर-क्रम से यह बात तो स्पष्ट ही है कि कोट डिजी की हड़प्पन संस्कृति की अपेक्षा यहाँ की स्थानीय संस्कृति कहीं अधिक प्राचीन है (क्योंकि तीन हड़प्पन स्तरों के नीचे पाये जाने वाले मिश्रित स्तर के भी नीचे केवल कोट डिजी की मौलिक संस्कृति के कुल १२ स्तर पाये जाते हैं) लेकिन फिर भी यह ज्ञात नहीं कि मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की सैन्धव सभ्यता की अपेक्षा कोट डिजी की स्थानीय संस्कृति प्राचीन है या नहीं क्योंकि यह आवश्यक नहीं कि जिस हड़प्पन सभ्यता के संसर्ग में कोट डिजियन सस्कृति आयी वह हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की प्रारम्भिक सस्कृति ही रही हो

बलूचिस्तान और सिन्ध की विभिन्न ताम्रपाषाणिक ग्रामीण संस्कृतियों की भाँति तिथि निर्णय के दृष्टिकोण से कोट डिजियन संस्कृति की तुलना भी ईरानी संस्कृति से नहीं की गयी है। विद्वान् इस ओर ध्यान भी देते लेकिन रेडियो-कार्बन तिथियों के आ जाने से अब इसकी आवश्यकता भी नहीं रह गयी है। अभी तक कोट डिजी के विभिन्न स्तरों से विभिन्न तिथियाँ प्राप्त हुई हैं, जो इस प्रकार हैं :—

१. स्तर (१४) से : जो नीचे से तीसरा और विशुद्ध कोट डिजियन संस्कृति का स्तर है, स्तरों की कुल संख्या १६ है :—

२६०५±१४५ ई० पू०

या

२४७१±१४१ ई० पू०

२. स्तर (४ए) से : जिसमें हड़प्पन और कोट डिजियन संस्कृतियों का सम्मिश्रण है और जो ऊपर से तीन हड़प्पन पर्तों के नीचे है :—

२१००±१३८ ई० पू०

३. स्तर (५) से : जो विशुद्ध कोटि डिजियन संस्कृति का अन्तिम स्तर है :—

२२५०/२१३३ ई० पू०

और

२३३०/२२११ ई० पू०[१]

इन रेडियो-कार्बन तिथियों के पर्यालोचन से स्पष्ट हो जाता है कि कोट डिजी पर हड़प्पन सभ्यता का आगमन २१०० ई० पू० के आस-पास हुआ, जब कि हड़प्पन सभ्यता कम-से-कम ४०० वर्ष पुरानी हो चुकी रही होगी, क्योंकि हड़प्पन सभ्यता की प्रारम्भिक और प्राय: सर्वमान्य तिथि २५०० ई० पू० समझी जाती है। जहाँ तक कोट डिजी की मौलिक संस्कृति की प्राचीनता का प्रश्न है, वह २६०० ई० पू० से भी पहले रखी जा सकती है, क्योंकि १४वें स्तर के नीचे भी इस संस्कृति के दो स्तर हैं। इस प्रकार कोट डिजियन संस्कृति का प्रादुर्भाव हड़प्पन सभ्यता के अस्तित्व में आने के कम-से-कम १०० वर्ष पूर्व हो चुका था, लेकिन प्रस्तुत साक्ष्य के अनुसार दोनों संस्कृतियाँ शायद २१०० ई० पू० के पहले एक दूसरे के अस्तित्व से भी अवगत नहीं थीं और यदि थीं भी तो एक दूसरे के सम्पर्क मे नहीं आयी थीं। अत: इन सारी समानताओं के बावजूद कोट डिजियन संस्कृति का हड़प्पन सभ्यता के निर्माण में कोई सीधा योगदान रहा हो, ऐसा नहीं लगता। यही बात बलूचिस्तान और सिन्ध की ताम्रपाषाणिक ग्रामीण संस्कृतियों के लिये भी कही जा सकती है, क्योंकि ईरानी संस्कृतियों के समीकरण के आधार पर इन संस्कृतियों की अपनी प्राचीनता ही स्थापित की गई है, इनके साथ हड़प्पन सम्पर्क की प्राचीनता नहीं।

उत्तरी राजस्थान में सरस्वती और दृशद्वती नदियों के सूखे हुये पाटों का पुरातात्विक अन्वेषण करते हुये अमलानन्द घोष ने १९५० से १९५३ के बीच लगभग ३६ हड़प्पन टीले खोज निकाले, जिनमें से २५ टीले तो पुरानी बीकानेर रियासत में पड़ते हैं और ११ भावल

पुर में।[१०] उत्तरी राजस्थान के इन क्षेत्रों के सर्वेक्षण में उन्हें तीन प्रकार की पात्र-परम्पराओं के दर्शन हुये, जिनका वितरण सभी क्षेत्रों में लगभग समान था। एक पात्र-परम्परा तो बिल्कुल हड़प्पन थी और दूसरी काले अलंकरणों से युक्त एक ऐसी धूसर पात्र-परम्परा थी, जो गंगा-घाटी में उन सभी स्थानों में पायी जाती है, जिनका महाभारत की कथा से थोड़ा-बहुत भी सम्बन्ध था। किन्तु तीसरी पात्र-परम्परा इन दोनों से निराली थी और भारतीय पुरातत्व की किसी भी ज्ञात-परम्परा से मेल नहीं खाती थी। अतः घोष ने उसको वहाँ की स्थानीय परम्परा मान कर उसका नामकरण सोथी पात्र-परम्परा कर दिया, क्योंकि उन्हें सोथी नामक स्थान पर ही इस नवीन परम्परा के अस्तित्व का पहले-पहल बोध हुआ था। उस समय उनकी धारणा थी कि सोथी-परम्परा की स्थिति स्तर-क्रम में हड़प्पन और चित्रित धूसर परम्परा के बीच की होगी, क्योंकि हड़प्पन परम्परा कभी भी चित्रित धूसर परम्परा के सम्पर्क में आयी हो, इस बात के कोई प्रमाण नहीं मिलते।[११] लेकिन इस क्षेत्र के कालीबंगन नामक टीले के उत्खनन से घोष की उक्त धारणा निर्मूल सिद्ध हो चुकी है, क्योंकि सोथी परम्परा इस स्थान पर हड़प्पन परम्परा से भी नीचे के स्तरों से प्राप्त होती है। सोथी परम्परा इस प्रकार कालीबंगन की हड़प्पन परम्परा से भी प्राचीन है।

कालीबंगन की प्राचीन बस्ती के अवशेष उत्तरी राजस्थान के गंगानगर जिले से घग्घर नदी के सूखे हुये पाट में छोटे-बड़े दो टीलों के रूप में प्राप्त होते हैं। छोटा टीला, बड़े टीले के पश्चिम में है और इसी टीले के निचले भाग में सोथी संस्कृति के दर्शन होते हैं। कालीबंगन की सोथी संस्कृति एक ऐसी ताम्रपाषाणिक संस्कृति है, जिसमें मकान कच्ची ईंटों से बनाये जाते थे, क्योंकि पकी ईंटों का ज्ञान ही नहीं था। नागरिक चेतना का इस संस्कृति में अभाव है तथा पात्र-परम्परा चाक पर बने हुये फीके लाल रंग के हल्के और पतले बर्तनों से युक्त है। इन बर्तनों के लेप-रहित धरातल पर रैखिक अभिप्रायों का चित्रण है, जिनमें समानान्तर रेखायें, जालीदार त्रिभुज, तितलीनुमा डिजाइनें मुख्य हैं। कालीबंगन की इस प्राक्-हड़प्पन संस्कृति का कुल जमाव ८५ सेण्टीमीटर है, जिसमें कुल तीन निर्माण कालों का समावेश है। इसके ऊपर की सोथी संस्कृति, हड़प्पन सभ्यता और पात्र-परम्परा के साथ सम्मिश्रित हो गयी है।[१२] कालीबंगन में हड़प्पन सभ्यता के आगमन के साथ-साथ एक नागरिक क्रान्ति के दर्शन होते हैं। मकान कच्ची ईंटों के ऊँचे-ऊँचे चबूतरों पर नगर-योजना के अनुरूप पक्की ईंटों से बनने लगते हैं तथा बस्ती कच्ची ईंटों से बनाये गये एक आयत प्राकार से घेर दी जाती है। किन्तु इस नागरिक क्रान्ति के ज्वार में सोथी संस्कृति तिरोहित नहीं हो जाती। वह हड़प्पन सभ्यता के साथ-साथ बस्ती के अन्त तक चलती रहती है।[१३]

सोथी पात्र-परम्परा पर मिलने वाले समानान्तर रेखा-समुदाय, जालीदार त्रिभुज तथा तितलीनुमा अलंकरण आदि कुछ चित्रण अभिप्राय एक ओर यदि बलूचिस्तान की झाब तथा सिन्ध की आमरी-संस्कृतियों की पात्र-परम्परा के अभिप्रायों से मेल खाते हैं, तो दूसरी ओर हड़प्पा के प्राकार मूल के नीचे से प्राप्त कुछ इतर हड़प्पन पात्र-खण्डों से।[१४] इन समानताओं के कारण कालीबंगन की प्राक-हड़प्पन संस्कृति का प्रारंभ तो हड़प्पन सभ्यता के आविर्भाव के पहले माना भी जा सकता है, लेकिन प्राप्त रेडियो-कार्बन तिथियों के अनुसार

कालीबंगन पर हड़प्पन सम्पर्क के प्रथम आगमन का काल किसी भी प्रकार २२०० या २३०० ई० पू० के पहले नहीं रखा जा सकता, जब कि हड़प्पन सभ्यता को जन्म लिए २०० या ३०० वर्ष हो चुके रहे होंगे। कालीबंगन से अब तक प्राप्त हुई रेडियो-कार्बन तिथियाँ इस प्रकार हैं :—

१. परवर्ती हड़प्पन तल से :—	१६१०±१०५ ई० पू० या १७६०±१०० ई० पू०
२. मध्यवर्ती हड़प्पन तल से :—	१६६०±१०५ ई० पू० या १३५०±१०० ई० पू०
३. निम्न मध्यवर्ती हड़प्पन तल से :—	२०३०±१०५ ई० पू० या १६१५±१०० ई० पू० तथा २०६०±१०५ ई० पू०[१५]

कालीबंगन की ही भाँति सौराष्ट्र और काठियावाड़ के क्षेत्र से लोथल नामक स्थान पर हड़प्पन सभ्यता के एक दुर्गीकृत नगर के अवशेष प्राप्त हुये हैं।[१६] यद्यपि लोथल में कालीबंगन की भाँति कोई प्राक्-हड़प्पन संस्कृति हड़प्पन नागरिक-क्रान्ति के स्तर के नीचे नहीं मिल पायी, लेकिन फिर भी इस स्थान से हड़प्पन पात्र-परम्परा के साथ प्रारम्भ से ही अभ्रकी लाल (micacious red) और कृष्ण-लोहित (black and red) पात्र-परम्परायें भी पायी जाती हैं, जिससे लगता है कि हड़प्पन नागरिक-क्रान्ति के वहाँ पहुँचने के पूर्व लोथल या सौराष्ट्र का यह प्रदेश एक निर्जन प्रदेश नहीं था, अभ्रकी लाल और कृष्ण-लोहित परम्पराओं वाली संस्कृति या संस्कृतियाँ यहाँ पहले से वर्तमान थीं।[१७] ऐसा लगता है कि लोथल में हड़प्पन सम्पर्क स्थापित होते ही नागरिक-क्रान्ति नहीं हुई, क्योंकि यहाँ पानी की सतह से नीचे विभिन्न पात्र-परम्पराओं से युक्त संस्कृतियों का एक १० फीट मोटा जमाव है, जिसमें अभ्रकी-लाल परम्परा ही बहुतायत में दृष्टिगोचर होती है, हड़प्पन और कृष्ण-लोहित परम्पराओं के ठीकरे संख्या में बहुत कम और यत्र-तत्र बिखरे हुये हैं। अतः अभ्रकी लाल परम्परा को यहाँ की प्राक्-हड़प्पन संस्कृति मानना अनर्गल न होगा, यद्यपि अभी तक इस अभ्रकी लाल परंपरा का कोई प्राक्-हड़प्पन स्तर मिल नहीं पाया है। लोथल की ही तरह प्रभास की प्रथम और प्रारम्भिक संस्कृति का प्रतिनिधित्व हड़प्पन पात्र-परम्परा से न होकर यहाँ की एक स्थानीय चित्रण रहित धूसर परम्परा से होता है, जिसके साथ चाल्सीडनी पत्थर के ब्लेड भी मिलते हैं। इसी प्रकार देसालपुर में हड़प्पन संस्कृति के साथ प्रारम्भ से ही पतली धूसर, दुधिया लेप वाला तथा लाल पात्र-परम्परायें सम्बन्धित हैं, जो यहाँ की स्थानीय संस्कृतियाँ रही होंगी [१८]

यद्यपि सौराष्ट्र और काठियावाड़ की इन संस्कृतियों की तुलना कालीबंगन, अमरी, कोट डिजी, तथा बलूचिस्तान की प्राक्-हड़प्पन संस्कृतियों के साथ समानता दर्शाने के लिये नहीं की जा सकती (क्योंकि समानतायें हैं ही नहीं) फिर भी इनकी प्राचीनता में संदेह नहीं किया जा सकता। यह बात दूसरी है कि हम इनकी प्राचीनता का काल निर्धारण न कर सकें। उपलब्ध रेडियो कार्बन तिथियों के आधार पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सौराष्ट्र और काठियावाड़ की ये हड़प्पन संस्कृतियाँ २१०० या २२०० ई० पू० के पहले हड़प्पन सभ्यता के सम्पर्क में नहीं आयीं। लोथल मे हड़प्पन सम्पर्क के प्रथम आगमन की तिथि अपवाद स्वरूप २३०० या २४०० ई० पू० तक पहुँचाई जा सकती है, क्योंकि जिस स्तर से रेडियो कार्बन तिथियाँ प्राप्त हुई हैं उसके नीचे भी हड़प्पन संस्कृति का कुछ जमाव है। लेकिन तिस पर भी लोथल में पहुँचने के पूर्व हड़प्पन संस्कृति कम-से-कम १०० या २०० वर्ष पुरानी हो चुकी थी। लोथल से प्राप्त रेडियो कार्बन तिथियों की तालिका निम्नलिखित है :—

लोथल ए फ़ेज़ III बी २०००—२०१०±११५ ई० पू०

या

१८८०—१८९५±१२० ई० पू०

फ़ेज़ IV ए १८९५±११५ ई० पू०

या

१७९०±११० ई० पू०

लोथल बी फ़ेज़ V ए १८००±१४० ई० पू०

या

१७००±१३५ ई० पू०

१८६५±११० ई० पू०

या

१७५५±११० ई० पू०[११]

प्राक्-हड़प्पन संस्कृतियों के इस विस्तृत सर्वेक्षण से एक बात जो अपने आप उभर कर सामने आती है वह यह है कि सौराष्ट्र और काठियावाड़ की संस्कृति को छोड़कर लगभग सभी प्राक्-हड़प्पन संस्कृतियों का उद्भव हड़प्पन सभ्यता के उद्भव से प्राचीन था अत: हड़प्पन सभ्यता के उद्भव के समय यदि हड़प्पन सभ्यता के निर्माता इन संस्कृतियों के संपर्क में आये होंगे तो अवश्य ही इन संस्कृतियों का हड़प्पन सभ्यता के निर्माण में योगदान रहा होगा। लेकिन इन संस्कृतियों के साथ हड़प्पन सम्पर्क के जो भी साक्ष्य हमें अभी तक उपलब्ध हो सके हैं उनकी प्राचीनता किसी भी हालत में २१०० या २२०० ई० पू० से पहले नहीं जा पाती, जब कि हड़प्पन सभ्यता को जन्म लिये लगभग ४०० या ३०० वर्ष हो चुके थे। लोथल हड़प्पन संपर्क की प्राचीनता २४०० ई० पू० तक पहुँच जाती है लेकिन इससे भी हड़प्पन सभ्यता के उद्भव के समय लोथल की प्राक्-हड़प्पन संस्कृति के साथ संबन्ध की बात पुष्ट नहीं हो पाती, क्योंकि २४०० ई० पू० में हड़प्पन सभ्यता कम-से-कम एक शताब्दी पुरानी हो चुकी थी। अत इन संपर्कों के आधार पर हड़प्पन सभ्यता के उद्भव में इन

संस्कृतियों के किसी भी प्रकार के योगदान का निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता, उल्टे हड़प्पन सपर्क के फलस्वरूप इनमें से कालीबंगन और लोथल जैसी कुछ प्राक्-हड़प्पन संस्कृतियों में ताम्रपाषाणिक नागरिक क्रान्ति का सूत्रपात होता है। हड़प्पन सभ्यता के उद्भव में पहले से वर्तमान इन प्राक्-हड़प्पन संस्कृतियों ने क्या भूमिका अदा की, की भी या नहीं, इस बात का निर्णय करने के लिये हमें इन प्राक्-हड़प्पन संस्कृतियों का संपर्क हड़प्पा और मोहन-जोदड़ो जैसे सभ्यता के जन्म-स्थानों में ढूँढ़ना चाहिये।

इस महत्त्वपूर्ण सम्पर्क का अभी तक केवल एक धुँधला चिह्न ही प्राप्त हो पाया है और वह है हड़प्पा के प्राकार-मूल के नीचे के २६वें स्तर से प्राप्त इतर-हड़प्पन पात्र-परम्परा के कुछ ठीकरे, जो ह्वीलर को १९४६ के हड़प्पा उत्खनन से प्राप्त हुये थे।[२०] ये ठीकरे एक धूम्रायित लाल पात्र-परम्परा के अवशेष थे जिन पर काले रंग से आड़े और बेंड़े समानान्तर रेखा समूह पात्रों के स्कन्ध भाग पर चित्रण अभिप्रायों के रूप में मिलते हैं। अपने स्वरूप और अलंकरण मे यह पात्र-परम्परा अमरी, उत्तरी बलूचिस्तान, कोट डिजी तथा कालीबंगन की प्राक् हड़प्पन संस्कृतियों की पात्र-परम्परा के समान है।[२१] इस समानता के आधार पर अमरी, उत्तरी बलूचिस्तान, कोट डिजी तथा कालीबंगन की इन प्राक्-हड़प्पन संस्कृतियो को हड़प्पन सभ्यता का प्रारूप माना जा सकता था, यदि यह नवीन पात्र-परम्परा हड़प्पन सभ्यता के प्रारंभिक स्वरूप का एक आवश्यक अंग सिद्ध हो पाती। किन्तु ह्वीलर महोदय इस पात्र-परम्परा को हड़प्पन सभ्यता के उद्भव के पूर्व तो रखते हैं लेकिन हड़प्पन सभ्यता से इसका कोई संबध मानने को तैयार नहीं हैं। उनकी धारणा है कि हड़प्पन संस्कृति के निर्माताओं के हड़प्पा पहुँचने के पहले वहाँ इस नवीन पात्र-परम्परा के अस्तित्व द्वारा सूचित संस्कृति के लोग रहते थे। लेकिन दोनों में शायद कोई संपर्क नहीं स्थापित हो सका, क्योंकि प्राकार-वेष्ठित नगर के अन्तवर्ती चबूतरे की नींव और २६वें स्तर के बीच २६ ए नामक स्तर एक ऐसा व्यवधान है जिसमें इस नवीन पात्र-परम्परा के कोई अवशेष नहीं मिलते।[२२]

किन्तु ह्वीलर की उक्त धारणा इस मान्यता पर टिकी हुई है कि हड़प्पा के टीले 'ए बी' के चतुर्दिक बने हुये प्राकार का उद्भव हड़प्पन सभ्यता के आविर्भाव के साथ-ही-साथ हुआ। इसके पहले न तो हड़प्पन सभ्यता ही अस्तित्व में आयी थी और न उसके निर्माता ही हड़प्पा पहुँचे थे। लेकिन ह्वीलर महोदय के इस विश्वास का खण्डन उनके ही द्वारा पुनर्गठित हड़प्पन प्राकारों के इतिहास से होता है। हड़प्पा के प्राकारों का इतिहास बताते हुये वे कहते है कि हड़प्पन प्राकारों के इतिहास को तीन कालों में बाँटा जा सकता है। पहले काल में हड़प्पन नवागन्तुकों ने रावी की वार्षिक बाढ़ों से असुरक्षा का अनुभव करके टीला 'एबी' के भूखण्ड पर एक दुर्ग बनाने की सोची। उन्होंने इसके चर्तुदिक ४५ फीट चौड़ी कच्ची ईंटों की एक दीवार बनायी तथा बाहर-बाहर उसे पक्की ईंटों के टुकड़ों की ४ फीट चौड़ी पक्की दीवार मे ढंक दिया जिससे कि पानी के थपेड़ों से प्राकार की कच्ची ईंटें गल कर बह न जाँय। दूसरे काल में प्राकार को बाहर से ढकने वाली पक्की दीवार का पुनर्निर्माण हुआ और ईंट के टुकड़ो के स्थान पर नयी और समूची ईंटें लगायी गयीं। तीसरे काल में पश्चिम और उत्तर के कोने में एक वप्र का निर्माण किया गया जिससे प्राकार और दृढ़ हो जाय[२३] हम जानते हैं कि

पक्की ईंटो के बनाने की कला का श्रेय हड़प्पन लोगो को ही है। उनके पूर्व इस क्षेत्र की किसी भी संस्कृति के लोग पक्की ईंटें बनाना नहीं जानते थे अतः प्राकार निर्माण का युग ही यदि सैन्धव सभ्यता के उद्भव का युग है तो प्राकार के बाहर-बाहर पक्की ईंटों की दीवार द्वारा प्राकार को ढँकने के लिये समूची और नयी ईंटों के स्थान पर ईंट के टुकड़ों का प्रयोग क्यो किया गया और वे उन्हें कहाँ से प्राप्त हुये।[२४]

प्राकार को ढंकने वाली पक्की दीवार का प्रारम्भ में ही ईंट के टुकड़ों से बनना इस बात की सूचना देता है कि हड़प्पा में पक्की ईंटों के मकान प्राकार निर्माण के काफी पहले से वहाँ विद्यमान थे और दीवार में लगने वाले ईंट के टुकड़े उन्ही के खँडहरों से लाये गये होंगे। ये पूर्ववर्ती मकान और इमारतें हड़प्पन लोगों की ही बस्तियों के खँडहर रहे होंगे क्योंकि हड़प्पन लोगों के अतिरिक्त इस क्षेत्र में उस समय या उससे पहले और कोई पक्की ईंटें बनाना नहीं जानते थे। लगता है कि हड़प्पन लोगों की इन पुरानी बस्तियों को रावी की बाढ़ों ने ध्वस्त कर दिया और उनसे बचने के लिये ही हड़प्पा के लोगों ने एक प्राकार वेष्ठित दुर्ग के निर्माण की योजना बनायी।[२५]

यदि यह सत्य है तो हड़प्पा की नागरिक सभ्यता का अविर्भाव हड़प्पा के प्राकारो के साथ नहीं हुआ और प्राकार बनने के पूर्व भी सिन्धु सभ्यता और उसके निर्माता हड़प्पा मे विद्यमान थे तथा कम-से-कम एक निर्माण-काल का समय बिता चुके थे। उनकी बस्तियाँ टीला 'एबी' के बाहर 'एफ' आदि अन्य टीलों के नीचे अब भी दबी होंगी, जिनका आंशिक उत्खनन ह्वीलर के पूर्व माधो स्वरूप वत्स और दयाराम साहनी आदि पुरातत्ववेत्ताओं ने करवाया था। अब प्रश्न यह उठता है कि रैखिक अलंकरणों से युक्त उस धूम्रायित लाल पात्र-परम्परा का कालक्रम मे प्राकार के पूर्व की इन हड़प्पन बस्तियों में दबी हुई सभ्यता से क्या सम्बन्ध था।

यह सत्य है कि ह्वीलर ने अपने पूर्व होने वाले उत्खनन कार्यों की अवैज्ञानिक होने के कारण अवहेलना की और उन्होंने हड़प्पन प्राकारों के नीचे से प्राप्त होने वाली इस नयी पात्र-परम्परा की तुलना हड़प्पा से ही पहले के उत्खननो में प्राप्त पात्र-परम्पराओं से नहीं की। यदि हड़प्पा के उत्खनन से बहुत निकट से सम्बन्धित केदारनाथ शास्त्री की बातों में विश्वास किया जाय तो 'फीके रंग के जो थोड़े से असाधारण ठीकरे डॉ० ह्वीलर को तह नं० २६ मे मिले वैसे ही कुम्भ खण्ड पहली खुदाइयों में लाल कुम्भ कला के ठीकरों से मिश्रित बहुत पाये गये थे।''[२६] ऐसी परिस्थिति में टीला 'एबी' के बाहर के टीलों की प्राचीन खुदाइयो के आसपास उत्खनन करवा कर इस कथन की जाँच की जानी चाहिये और यह बात सत्य निकलती है तो गहरी खुदाई करवा कर यह देखना चाहिये कि कहाँ तक यह नवीन पात्र-परम्परा हड़प्पा की लाल कुम्भ कला का साथ देती है। कोई प्राक्-हड़प्पन स्तर है या नही। यदि कोई प्राक्-हड़प्पन स्तर नहीं भी मिल पाता और प्रारम्भ से ही यह परम्परा हड़प्पन परम्परा के साथ उसी प्रकार जुड़ी हुई है जिस प्रकार कि लोथल में अभ्रकी लाल और कृष्ण-लोहित परम्परायें, तो भी अभिप्राय स्पष्ट है। संभव है कि जिस प्रकार कालीबंगन में प्रौढ़ हड़प्पन सभ्यता के आगमन के बाद प्राक्-हड़प्पन और हड़प्पन सभ्यतायें काफी दिनों तक

साथ-साथ चलती रहीं और फिर कालान्तर में प्राक्-हड़प्पन परम्परा का अस्तित्व हड़प्पन सभ्यता में विलीन हो जाता है, उसी प्रकार हड़प्पा में भी साथ-साथ या एक दूसरे के बाद आविर्भूत होने वाली धूम्रायित लाल और लाल परम्परायें कुछ दिनों तक साथ-साथ चली हों, किन्तु टीला 'एबी' पर प्राकार बनने के पूर्व ही लाल कुम्भ कला ने धूम्रायित लाल परम्परा को अपने में पचा लिया हो और इसी कारण हड़प्पा की और इन प्राक्-हड़प्पन संस्कृतियो की पात्र-परम्पराओं में हमें इतनी समानतायें मिलती हों। तब भी एक बात तो स्पष्ट ही है कि हड़प्पा की सैन्धव सभ्यता के उद्भव के लिए कम-से-कम दो सांस्कृतिक तत्वों का सगम उत्तरदायी था, एक तो वह जिसका प्रतिनिधित्व प्राक्-हड़प्पन संस्कृतियाँ करती हैं तथा जो उत्तरी बलूचिस्तान, सिन्ध तथा राजस्थान के क्षेत्र में हड़प्पन सभ्यता के जन्म के पूर्व ही विस्तृत था तथा दूसरा वह, जिसका प्रतिनिधित्व हड़प्पन सभ्यता की लाल कुम्भ कला करती है। इस दूसरे तत्व का प्राक्-हड़प्पन संस्कृतियों के समकालीन वितरण केवल हड़प्पा और मोहनजोदड़ो तक ही सीमित था, ऐसा लगता है, यद्यपि मोहनजोदड़ो के बारे में अधिकारपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। यह दूसरा तत्व प्राक् हड़प्पन तत्व का परिष्कृत स्वरूप भी हो सकता है और हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ो की स्थानीय संस्कृति भी। इसके नवागन्तुक विदेशी तत्व होने की सम्भावना नहीं है, क्योंकि इस तत्व का वितरण प्राक्-हड़प्पन संस्कृतियों की समकालीनता में मोहनजोदड़ो और हड़प्पा को छोड़कर कहीं नहीं मिलता।

इस संभावना पर विचार किये बिना कि हड़प्पा की सैन्धव सभ्यता का उद्भव टीला 'एबी' के प्राकार के पूर्व भी हो सकता है, अब तक सभी विद्वानों का यह अडिग विश्वास रहा है कि अपने प्रथम उन्मेष से ही हड़प्पा की सैन्धव सभ्यता एक प्राकार वेष्ठित दुर्ग एव सुनियोजित नगर-योजना से युक्त रही है। जातीय संक्रमण एवं विदेशी उपनिवेश के सिद्धान्तो के प्रमाण पुष्ट न होने के कारण लोग अब तक यह मानते चले आये है कि हड़प्पन सभ्यता का प्रथम उन्मेष में ही इतना अधिक विकसित नागरिक स्वरूप शायद किसी वैचारिक क्रान्ति का परिणाम था।[२७] यह वैचारिक प्रेरणा तत्कालीन सामाजिक और आर्थिक वातावरण में उड़कर सुमेरियन सभ्यता के नगर-राज्यों से आयी होगी और इस अमूर्त कल्पना को सैन्धव सभ्यता का जीता जागता बाना पहनाने का श्रेय ह्वीलर के अनुसार यदि सिन्ध और बलूचिस्तान की ताम्रपाषाणिक बस्तियों में रहने वाले किसी ऐसे चतुर और साहसी जन-समुदाय को दिया जा सकता है जो सिन्धु सरिता के ध्वंसात्मक ताण्डव पर नियंत्रण करने का मंत्र और संकल्प लेकर उसकी घाटी में उतरा,[२८] तो घोष के अनुसार सिन्धु सरिता की ही घाटी में निवास करने वाले कुछ ऐसे मेधावी लोगों को, जो शायद अपने राजाओं के नेतृत्व में अपनी पैतृक संस्कृति में आमूल परिवर्तन और विकास करने को तुले हुये थे। उन्होंने नगर की कल्पना समकालीन सुमेरियन सभ्यता से प्राप्त की और शायद उन्हें मात कर देने के उद्देश्य से हड़प्पा और मोहनजोदड़ो जैसे सुनियोजित नगरों की नींव डाली।[२९]

लेकिन प्राकारवेष्ठित दुर्ग को हड़प्पा की सैन्धव सभ्यता के लम्बे इतिहास की एक अवस्था मानने पर इस प्रकार उड़कर आने वाली वैचारिक क्रांति को मानने की कोई नहीं रह जाती विकास रेखा स्पष्ट हो जाती है—प्राक-हड़प्पन संस्कृतियों के

परिष्कृत स्वरूप या हड़प्पन और मोहनजोदड़ो की स्थानीय संस्कृति कुछ काल तक प्राक्-हड़प्पन संस्कृतियों के साथ जीवनयापन करते हुये धीरे-धीरे प्राकाररहित नगर योजना और पक्के मकानों के निर्माण का विकास करती है, तत्पश्चात् बाढ़ के आघात से जब लोगों को अपने सामूहिक अस्तित्व की सुरक्षा की आवश्यकता का अनुभव होता है तो वे प्राकार वेष्ठित दुर्ग की कल्पना करके उसे एक मूर्त रूप देने का प्रयास करते हैं। प्राकार को ढंकने वाली पक्की दीवार के समूची ईंटों के स्थान पर ईंट के टुकड़ों से बनी होने के कारण लगता है कि यह समस्त कार्य अगले वर्ष की बाढ़ आने के पूर्व ही समाप्त कर लेने के उद्देश्य से बहुत जल्दी जल्दी किया गया और लोगों को नयी ईंटें बनाने का मौका नहीं मिला। प्राकार वेष्ठित दुर्ग के निर्माण को हाथ में लेने के पूर्व जो बाढ़ आयी होगी वह बहुत ही ध्वंसात्मक रही होगी और उसमे सभी बाहरी आवास डूबकर गिर गये होंगे और इन ध्वस्त इमारतों की पुरानी ईंटों और उनके टूटे हुये खण्डों का ही उपयोग प्राकार को बाहर से ढकने वाली पक्की दीवार के निर्माण मे किया गया होगा।

किन्तु अभी तक जो कुछ कहा गया वह नवीन परिस्थितियों को देखते हुये सैन्धव सभ्यता के उद्भव का एक तर्कपूर्ण सम्भावनायुक्त समाधान है। हड़प्पन सभ्यता की जड़ें तो हमने दूर दूर खोज लीं अब इस खोज के फलस्वरूप जो नया प्रकाश पड़ता है, जो नयी परिस्थितियाँ सामने आती हैं उनको दृष्टि में रखकर हड़प्पा और मोहनजोदड़ों में ही अब हमें पुनः सैन्धव सभ्यता के उद्भव की खोज करनी चाहिये और उक्त संभावनाओं की यथार्थता की परीक्षा करनी चाहिये।

संदर्भ-संकेत

(१) पिगट, प्री हिस्टारिक इंडिया, पृ० २०१ (२) केदारनाथ शास्त्री, सिन्धु सभ्यता का आदि केन्द्र हड़प्पा, पृ० २६ में उद्धृत चाइल्ड, द आर्यन्स, पृ० ३२ मार्शल, मोहनजोदड़ो एण्ड इण्डस सिविलीजेशन, पृ० १०७ (३) मार्शल, वही, पृ० १०२ (४) ह्वीलर, द इण्डस सिविलीजेशन, पृ० १७ (५) मेम्बायर्स आफ़ द आर्क्योलोजिकल सर्वे आफ़ इण्डिया नं० ३७, पृ० ५५-६४, नं० ४३ (६) वही, नं० ४८ (७) पिगट, एंशियण्ट इण्डिया नं० १, पृ० ८-२६ (८) एफ, ए, खाँ, 'प्रिलिमिनरी रिपोर्ट ऑन कोट डिजी एक्सकवेशन १९५७-५८, इलस्ट्रेटेड लण्डन न्यूज़ १९५८ ह्वीलर, डान आफ़ सिविलीजेशन, पृ० २४८ (९) ह्वीलर, सिविलीजेशन आफ़ द इण्डस वैली ऐण्ड बियॉण्ड, पृ० ६८ (१०) घोष, द राजपूताना डिजर्ट-इट्स आर्क्यो-लोजिकल आस्पेक्ट' बुलेटिन आफ़ नेशनल इन्स्टीट्यूट आफ़ साइन्सेज आफ़ इण्डिया १९५३, नं० १, पृ० ३७-४२ (११) इण्डियन प्रीहिस्ट्री—१९६४, पृ० ११५ (१२) इण्डियन आर्क्योलोजी ए रिव्यू १९६०-६१, पृ० ३१ १९६१-६२ पृ० ३९-४४ (१३) बी० बी० लाल, 'ए न्यू इण्डस वैली प्राविंशियल कैपिटल डिस्कवर्ड : एक्स्कवेशन्स ऐट कालीबंगन इन नार्दर्न इलस्ट्रेटेड लण्डन न्यूज २४ मार्च १९६२ पृ० ४५४ ४५७ सकालिया बस्ती के

किनारे-किनारे बनायी गयी दीवार को दुर्गीकरण का प्रयास न मान कर बाढ़ रोकने का एक उपाय मानते हैं। देखिये उनका प्रीहिस्ट्री ऐण्ड प्रोटोहिस्ट्री, पृ० १५६-६०। उनके मत के खण्डन के लिए द्रष्टव्य ह्वीलर, सिविलीज़ेशन आफ द इण्डस वैली एण्ड बियाण्ड, पृ०३०-३२ (१४) इण्डियन प्रीहिस्ट्री : १९६४, पृ० ११५ इण्डियन आर्क्योलोजी ए रिव्यू १९६१-६२, पृ० ४३ (१५) ह्वीलर, सिविलीज़ेशन आफ द इण्डस वैली ऐण्ड बियाण्ड, पृ० ६८ (१६) एस० आर० राव, एक्स्कवेशन्स ऐट रंगपुर ऐण्ड अदर एक्स्प्लोरेशन्स इन गुजरात, ऐंशिएण्ट इंडिया नं० १८-१९, पृ० १७८-९ (१७) एस० आर० राव, एण्टीक्विटी वाल्यूम ३७,१९६३, पृ० ९६-९९ (१८) एस० आर० राव, इण्डियन प्रीहिस्ट्री : १९६४, पृ० १२९-३० (१९) ह्वीलर, सिविलाइजेशन आफ द इण्डस वैली एन्ड बियान्ड, पृ० ६८ (२०) ह्वीलर, ऐंशियंट इन्डिया नं० ३, पृ० ६६ (२१) ह्वीलर, सिविलीज़ेशन आफ द इन्डस वैली ऐन्ड बियान्ड, पृ० ५७ (२२) ह्वीलर, द इन्डस सिविलीज़ेशन, पृ० २१ (२३) ह्वीलर, ऐंशियन्ट इन्डिया नं० ३, पृ० ६५ (२४) यह आपत्ति मूलतः केदारनाथ शास्त्री द्वारा उठायी गयी थी, देखिये उनका सिन्धु सभ्यता का आदि केन्द्र हड़प्पा, पृ० ४२ (२५) वही, पृ० ४३ (२६) वही, पृ० ४१ (२७) ह्वीलर, सिविलीज़ेशन आफ द इन्डस वैली ऐन्ड बियाण्ड, इन्डियन प्रीहिस्ट्री : १९६४, पृ० ११७ (२८) ह्वीलर, सिविलीज़ेशन आफ द इन्डस वैली ऐन्ड बियान्ड, पृ० ६१ (२९) इन्डियन प्रीहिस्ट्री : १९६४, पृ० ११७।

जायसी की काव्य-भाषा

• रामस्वरूप चतुर्वेदी

जायसी की काव्य-भाषा का आधार तुलसी से कहीं अधिक ठेठ अवधी का माना जाता है। तुलसी में, बड़े संयत रूप से ही सही, संस्कृत का आभिजात्य है, जिसका जायसी मे अभाव है। फिर जायसी में फ़ारसीपन प्रायः उतना ही है जितना कि उस युग की भाषा मे सामान्यतः प्रचलित था। इसीलिए जायसी की भाषा में कुल मिलाकर ठेठपन अधिक है, यद्यपि तुलसी जैसा मार्दव और प्रवाह नहीं। इसका यह अर्थ नहीं कि ठेठ भाषा में मार्दव और प्रवाह कम ही होगा, वस्तुतः यह अलग-अलग कवियों की अपनी रचना-क्षमता पर निर्भर करेगा।

प्रस्तुत सन्दर्भ में काव्य-भाषा का 'आधार' और काव्य-भाषा का 'विधान', इनके बीच के महत्वपूर्ण अन्तर को समझना जरूरी है। पिछले दिनों समीक्षा में तो नहीं, पर शोध में इन दोनों को लेकर विभ्रम की स्थिति उत्पन्न हो गई है। कई शोधकर्ता व्याकरणिक गठन को काव्यभाषा का स्वरूप मान लेते हैं, जो ठीक नही। 'आधार' से अभिप्राय उस भाषा से है जिसे कवि अपने समय की प्रचलित भाषा के रूप में उठाता है, और जिसके सामान्य व्याकरण और शब्दावली को स्वीकार करते हुए, उन्हें अपनी अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त करता है। भाषा का यह रूप उसके लिए परंपरा से सुलभ है। पर इतने से वह सन्तुष्ट नहीं हो जाता। यहाँ से तो उसका रचना-कर्म आरम्भ होता है। भाषा के इस व्यापक प्रचलित रूप में वह अपने विशिष्ट अनुभव को व्यक्त करना चाहता है, और इसके लिए नये शब्द-प्रयोग, प्रतीक, बिंब-विधान आदि प्रक्रियाओं का सहारा लेता है। यह काव्य-भाषा का 'विधान' है। इस प्रकार आधार की परीक्षा करते हुए हम अपने को अधिकतर भाषा के व्याकरणिक पक्ष तक सीमित रखते हैं, जब कि 'विधान' का विवेचन करते समय भाषा की विशिष्ट सर्जनात्मक शक्ति का विश्लेषण करना चाहते हैं। कहना न होगा कि ये दोनों पक्ष परस्पर जुड़े हुए हैं, और इनको मिलाकर ही रचना के संदर्भ में भाषा की समग्र सत्ता समझी जा सकती है।

पहले जायसी की काव्य-भाषा के आधार-रूप की चर्चा अभीष्ट है। यद्यपि जैसा स्पष्ट किया गया केवल व्याकरणिक वर्णन से हम किसी भाषा का स्वरूप निर्धारित नहीं कर सकते भाषा-निरूपण में व्याकरण एक महत्वपूर्ण आधार है पर एकमात्र नहीं

जातीय और सांस्कृतिक स्थिति तथा काव्यभाषा की प्रक्रिया वे अन्य तत्व है, जिनके विवेचन से भाषिक अध्ययन संपूर्ण होता है। प्रस्तुत पत्रक में जायसी के भाषिक अध्ययन के लिए विश्लेषण का आधार 'पद्मावत' (डॉ० माताप्रसाद गुप्त का संस्करण—१९५२) के चुने हुए अंश हैं।

संज्ञा

ऊकारांत प्रयोगों का बाहुल्य (करतारू, संसारू, कबिलासू, सुलतानू, पादू, काजू, राजू, पहारू) तुलसी की भाषा का स्मरण कराता है। ये ऊकारान्त प्रयोग वस्तुतः व्यंजनात हुए संज्ञा शब्द हैं, जिन्हें मुख-भर उच्चारण के लिए अंत में फिर स्वरों की सहायता होती है। (यहाँ मुख-सुविधा के सिद्धान्त का विचित्र रूप देखा जा सकता है। पहले तो उच्चारण मे सुभीते के लिए अंत्य स्वर अ विलुप्त हो जाता है—घर > घर्, आग > आग्। और फिर उसी आधार पर इन व्यंजनांत हुए शब्दों में एक ह्रस्व स्वर जोड़ दिया जाता है—घर् > घरु; आग् > आगि।) हिन्दी प्रदेश की अधिकतर बोलियों में व्यंजनांत हुए संज्ञा शब्दों के अंत मे प्रायः ह्रस्व उ (पुल्लिग प्रयोगों के लिए) जोड़ दिया जाता है। जायसी या तुलसी की भाषा मे मिलने वाले बहुसंख्यक ऊकारांत प्रयोग इन ह्रस्व उ से संयुक्त शब्दों के ही दीर्घ रूप है। यह स्मरणीय है कि इन दोनों ही कवियों में अधिकतर—जायसी में तो प्रायः निरपवाद रूप मे—ऊकारांत प्रयोग चौपाई के अंत में अंत्यानुप्रास की स्थिति में आते हैं। बीच मे उकारांत प्रयोग तुलसी में अधिक हैं, जायसी में कहीं-कहीं ही हैं (मरखु, दुखु, बिलंबु)। व्यजनांत स्त्रीलिंग शब्दो के अंत में इसीप्रकार ह्रस्व इ जोड़ दिया जाता है। यह प्रवृत्ति भी जायसी में कहीं-कहीं दिखाई देती है—लहरि, केसरि, पुरइनि, आगि।

व्यंजनांत शब्दों के अंत में यह उ, ऊ अथवा इ जोड़ने की प्रवृत्ति इस बात की द्योतक है कि जायसी और तुलसी दोनों शब्द-रूपों को उनके जन-प्रचलित उच्चारण के अनुसार ही स्वीकार करते हैं। भाषा का वास्तविक प्रमाणीकरण जन-प्रयोग से होता है कोश या व्याकरण ग्रंथों से नहीं, इस बात को इन कवियों ने अच्छी तरह समझा था। कुछ समीक्षकों ने उकारांत प्रयोगों को लिपिगत दोष मानकर उनका उपहास किया है। पर जायसी या तुलसी के संस्करणों में यह लिपिगत दोष न होकर भाषा के उच्चरित रूप के प्रति वफ़ादारी है।

जायसी की नामवाची शब्दावली प्रायः पूरी की पूरी तद्भव है। नामवाची शब्दावली मे कवि के वैचारिक और सांस्कृतिक धरातल की प्रतिच्छवि मिलती है। परम्परागत भाषा-वैज्ञानिक भाषा के दो तत्वों-व्याकरण और शब्दसमूह में से व्याकरण को अधिक महत्व देते है, और शब्दावली को अपेक्षया अस्थिर और परिवर्तनशील तत्व मानकर उसकी उपेक्षा करते हैं। पर भाषा की समग्र चेतना को समझने के लिए, और विशेषतः काव्यभाषा के सन्दर्भ में, शब्दावली का विश्लेषण एक स्तर पर व्याकरण से भी अधिक महत्वपूर्ण है। कवियों द्वारा विकसित प्रतीक तथा बिंब विधान तो प्राय पूरी तरह नामवाची शब्दावली पर होते हैं।

संतों तथा सूफ़ियों की काव्य-भाषा समान रूप से संस्कृत से दूर तथा जन-भाषा के निकट है। योग आदि के पारिभाषिक संदर्भ में जहाँ संस्कृत तत्समों के प्रयोग की सम्भावनाएँ होती हैं, वहाँ भी ये कवि इन तत्समों को विकृत करके अर्द्धतत्सम-सा बना लेते हैं। जायसी 'दृष्टि' के लिए 'दिस्टि' और 'रुद्राक्ष' के लिए 'रुद्राख' का प्रयोग करते हैं। यहाँ स्मरणीय है कि योग या दर्शन के संदर्भ में कवि 'दिस्टि' का प्रयोग करता है। 'उलटि दिस्टि माया सौं रूठी' (१२५ : ४) जब कि सामान्य संदर्भ में वे सामान्यतः प्रचलित 'डीठि' को रखते हैं—'भवें भलेहिं पुरुषन्ह कै डीठी' (१३१ : ७)। शब्दों की छाया के प्रति यह जागरूकता किसी भी सफल कवि में देखी जा सकती है।

फ़ारसी तत्समों के बारे में भी जायसी की यही नीति है। 'सुरखरू', 'तुखारा', 'मखदूम' जैसे प्रयोग अवधी की ध्वन्यात्मक प्रकृति में ढलकर विशेष रूप से प्रीतिकर लगते हैं पर फ़ारसी के ऐसे भी प्रयोगों की संख्या बहुत कम है। वस्तुतः कवि का इस्लामी या सूफ़ी तत्व-दर्शन पूरी तरह तद्भव प्रकृति में ढला है।

जायसी की तद्भवप्रियता में संस्कृत तथा फ़ारसी के व्यक्तिवाची और स्थानवाची शब्दों का रूप भी तद्भव बना लिया गया है। 'गाँग', 'चक्राबूह', 'खिखिंद', 'हनिवँत', 'किरसुन', 'इसकंदर', 'उम्मर', 'मुहमद' (कविनाम) जैसे प्रयोग शिष्ट भाषाओं के आभिजात्य का निरसन करके जनभाषा के अनुकूल वातावरण का निर्माण करते हैं। ज्ञान के विशिष्ट मार्ग के सामने भक्ति की जनतांत्रिक प्रक्रिया को परिचालित करने में भाषा-प्रयोग का केन्द्रीय स्थान है। भाषा के ऐसे प्रयोग ने भक्ति की संवेदना को जनतांत्रिक बनाया। कबीर, तुलसी, जायसी के लिए संस्कृत के समक्ष 'भाषा' का प्रयोग मूलतः रचनात्मक निष्ठा का प्रश्न था। इसी निष्ठा और आत्मविश्वास के साथ जायसी ने कहा है—

आदि अंत जसि कथ्था अहै। लिखि भाखा चौपाई कहै॥ (२४ :५)

जन-भाषा प्रयोग की ऐसी ही अकुंठित घोषणा अपने-अपने ढंग से कबीर ऐसे फक्कड़ और तुलसी ऐसे मर्यादावादी कवि ने की है। भक्ति युग की चेतना सच्ची जातीय चेतना थी, यह तथ्य भक्त कवियों की काव्य-भाषा से पूरी तरह प्रमाणित होता है।

जायसी के काव्य में तद्भव शब्दावली पर विशेष बल होने के कारण ही वर्तमान युग के पाठक को उनकी भाषा अपेक्षया दुरूह और अटपटी लगती है। भाषा के क्षेत्र का यह एक व्यंग है कि समुचित कोश परम्पराओं तथा साधनों के अभाव में एक युग की जन-भाषा अगले युग में सामान्य जनता के बीच ही दुर्गम हो जाती है, जबकि संस्कृत तत्सम शब्दावली पर आधारित काव्य-भाषा समझने की दृष्टि से परवर्ती युगों में भी विशेष कठिनाई उत्पन्न नहीं करती। इस संदर्भ में कबीर और जायसी की भाषा का मिजाज पहली तरह का है, जबकि सूर और तुलसी की काव्य-भाषा दूसरी तरह की है। प्रवाह जन-भाषा तथा तत्समता दोनों ही के, एक दूसरे को बल देते हुए चलते रहते हैं। किसी कवि में एक तत्व प्रधान हो सकता है, किसी अन्य में दूसरा

सर्वनाम

संज्ञा शब्दावली भाषा के सांस्कृतिक तत्व को विशेष रूप से अभिव्यक्त करती है, सर्वनाम रूप व्याकरणिक ढाँचे को स्पष्ट करते है। सर्वनाम के अतिरिक्त परसर्ग, क्रिया और अव्यय - विशेष रूप से क्रिया—भाषा में व्याकरणिक रूप को प्रकट करते हैं। जायसी मे ठेठ अवधी के सर्वनाम हैं, उदाहरणार्थ—**म, हौं, तुम्ह, तू, तै, वह, ओई, मोर, तुम्हार, ओहि, जेई, तेहि, जो, सो, कोउ, काहु**। व्यंजनांत सर्वनाम रूप भी उकारांत में मिल जाते हैं, जैसे—**आपु, कौनु**। सर्वनामों के प्रयोग से अद्वैत-प्रक्रिया की व्याख्या कवियों और मर्मियों ने प्रायः की है। जायसी उसी परम्परा में कहते हैं—**हौं हों कहत मंत सब कोई। जौं तूं नाहि आहि सब सोई।** (२१६।५)

परसर्ग

परसर्गों में अवधी का और ठेठ रूप परिलक्षित किया जा सकता है। स्वतन्त्र रूप में किसी अर्थ का बोध न करने के कारण भाषा के अन्तर्गत परसर्ग एक माने में सब से अधिक व्याकरणिक तत्व हैं। अर्थवान शब्दों को परस्पर जोड़कर उन्हें और सार्थक बनाना परसर्गों का काम है। 'पद्मावत' में बहुप्रयुक्त परसर्ग हैं—**क, कर, करि, कँह, काहिं, को, के, करि, कै, महँ, माहाँ, लगि, सों**।

क्रिया

क्रिया व्याकरणिक बनावट के केन्द्र में होती है। जायसी में अवधी के ठेठ क्रिया-रूप मिलते हैं। अवधी के दो भेदक रूप हैं—**'इसि'** जोड़कर बने भूतकाल, तथा **'ब'** जोड़कर बने भविष्यत्। **'कीन्हेसि', 'दिहिएसि', 'कहेसि'** जैसे रूप पहले वर्ग में हैं, और **'जाब', 'दाहब', 'उडाउब' 'चलब'** दूसरे वर्ग में। सहायक क्रिया के प्रसिद्ध रूप हैं—**'अहै'** (है), **'अहा'** (था)। अवधी के अन्य प्रसिद्ध भूतकालिक रूप **'भा' 'भै'**, (हुआ, हुए) **'गा'** (गया) भी 'पद्मावत' मे बहुप्रयुक्त हैं। इस युग की काव्य-भाषा में संयुक्त क्रिया का अभाव भाषा वैज्ञानिकों ने परिलक्षित किया है। डॉ० बाबूराम सक्सेना ने अपने शोध-ग्रंथ 'अवधी' की उत्पत्ति में बताया है कि अवधी की प्रारम्भिक स्थिति में संयुक्त क्रिया के रूप बहुत प्रचलित नहीं हैं। संयुक्त क्रियाएँ भाषा के विश्लिष्ट होने और चिन्तन-प्रक्रिया के अधिकाधिक जटिल होने के साथ-साथ अपेक्षया परवर्तीकाल में विकसित हुई हैं। जायसी में क्रिया-गठन अधिकतर एक ही क्रिया-रूप से सम्पन्न होता है, संयुक्त क्रिया के विरल प्रयोग हैं।

'पद्मावत' के विविध व्याकरणिक रूपों के इस संक्षिप्त विवेचन से स्पष्ट है कि जायसी ने अपनी रचना में ठेठ अवधी का प्रयोग किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में—"वह संस्कृत की कोमल-कांत-पदावली पर अवलंबित नहीं। उसमे अवधी अपनी निज की स्वाभाविक मिठास लिए हुए है 'मंजु' 'अमंद' आदि की चासनी नहीं है।" [जायसी ग्रन्थावली चतुर्थ पृ० २०५]

जायसी की भाषा का सांस्कृतिक मिज़ाज सीमित धार्मिक या सांप्रदायिक तत्वों से न बँधकर व्यापक जन-चेतना से जुड़ा हुआ है। जायसी के संदर्भ में यह बात इसलिए भी महत्वपूर्ण हो जाती है कि इस्लाम की सूफ़ी शाखा से प्रेरित होकर उन्होंने कैसे अपने व्यक्तित्व को पूरी तरह भारतीय बनाया है, जहाँ हिन्दू-मुसलमान का भेद छोटा लगने लगे। कबीर, तुलसी या सूर के सामने यह समस्या इस रूप में नहीं थी। यों यह विशेषता सभी बड़े कवियों में मिलेगी कि वे यदि धर्म के किसी रूप विशेष से प्रेरित हुए हैं तो भी उन्होंने अपने को उसकी साम्प्रदायिक भावना से मुक्त रक्खा है। व्यापक मानवीय भाव-भूमि तक पहुँचने का यत्न प्रत्येक सार्थकता की चाह रखने वाला कवि करता है। और इस माने में कवि सबसे अधिक मनुष्य होता है।

जायसी का भाषा-प्रयोग इस बात का कारण भी है और प्रमाण भी कि उनकी काव्य-चेतना धार्मिक सम्प्रदायों और मतभेदों से ऊपर थी। 'पद्मावत' के आरम्भ में सिंहल द्वीप के पक्षियों का वर्णन करते-करते कवि कहता है —

जावँत पंखि रहे सब बैठे भरि अँबराउँ।
आपनि-आपनि भाषा लेहिं दइअ कर नाउँ ॥ [२६।८]

सात अर्द्धालियों में विविध प्रकार के पक्षियों का वर्णन करने के बाद यह दोहा आता है। यहाँ आकर जैसे सारे पिछले इतिवृत्तात्मक वर्णन को एक गति और दिशा मिल जाती है। इस दोहे के अभाव में वृक्षों पर बैठे दर्जनों पक्षियों की एक सूची बन जाती, पर उस अमराई का कोई काव्यात्मक बिंब न बन पाता। अपनी-अपनी शाखा पर बैठकर अपनी-अपनी भाषा में प्रभु का नाम स्मरण करते हुए पक्षियों का यह रूप-वर्णन एक सीमा तक प्रस्तुत-परक होते हुए भी बिंब की छवि प्राप्त कर लेता है। इस बिंब-प्रक्रिया में मुख्य शब्द-प्रयोग है —'दइअ'। अवधी के इस छोटे से और बहु-प्रचलित शब्दरूप के माध्यम से सृष्टि में निहित विराट् और व्यापक सत्ता का गहरा अहसास होता है। यह भी स्मरणीय है कि यदि 'दइअ' का स्मरण करते मनुष्य चित्रित होते तो इस शब्द में अर्थ के इतने विस्तार की सम्भावना न होती। परन्तु छोटे, विनम्र पर आकर्षक पक्षियों के संदर्भ में 'दइअ कर नाउँ' प्रभु की भाँति ही विराट् हो जाता है। 'पंखि' की निरीहता और 'दइअ' की विराटता के रचनात्मक तनाव से यहाँ अर्थ का संश्लिष्ट विकास सम्भव होता है।

पर बात इतनी ही नहीं है। 'ईश्वर' और 'अल्लाह' से अलग अवधी का बहु-प्रचलित 'दइअ' प्रयोग इसलिए भी महत्वपूर्ण है कि वह हिन्दू या मुसलमान या किसी भी धार्मिक परंपरा से अलग प्रभु की उपस्थिति का सीधे साक्षात्कार करा पाता है। 'ईश्वर' या 'अल्लाह' जैसे शब्दों के साथ अनेक धार्मिक-सांप्रदायिक संस्कार जुड़े हुए हैं, 'दइअ' ग्रामीण जन-जीवन में धर्म से उतना नहीं, जितना विनम्र आस्था से जुड़ा है। इस तरह जायसी का यह शब्द-प्रयोग एक पंक्ति या एक दोहे को नहीं, वरन् एक पूरे अंश को वर्णन के धरातल से उठाकर काव्य अनुभव बना देता है। ऐसे सावधान और निर्मल प्रयोग छोटे-से छोटे शब्द को अर्थ की अनंत संभावनाओं से भर देते हैं

वर्णनों के बीच ये संक्षिप्त बिंब विकसनशील अर्थ-प्रक्रिया के साधन होते हैं। कवि ने इन बिंबों का चुनाव सामान्य जन-जीवन से किया है, इसलिए भी उनका संप्रेषण बेजोड़ है। एक ओर उनमें अरब और फ़ारस के विदेशी तत्व नहीं, और दूसरी ओर आभिजात्य की तरफ झुकाव नहीं। क्या हिंदू, क्या मुसलमान सभी वर्गों और स्तरों के व्यक्तियों के लिए बिंब अपना अर्थ खोलते हैं। पद्मावत में सिंहलगढ़ का वर्णन जगह-जगह शरीर के योगपरक स्वरूप को संकेतों में व्यंजित करता चलता है। ऐसे ही प्रसंग में एक दोहा आता है—

मुहमद जीवन जल भरन रहँट घरी की रीति।
घरी सो आई ज्यों भरी ढरी जनम गा बीति ॥ [४२।८]

जायसी के ऐसे सीधे-सरल पर अर्थवान बिंब-विधान पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल मुग्ध हुए थे। रहँट के चलने से जल भरने और खाली होने का जो बिंब है, उससे जीवन और मृत्यु के सतत गतिशील चक्र की अचूक पर कोमल व्यंजना होती है। और इस चक्र में उल्लास या विषाद का भाव नहीं, वरन् चलने की प्रक्रिया ही प्रमुख है। यह व्यंजना छोटे-से क्रिया-प्रयोग 'गा' से उभरती है। यह ध्यान देने की बात है कि संकेतित दोनो बिंब विधानों में केन्द्रीय शब्द-प्रयोग 'दइअ' और 'गा' ठेठ अवधी के हैं। इससे जायसी की अपनी आधार काव्य-भाषा संबंधी क्षमता और आत्मविश्वास की भावना प्रकट होती है। यह इसलिए भी की कवि संज्ञा और क्रिया दोनों प्रकार के शब्दों से अभीष्ट व्यंजना संभव करता है। उपर्युक्त बिंब-विधान के केन्द्र में एक जगह संज्ञा शब्द है, और दूसरी जगह क्रिया।

'वसंत विलास' के कतिपय शब्दों की अर्थ-विचारणा

•
मातप्रसाद गुप्त
•

श्री भँवर लाल नाहटा का उपर्युक्त शीर्षक का एक लेख 'हिंदुस्तानी' वर्ष २७ के अंक ३-४ में प्रकाशित हुआ है, जो मेरे द्वारा संपादित 'वसंत विलास' के पाठ और उसके अर्थ से संबंधित है। श्री नाहटा ने उक्त लेख में रचना के प्रो० कांतिलाल व्यास तथा श्री मोदी के संस्करणों में उनके द्वारा किए हुए कुछ अर्थों का समर्थन करते हुए मेरे अर्थों पर आपत्ति की है। प्रस्तुत लेख में यथाक्रम आपत्तियों तथा नए सुझाए अर्थों पर विचार किया जा रहा है।

[१] पदमिनी परिमल बहिकइं 'लहकइं' मलय समीर ॥ ४ ॥

चरण का अर्थ मैंने किया है—कमलिनियों के परिमल बहकने (बिखरने) लगे हैं, [जिनके लिए] मलय समीर लालायित हो उठे हैं। नाहटा जी की शंका है कि मलय समीर परिमल के लिए क्या लालायित होगा ? मलय समीर वसंती हवा या मलय गिरि की सुगंधित हवा को कहते है, उसमें क्या लालसा या लोलुपता होगी ? प्रश्न यह है कि पद्मिनी का परिमल प्रसरित होता कैसे है ? वह बिना समीर के प्रसरित नहीं होगा। अतः मलय समीर का मानवीकरण किया जाएगा तो कल्पना यह करनी पड़ेगी कि वह उसे लेकर प्रसरित करता है, और जब यह कल्पना की गई तब उसमें इसके लिए लालसा या लोलुपता की कल्पना काव्योचित होगी। कोई भी समीर, भले ही वह मलय समीर क्यों न हो, पद्मिनी के परिमल को बिना लिए आगे नहीं बढ़ सकता है। इसलिए उक्ति का औचित्य प्रकट है। ऐसी स्वाभाविक और सरस कल्पना के संबंध में नाहटा जी ने शंका उठाई, इस पर आश्चर्य होता है।

पुनः नाहटा जी कहते हैं—यहाँ 'लहकइं' का अर्थ वायु के चलने, लहराने से है, और इसकी पुष्टि में उन्होंने हिंदी के एक कोष का प्रमाण भी दिया है कोशों मे शब्द का एक अर्थ

वह भी है, किन्तु एक अर्थ और भी है, जिसे नाहटा जी ने नहीं दिया है, वह है—चाह या उत्कंठा से आगे को बढ़ना, लपकना, चाह से भरना—

यथा :

अँखियाँ अधर चूमि हाहा छांड़ो 'कहै' भूमि
छतियां सो लगी लगलगी सी 'लहकि' के।' (हिंदी शब्द सागर, पृ० ३०२४)

जायसी ने इस शब्द का एक सुंदर प्रयोग रत्नसेन के बंदीगृह से छूटकर चित्तौड़ आने पर वहाँ के भूमिज-पात्र में आई उत्फुल्लता का वर्णन करते हुए किया है :

'लहकि' उठा सब भुमिया नामा। ठांवहि ठांव दूब अस जामा।
दादुर मोर कोकिला बोले। हुते अलोप जीभ सब खोले।

—पद्मावत, ४२५-६

मंझन ने भी शब्द का प्रयोग ठीक इसी प्रकार किया है :

सुनत कुँवर रस भाउ कै बाता। जागेउ मदन बियापेउ गाता।
मदन कीन्ह तब कयां बिगासा। 'लहकि' आइ जग भोग बिलासा।

—मधुमालती, १२४-२

हवा ही 'चल' या 'लहरा' सकती है, समस्त 'भूमिए' या 'भोग-विलास' तो 'चल, और 'लहरा' नही सकते है।

[२] मानिनि जनमन शोभन शोभन बाउला वाइं।
निधुवन केलि कलामी अकामी अंगि सुहाइं॥ ५॥

प्रथम चरण का अर्थ मैंने किया है—यह [वसंत] मानिनी-जन के मन को क्षुब्ध करने वाला और बावले समीरों से शोभन है। मैंने 'वाउल' को < सं० वातूल = वात पीडित, उन्मत्त, बावला, और 'वाई' को < वाअ < वात = हवा (करण कारक) मानते हुए 'बावले समीरों से' अर्थ किया है। नाहटा जी का कहना है कि वाउला : वात > वाअ + उल्ल (स्वार्थिक तद्धित) है। मैंने 'वाउला' के अपने द्वारा किए गए अर्थ के उदाहरण मे सं० १४७५ की एक रचना से उद्धरण दिया है। यदि नाहटा जी भी कोई उदाहरण अपने द्वारा किए हुए अर्थ का देते तो अच्छा होता।

[३] खेलन वाणि 'सुखालीय' जालीय गुखि विश्राम।
मृगमद पूरि कपूरिहिं पूरिहिं जल अभिराम॥ ८॥

'सुखालीय' को मैने < सुक्षालिता = भलीभाँति धोई हुई कहा है। नाहटा जी का कहना है कि जंगल की वापियाँ भरी रहती हैं, उन्हें धोकर भरना संभव नहीं। प्रसंग यहा पर जंगल की वापियों का नहीं है, क्रीड़ोद्यान की वापियों का है। पुनः 'भरी रहती है' से नाहटा जी का तात्पर्य क्या है ? यह भी उन्हें कहना चाहिए था कि वे मिट्टी और कूड़े-कच से भरी रहती हैं अथवा वर्षा के जल से पहली हालत में तो उन्हें क्षालित किए बिना को

भी समझदार आदमी कपूँर और मृगमद के जल से न भरेगा। दूसरी हालत में भी वर्षा का जल वसंतोत्सव के आगमन तक भरा रहे और इतना स्वच्छ बना रहे कि उसमें कपूँर और मृगमद घोला जा सके, इसकी कल्पना नहीं की जा सकती है। जब कभी कोई वापी कर्पूर तथा मृगमद के घोल से भरी जाएगी, उसका सुक्षालित किया जाना अनिवार्य है।

[४] **सोवन सांकल सांधीम्र बांधीम्र 'चंपक डोलि'** ॥ ९ ॥

चरण के उत्तरार्द्ध का अर्थ मैंने किया है—चंपक पुष्पों से अलंकृत हिंडोलियाँ बाँधी गई। नाहटा जी का कहना है कि यहाँ पर आशय चंपक वृक्ष की डाल पर हिंडोला बाँधने का है। 'चंपक' से 'चंपक पुष्प' का अर्थ न लेकर 'चंपक डाल' का अर्थ लेना तथा उसके साथ उसे अधिकरण में प्रयुक्त मानना किस प्रकार संभव होगा? नाहटा जी कहते है कि राजस्थान के लोकगीतों में चंपक की डाल पर हींडा मारने का प्रचुर उल्लेख है। इन प्रचुर उल्लेखों में से नाहटा जी ने एक भी उद्धृत किया होता तो अच्छा होता। कदाचित् जिस लोकगीत का स्मरण नाहटा जी को था उसमें 'चंपक डोलि बाँधना' नहीं, चंपा के बाग मे हिंडोलना डालने की बात है, **हे माँ, चंपा बाग में हींडौ घला दै।** (राजस्थानी सबद कोस, भूमिका, पृ० ५.२१४) और चंपक की बाग में केवल चंपक नहीं होता है, प्रमुख रूप से ही वह होता है, फिर चंपक वृक्ष पर डाला हुआ हिंडोला चंपक पुष्पों से अलंकृत हो सकता है।

[५] **निहां विलसइ सवि कामुक 'जामुक' हृदय चइ रंगि।**
काम जिसा 'अलवेसर' वेस रचइं वर अंगि ॥ १० ॥

'जामुक' का अर्थ 'द्विगुण' लेते हुए उसे मैंने 'रंग' = राग का विशेषण माना है, नाहटा जी का कहना है कि 'जामुक' 'जोड़ा' है। अब मैं इस मत का हूँ कि ये दोनों अर्थ ठीक नहीं है। प्रतियों में 'जामुक' का पाठांतर 'जामक (यामक)' भी मिलता है और 'यामक' का अर्थ है, निश्चित समयों पर उपस्थित होने वाला, यथा:, करेणुका-यामक, कुंजर-यामक—निर्धारित समयों पर उपस्थित होने वाली (हथिनी) या होने वाला हाथी। 'कामुक-जामुक' का अर्थ अतः होना चाहिए 'परस्पर निर्धारित समयों पर [उद्यान में] उपस्थित होने वाले कामुक'।

'अलवेसर' को मैंने <अल्प + वयस् + का कहा है। नाहटा जी कहते हैं कि वह अ + लव + ईश्वर = अखंड (पूर्ण) ईश्वर है, और इस अर्थ को उदाहृत करने के लिए वे शब्द के उपयोग के अनेक उदाहरण देते हैं। जो उदाहरण उन्होंने दिए हैं, उनमें से कुछ लौकिक व्यक्तियों के संबंध के है और शेष अर्हंत, ऋषभ, जिनेश्वर आदि दिव्य व्यक्तियो के सबध के हैं। जो लौकिक व्यक्तियों से संबंधित हैं, वे निम्नलिखित है—

१. जागिउ नरेसक चींतवइ 'अलवेसर' (प्राचीन गुर्जर काव्य, पृ० ९६)

२. सहजिइं 'अलवेसर'......(प्राचीन गुर्जर काव्य पृ० ११२)

३ मलवेसर दानेसर सुचाण सागर श्रेष्ठी दास) इनके साथ निम्नलिखित को और रखा जा सकता है—जो मेरी पुस्तक में उद्धृत हैं:

४. वर विलसइं 'अलवेसर' केसर हेठि सुवेस (नेमिनाथ फागु १५)

५. इसिउ 'अलवेश्वर' सिंहरथ नरेश्वर गुर्जर रासावली)

६. सबि 'अलवेसरि' बिगलित छाजल कुंकुम केसरि (।।) और मेरे द्वारा उद्धृत स्थलों पर 'अलवेसर' का अर्थ किया गया है, 'सुन्दर पुरुषों में सर्वश्रेष्ठ' (गूर्जर रासावली, पृ० १३०)।

जहाँ तक दिव्य व्यक्तियों से संबंधित शब्द की बात है, संप्रति उससे हमारा प्रयोजन नही है। 'वसंत-विलास' के 'अलवेसर' तो 'कामुक-यामक' हैं। उनके लिए मेरे द्वारा सुझाई हुई व्युत्पत्ति तथा तदनुसार किया गया अर्थ ही संगत और संभव हो सकते हैं, नाहटा जी की व्युत्पत्ति तथा उनके द्वारा सुझाए हुए अर्थ नहीं, यह स्वतः देखा जा सकता है।

[६] वान भुवति लिहां विलसइं गलसइं अलअल 'आण' ।। १३ ।।

'आण' से मैंने 'गान' का अर्थ लिया है, नाहटा जी का कहना है कि यह 'आज्ञा, का परवर्ती रूप है। जैसा कि वह रचना के २०वें छंद में भी है। किन्तु यहाँ 'आज्ञा' की कोई संगति नहीं है, क्योंकि कमलों पर कोई 'आज्ञा' भ्रमरों की नहीं चलती है। अब मेरा विचार है कि आन <अण्ण <अर्ण = जल है, और चरण का अर्थ होगा—वहाँ अण (जल) मे (कमलों) पर भ्रमर विलस रहे हैं।

[७] कोइलि आंबुला डालिहिं 'आलिहिं' करइ निनादु।
काम तणउ करि 'आइसु आयस' पाउइ सादु ।। २२ ।।

आलि को <आर्द्र = हरा के अर्थ में लेते हुए मैंने आलिहिं = 'हरी' को 'आँबुला डालिहिं' के विशेषण के रूप में लिया है। नाहटा जी 'आलिहिं' का अर्थ 'सखियों को' करते है, किन्तु 'आलियां (सखियों) को कोइलि निनाद करती है, अर्थहीन है, फिर वे सखियाँ किसकी हैं, 'कोयल' की, आंबुला डाल' की या 'विरहिणी' की ? संदर्भ में 'आल' को < आर्द्र ही मानना संभव है।

'आइस आयसु' के स्थान पर नाहटा जी ने उद्धरण में 'आयसु आइसु' पाठ माना है, और कहा है कि 'आइनु' का अर्थ है 'यह ऐसा है'। 'यह ऐसा है' के साथ प्रश्न उठता है 'कौन कैसा है ?' मेरे पाठ का 'आइसु' 'कउ' क्रिया का धर्म है, और 'आयस' 'साद' के साथ मिलकर 'आयस-साद' <आदेश शब्द का निर्माण करना है, जिसकी संगति प्रकट है। नाहटा जी को आपत्ति है कि मेरे अर्थ से पुनरुक्ति-दोष आता है, किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि दूसरा शब्द 'आइस' नहीं 'आयस साद' है, केवल यमक के लिए उसे तोड़कर टुकड़ों में बाँट दिया गया है।

[८] इणि परि कोइलि कूजइ पूजइ युवति 'मणोर'।
विधुर वियोगिनी धूजइं कूजइ मयण कुसोर ।। ३ ।।

प्रथम चरण के उत्तरार्द्ध का अर्थ मैंने किया है 'युवतियाँ मणोरा पूजती हैं' और इस अर्थ की पुष्टि के लिए मध्यकालीन वसंत के वर्णन से निम्नलिखित पंक्ति उद्धृत की है—

जेहि घर पिउ सो 'मनोरा पूजा' । मो कहँ बिरह सवति दुख दूजा ।

—पद्मावत, ३४८-७

नाहटा जी का कहना है कि 'मनोर' < मनोरह < मनोरथ है। 'मनोर्थ' के लिए 'मनोरह' के उदाहरण तो अनेक मिलते हैं, किन्तु 'मनोर' का एक भी नहीं मिलता है। नाहटा जी ने कोई उदाहरण इसके 'मनोर्थ' के अर्थ का दिया होता तो उनके सुझाव को स्वीकार करने में सुगमता होती। 'मनोर्थ' से 'मनोर' नहीं बन सकता है। पुनः 'मनोरा' अर्थ के संबंध मे नाहटा जी की एक आपत्ति यह है कि राजस्थान में 'मनोरा' नाम की पूजा नहीं है, दूसरे यह कि कोकिल के कूजन और मनोरा के पूजन में परस्पर कोई संबंध नहीं दिखाई पड़ता है। राजस्थान के सारे भागों का ज्ञान नाहटा जी का है और सात-आठ सौ वर्ष पहले के राजस्थान का भी उन्हें ज्ञान है जब वसंत-विलास की रचना हुई थी—ऐसा कदाचित वे नहीं कह सकते हैं, इसलिए उनकी पहली शंका का औचित्य नहीं है। उनकी दूसरी शंका का उत्तर यह है कि दोनों का संबंध वियोगिनी के 'धूजन' से है, जो छंद के दूसरे चरण में आता है: जायसी की ऊपर उद्धृत पंक्ति में भी वियोगिनी को इस बात का दुःख है कि जबकि प्रिय-युक्त युवतियाँ मनोरा की पूजा कर रही हैं, प्रिय से वियुक्त होने के कारण वह उक्त पूजा नहीं कर पा रही है।

[९] आंबुलइ मांजरि लागीय जागीय मधुकर माल ।
मूंकइ 'मारु' कि बिरहिअ हीअइ स 'धूम वराल' ॥३१॥

नाहटा जी 'मारु' का अर्थ 'कामदेव' तथा 'धूम वराल' का 'अग्नास्त्र' लेते हैं। लेते हैं। 'धूम वराल' का अर्थ 'अग्नास्त्र' किस प्रकार हुआ, यदि यह वे बता सकते तो विचार करने में सुगमता होती। केवल कल्पना से कोई अर्थ लगाना हो तो भले ही यह अर्थ किसी प्रयोजन का हो सकता है। मैने 'मारु' तथा 'धूम वराल' दोनों के अपने अर्थों के लिए प्रमाण दिए हैं, जो मेरे संस्करण में यथास्थान (पृ० ३७ पर) देखे जा सकते हैं।

[१०] बिरह करालीअ बालीअ 'फालीअ' चोलीय चंग ।
बिषय गणइ तृण तोलइ बोलइ ते बहु भंगि ॥३६॥

'फालीय' का अर्थ मैने किया है 'फाड़ी—फाड़ डाली है।' नाहटा जी का कहना है कि 'फालीय' का अर्थ साड़ी है। मेरे अर्थ को मानने पर चरण का पूर्वार्द्ध वाक्य का उद्देश्य तथा उत्तरार्द्ध वाक्य का विधेय होता है, और इस प्रकार उक्ति का प्रथम वाक्य प्रथम चरण में पूरा हो जाता है। नाहटा जी जो अर्थ लगाते हैं, उसमें वाक्य प्रथम चरण में पूरा नहीं होता है। यदि यह कहा जाय कि वह दूसरे चरण में आने वाली शब्दावली 'बिषय गनइ' से पूरा होता है, तो 'फरिया और चोली' को 'विषय' की वस्तुएं नहीं माना जा सकता है, क्योंकि उनके उन भाव में सभ्य मानव समाज की नारी की कल्पना नहीं की जा सकती है।

[११] रहि रहि तोरीअ जोइलि कोइलि स्यउं बहु 'वास' ।
नाहल्ल च अजीअन आवइ भावइ मू न विलास ॥३७॥

'बास' का अर्थ मैंने 'बसेरा' लिया है, नाहटा जी उसका अर्थ 'पक्षियों का शब्द,' 'पक्षियों का कलरव' लेते हैं। 'बसेरा' अर्थ के विषय में प्रमाण की अपेक्षा नहीं है, 'बास' शब्द के अर्थ में मेरे देखने में नहीं आया है। नाहटा जी ने 'बास' शब्द के जितने भी उदाहरण दिए हैं, वे सभी उसके क्रिया रूप के है, संज्ञा रूप का एक भी उन्होंने नहीं दिया है। पुनः 'स्यउँ बहुवास' का अर्थ 'शब्द' अर्थ के साथ होगा 'जो बहुतेरे शब्दों या कलरव के साथ है।' किन्तु इस अर्थ की छंद के दूसरे चरण के 'भावइ मू न विलास' के साथ कोई संगति नहीं है।

[१२] उरवरि हारु लिया रमू सपरि सिंगारु अंगारु।
चीतु हरइ नवि चंदन चंदु नही मुझ 'सारु' ॥ ३८ ॥

'सारु' का अर्थ मैंने 'कुशल चिन्ता' किया है। नाहटा जी को आपत्ति यह है कि चन्द्र किसकी सार-सभाल करेगा या कुशल-चिन्ता करेगा? इस 'सारु' शब्द का अर्थ होता है "अच्छा मनोहर या सुन्दर।" आपत्ति के सम्बन्ध में तो एक सूक्तिकार की प्रसिद्ध सूक्ति का स्मरण आता है—अरसिकेषु कवित्व निवेदनं। उनके अच्छा, मनोहर या सुन्दर अर्थ के सम्बन्ध मे मेरी कठिनाई यह है कि फिर 'मुझ' की क्या संगति रही।

[१३] हल सलि दुलु दुरीठउ डीठउं (डीठिउं) गमइन चीरु ॥ ३९ ॥

चरण के उत्तरार्द्ध का अर्थ मैंने किया है—चीर दृष्टि में नहीं जा (आ) रहा है। नाहटा जी का कहना है कि 'डीठउँ' <दृष्टः 'देखा हुआ' है और 'गमइ' = 'सुहाता है', इसलिए चरण के उत्तरार्द्ध का अर्थ होना चाहिये—चीर देखा (ही) नहीं सुहाता। 'गम्' 'सुहाना' नहीं है, वह तो 'जाना' ही है। इसलिए 'डीठउ' पाठ के साथ अर्थ होगा 'चीर देखा नही जाता है'—अर्थात् 'चीर की ओर आँख भी नहीं उठाई जाती है।' 'डीठिउ' पाठ के साथ मेरे द्वारा किया हुआ अर्थ ही कदाचित् मान्य होगा।

[१४] सखि मुझ पुरछइ जांघडी 'नौ घड़ी बिहु लगइ आजु'।
दूख सबे हिक 'वानिसु' पामिसु प्रियतणूँ राग ॥ ४४ ॥

प्रथम चरण के उत्तरार्द्ध का अर्थ मैंने किया है—'तो आज दो ही घड़ियाँ लगेंगी।' नाहटा जी का कहना है कि अर्थ होना चाहिये—तावत् आज दो घड़ियों से। नाहटा जी के द्वारा सुझाया गया अर्थ स्वीकार्य लगता है।

दूसरे चरण के 'वानिसु' के स्थान पर नाहटा जी पाठ 'वामिसु' मानकर उसका 'वाम-यिष्यामि' वांया करूँगी, दूर करूँगी, अर्थ करते हैं। 'वामिसु' पाठ के साथ इस अर्थ के विषय मे भी मुझे आपत्ति नहीं है किन्तु 'वानिसु' के साथ अर्थ कदाचित् वही होगा जो मैने किया है।

[१५] भोजन कूर करंबुलउ आंबुलउ जन्हिँ लहेसु ॥ ४६ ॥

मैंने चरण का अर्थ किया है—मैं तुझे उबले हुए चावल, करांबुले तथा आंबुले (आम) दूँगी यदि मैं [अपने पति को] पाऊँगी 'कूर' का अर्थ नाहटा जी बाजरी आदि से बनाया हुआ भक्ष्य-पदार्थ विशेष कहते हैं करांबुला को दही भात तथा आंबुला को प्रियतम

मैंने 'सहिलालीय' को 'दिइं' का क्रिया-विशेषण मानते हुए उसका अर्थ 'लालित्य के साथ' किया है, जबकि नाहटा जी का कहना है कि वह 'छंदिहि' का विशेषण है, और उसका अर्थ है 'लालित्यपूर्ण'। दोनों अर्थों में कौन-सा शुद्ध है, यह पाठक स्वयं देख सकते हैं।

[२०] 'मुख लइं' मुखु मच्च कोडइ मोडइ ललवल अंग।
बालि सो अन कलोडइं 'लोडइ' मधुवन रंग ॥ ७० ॥

मैंने 'मुरकला' को < मुडर-कला < मुकुर-कला मानते हुए अर्थ किया है। नाहटा जी कहते हैं कि 'मुरकला' 'मलकना' या 'मुलकना' = 'मंद स्मित करना' है। नाहटा जी के द्वारा किया हुआ अर्थ स्वीकार्य ज्ञात होता है।

'लोडइ मधुवन रंग' से अर्थ मैंने 'मधुवन (क्रीड़ा-वन) के रंग (उल्लास) को लोल कर रही है (गति दे रही है) किया है। नाहटा जी 'लोडइ नितु नवरंग' पाठ स्वीकार करते हुए उसका अर्थ करते हैं—हमेशा नए-नए विलास से (प्रिय का मन) मथित कर देती है। अब मैं इस मत का हूँ कि 'लोड्' क्रिया का अर्थ 'खोजना' है—यथा 'कबीर ग्रंथावली' में—

नैन हमारे जलि गए छिन छिन 'लोड़ै' तुझ्झ। (३'४२)
साहिब गरवा 'लोड़िये' नफर बिगाड़ै नित्त। (५६'२)
स्यातूं रंगी क्या तूं चंगी, क्या सुख लोड़ै कीन्हां। (गौड़ी १०९'३)

अतः 'लोड़ै मधुवन रंग' का अर्थ होगा—मधुवन के रंग (उल्लास) को खोजती या प्राप्त करने की चेष्टा करती है, और 'लोड़ै नितु नवरंग' पाठ का अर्थ होगा—नित्य नवीन रग (उल्लास) की खोज करती रहती है।

[२१] 'छइल पराइ गुण 'माणइ' जाणइ परिमल रंगु ॥७२॥

'मानइ' को विधि का रूप मान कर मैंने अर्थ किया है 'तू मान,. जब कि नाहटा जी ने उसे सामान्य वर्तमान का रूप मानकर अर्थ किया है 'भोगना है।' 'माण' का अर्थ 'भोगना' कही मेरे देखने में नहीं आया है। यदि कोई उदाहरण भी नाहटा जी ने इस अर्थ के प्रमाण मे दिया होता तो अच्छा होता।

[२२] तूं गुण बीधुलि साचउ काचउ'महीय' म विरोलि ॥७३॥

मैंने 'महीय' को < महिग्र < मथितः यही माना है; नाहटा जी का कहना है कि 'मही' 'दही' के अर्थ में प्रचलित है। 'विरोल्' का अर्थ मैंने 'मथकर दही से' 'मक्खन को अलग करना' किया है। नाहटा जी कहते हैं कि वह 'विलोड़ना' 'बिलोवना' 'मंथन करना' है। फलतः, 'विरोल्' के संबंध में मतभेद यही है कि वे शब्द का शाब्दिक अर्थ करते हैं और मे उसका उद्देश्यपरक अर्थ लेता हूँ। 'मही' के अर्थों में अवश्य अंतर है, मेरे अनुसार 'मथित दही' को ही 'मही' कहते हैं, 'बिना मथे हुए दही' को 'मही' नहीं कहते हैं, और राजस्थान मे भी 'दही' और 'मही' का यह अंतर मिलता है।

[२३] खाजइ नेह परायण आणु भला सखि भृंगु
घलग चकउ गुण विमरणए दमणए लिइ रसरग। ७५

'विमणए' का अर्थ मैंने 'दमन कर रहा है' किया है। नाहटा जी का कथन है कि 'दमणए' से कवि का आशय 'दमणक पुष्प' से है। किन्तु 'दमणए' में कदाचित् श्लेष है, कवि 'दमणक' का नाम सूची में जाते हुए भ्रमर की लंपटता की भी व्यंजना करना चाहता है, इसलिए दूसरे चरण का अर्थ कदाचित् होगा—अलग स्थित भृग अपने [भलप्पन के] गुण से 'विमन है और [दमणक का] रस-रंग लेकर उसका दमन कर रहा है।

[२४] 'बालइ विलसि बा विवरुन' भ्रमर निहालइ भागु।
'आचरिया' इणि नियगुण नीगुण स्यउं तूय लागु ॥७६॥

प्रथम चरण के प्रथमार्द्ध का मैंने अर्थ किया है—बालक पुष्प का [ऐ भ्रमर] तू विलास कर और इससे विवर (मुड़कर) न जा। नाहटा जी का कहना है कि अर्थ है—बालइ (वृक्ष) को विलसने के लिये छिद्र या प्रवेश-द्वार नहीं है। वृक्षों को विलसने के लिए उनमें कोई ऐसा छिद्र या प्रवेश-द्वार होता है जो बालइ वृक्ष में नहीं होता है, और भ्रमर वृक्ष का विलास करता है [पुष्प का नहीं] यह कथन पहली बार सुना जा रहा है।

द्वितीय चरण का मेरा अर्थ है—इसके द्वारा तो अपने गुणों का आचरण किया गया है और तेरा लगाव गुण ही वालों से है। 'आचरण' के स्थान पर नाहटा जी पाठ 'आवरिया' मानकर चरण का अर्थ करते हैं—इसमें अपने गुणों (पराग केसर) को छिपा (ढँक) रक्खा है, अतः निर्गुण से तुम्हारा लगाव कैसा? प्रश्न यह है कि 'बालइ' इस कारण से 'नीगुण' कैसे कही जा सकती है, जबकि इसने अपने गुणों को आवृत्त (भर कर) रखा है। पुनः चरण में प्रश्न का वह रूप भी नहीं है जिसका आरोप नाहटा जी करते हैं, सीधा-सीधा वस्तु-कथन मात्र है।

[२५] 'सूड़इ' दोहगु लागइ भागइ इस उलि बंधु ॥७८॥

'सूड़इ' का अर्थ मैंने 'भली भाँति से' किया है, और नाहटा जी उससे 'भले को' अर्थ करते हैं। कदाचित् दोनों अर्थ संभव है।

[२६] 'नितु नितु चरीअ' नइ मरुअ ओगरु उ ओ गंधकुरंग ॥७९॥

चरण के प्रथमार्द्ध का अर्थ मैंने 'मरुवक नित्य-नित्य ही नव चरित (लीला-कलाप) की है—किया है; नाहटा जी ने अर्थ किया है—'मरुवक [रसचर्या द्वारा] नित्य-नित्य चरित होने के कारण', मुझे तो दोनों में कोई विचारणीय अंतर नहीं ज्ञात होता है।

[२७] भ्रमर भभंतउ 'गुणकर' अगरु ज कोरीउ नोइ।
अजवि रे तीणइ वरं सइवांस विणासइ कोइ ॥८०॥

'गुणकर' को मैंने 'भ्रमर' का विशेषण माना है, जब कि नाहटा जी उसे 'अगरु' का विशेषण मानते हैं। वे कहते हैं—जो भ्रमर अगरु की भाँति बांस को भी छेदकर उसमें रस ग्राह्य करना चाहता है, वह 'गुण कर' कैसे हो सकता है? नाहटा जी ने मेरे अर्थ को गलत उद्धृत किया है। मैंने कहा है : भ्रमर भी कैसा 'गुणकर' है…। जिसमें यह ध्वनि अति स्पष्ट है कि वह 'गुण कर' नहीं है। प्रश्न यह है कि अगुरु भी क्या 'गुण कर' हो सकता है? मेरी राय में 'गुण कर' और 'गुणहीन' होने की बात तो भ्रमर के संबंध में ही सोची जा सकती है अगुरु जैसे निर्जीव पदार्थ के संबंध में नहीं

[२८] पूरब प्रेम सुहातीअ जातीअ गई म चींति।
बिहसीअ नव नोमालीअ बालीअ संडि न प्रीति ॥८१॥

मैंने प्रथम चरण का अर्थ किया है—पूर्व की प्रेम सुहानी जानी को गई (गतयौवना) न समझ और उस नवमल्लिका से, जो विकसित हो उठी है, किन्तु बालिका है, तू प्रीति न कर। नाहटा जी इसका ठीक उलटा अर्थ करते हैं। वे कहते हैं—जाही तो सर्वथा गई है, उसकी चिंता अब मत कर, नवमल्लिका विकसित हो गई है, उस बाललता के साथ प्रीति निर्माण करो। प्रसंग भ्रमर की लंपटता के अंकन का है, और अधिक लंपटता का उपदेश उसे देने की कौन-सी आवश्यकता है ? अतः नाहटा जी द्वारा किया गया अर्थ व्याकरण की दृष्टि से संभव होते हुए भी संगत न होने के कारण स्वीकार्य नहीं है।

[२९] इकथुडि करुणी नइ बेठलवेड लता न छिभेड।
भ्रमर विचालि किसागर पामर, विलसि न बेउ ॥८२॥

दूसरे चरण का अर्थ मैंने किया है—ऐ भ्रमर, तू विचालि में (दोनों के बीच) कैसे [कार्य] कर रहा है ? ऐ पामर, दोनों का विलास लाभ एक साथ मत कर! नाहटा जी दूसरे चरण के ना को निषेधात्मक न मानकर विधि के आशय का मानते हैं और अर्थ करते है —'मूर्ख, दुविधा में न पड़कर दोनो का विलास करो न!' छंद के इस अर्थ के संबंध मे भी मुझे उसी प्रकार की आपत्ति है, जिस प्रकार नाहटा जी द्वारा किए हुए पूर्ववर्ती छंद के अर्थ के संबंध मे है।

●

नागरी-मुद्रण का संक्षिप्त इतिहास

●

मुरलीधर श्रीवास्तव

●

हिन्दी में मुद्रण के इतिहास पर अब तक विद्वानों के बीच अत्यल्प चर्चा हुई है। हिन्दी में टाइप ढालने, प्रेस खड़ा करने और मुद्रण का आरम्भ करने का श्रेय यूरोपियनों को ही है, जिन्होंने संस्कृत सीखने और बाइबिल के अनुवादों को मुद्रित करने के क्रम में इस क्षेत्र में काय किया था हम यहाँ नागरी-मुद्रण के आरम्भिक प्रयत्नों पर प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे

युरोप में नागरी मुद्रण

अथानासी किर्चरी (Kircheri Athanassi. की पुस्तक 'चाइना इलस्ट्रेटा' १६६७ मे नागरी में छपी, जिसमें ब्राह्मण वर्णमाला (Do Literis Brachmanus) के पाँच प्लेट है। एक प्लेट मे पाणिनि का प्रथम सूत्र अईउ और बारह खड़ी के कुछ रूप भी हैं। यह पुस्तक राष्ट्रीय ग्रन्थालय में है। आगरा के जेसुइट कालेज से सम्बद्ध फादर हेनरिक राथ (Father Heinrich Roth) ने संस्कृत पढ़कर उसका एक व्याकरण रचा। ये १६६४ मे रोम में किर्चरी से मिले थे। राथ के ही सहयोग से किर्चरी ने अपनी पुस्तक में अवतारों के नाम, व्याकरण के सूत्र और बारहखड़ी नागरी में छपवायी थी। एम्स्टर्डम से प्रकाशित होरटस इंडिकस मलाबारी (Hortus Indicus Malabari) की भूमिका में भी संस्कृत का ११ पंक्तियाँ देवनागरी में मुद्रित हैं। कदाचित् यह मुद्रण ब्लाक से हुआ था।

थियोसफिलस सिग फ्रिड वेयरा ने हिस्टोरिया रेग्मी ग्रेड कोरम बैक्ट्रियानी मे भी नागरी के कुछ नमूने मिलते हैं। नागरी अक्षर एक शिरोरेखा से बँधे हुये नही, वरन् टाइप की तरह सटे हुये किन्तु पृथक् है। टाइप का आकार पर्याप्त बड़ा और कलकत्ते से छपी गिलक्रिस्ट कृत 'हिन्दुस्तानी ग्रामर' में उपलब्ध टाइप से भी भद्दा होने के कारण नागरी मुद्रण के पूर्वरूप का द्योतक है।

१७४५ में शुल्जे के 'ग्रामेटिका हिन्दोस्तानिका' में देवनागरी छपी है और क मे ह तक अक्षर नागरी में छपे है। इसके बाद १७७१ में 'अलफाबेटम ब्राह्मणी कम सिव इन्दोस्तानम् युनिवर्सिटिस कासी' (Alahbetum Braehnonieum sen Indostanum Urivorcitates kasi) पुस्तक प्रकाशित की। यह 'बसा' (भाषा) की चल टाइप मे छपी पहली पुस्तक है। यह हिन्दी की प्रथम वर्णमाला या व्याकरण की पुस्तक कही जाती है। पर कैटलियर की पुस्तक इसके पहले लिखी जा चुकी थी।

भारत में मुद्रण का आरम्भ

मुद्रण का शिशु-युग

'भारत में मुद्रण का इतिहास यह बताता है कि मुद्रण का आरम्भ देश के समुद्रतट पर हुआ था। पश्चिमी समुद्रतट पर गोआ, कोचीन, पुन्नीकेल (कन्या कुमारी से कुछ मील उत्तर) व्यापिकोट्टा (कण्णामोर से एक मील दक्षिण) और अम्बल काडू (त्रिचूर से बीस मील दक्षिण एक गाँव) ही वे स्थान हैं, जहाँ भारतीय मुद्रण का शिशु-युग बीता था। उसके बाद पूर्वी तट पर ट्रान्क्विबार, मद्रास, फोर्ट विलियम कलकत्ता और श्री रामपुर में भारतीय मुद्रण को निश्चित रूप मिला। छापेखाने या मुद्रण यन्त्र का आविष्कार यूरोप में हुआ था, अतः इस देश में मुद्रण भी यूरोपीयों ने आरम्भ किया।

पोर्चुगीज जेसुइट मिशन ने कोचीन में १५७७ में और वे० वैली ने १५७८ में प्रेस स्थापित किया १६१६ में बम्बई के पोर्चुगीज भाग में जेसुइट मिशन ने एक प्रेस खोला था कहा जाता है कि १६६२ में काठियावाड़ के भीम जी पारिख ने गवनर जनरल के यहाँ बम्बई

में एक प्रेस खोलने की अनुमति के लिये आवेदन दिया था, ताकि वे हिन्दू धर्मग्रन्थ छाप सकें। इस काम के लिये उन्होंने इंगलैंड के एक मुद्रण विशेषज्ञ हेनरी वैलेस को ठीक कर लिया था। इस सम्बन्ध में आगे क्या हुआ इसका पता नहीं है। पर यह निश्चित है कि शिवाजी के समय में दक्षिण भारत में प्रेस स्थापित हो चुके थे। पर ये सारे प्रयास पोर्चुगीज प्रदेशों में हुये थे।

ब्रिटिश क्षेत्र में डेनिश मिशन ने त्रिनकुवार में रोमन टाइप से मुद्रण आरम्भ किया और प्रथम बार १७१४ में न्यू टेस्टामेंट के तमिल अनुवाद में तमिल टाइप का प्रयोग हुआ।

'गवर्नर जेनरल वारेन हेटिंग्ज की सलाह और आग्रह से मि० विलियम्स ने बंगाली टाइप बनाना स्वीकार किया था। ऐसे देश में, जो यूरोपियन कारीगरों के सम्पर्क से दूर था, उसे अकेले ही मेटालर्जिस्ट (धातु शिल्पी) एनग्रेवेट (गढ़िया) फाउन्डर (टाइप ढालने वाला) और मुद्रक (प्रिन्टर) का काम करना पड़ा।'[1]

रोमन कैथोलिक मिशन ही इस दिशा में अग्रदूत था और इसने ही देशी भाषाओं मे बाइबिल का मुद्रण किया। बाद में ट्रान्क्विवार और रामपुर के प्रोटेस्टेन्टों ने भी बाइबिल के प्रचार के लिए मुद्रण आरम्भ किया। १५५६ में गोआ में एक प्रेस चल रहा था। भारतीय भाषाओं में सबसे पहले मलयालम और बाद में तमिल में ही चल टाइप से मुद्रण आरम्भ हुआ। १५७७ में मलाबारी भाषा में और १७०८ और १७११ में तमिल में पुर्तगालियों ने टाइप बनवाये। रिबेरियो दास सैक्टोस (Riborio dos Sactos) के अनुसार १६५५ के पहले गोआ से १३ पुस्तकें छप चुकी थी। इन पुस्तकों में से एक पुस्तक मराठी में 'संत पीटर का चरित' इस्टीवो द क्रुज (Easteavos do cruz) १६३४ का है। यह भारतीय भाषा में यूरोपियन द्वारा लिखी पहली पुस्तक कही जाती है। यह पुस्तक ब्रिटिश म्यूजियम में है और इसका टाइप निकृष्ट है।[2]

बंगाल में मुद्रण का आरम्भ

१७७८ में बोल्ट्स ने यह शिकायत की थी कि कलकते में एक भी प्रिन्टिग प्रेस (छापाखाना) नहीं है। १७७८ में बंगाल में पहला प्रेस खुला। यहीं पर हैलेहेड का बंगाली ग्रामर, फिरंगियों को बंगला सिखलाने के लिये छपा था।

१७७२ में जार्ज हैडले कृत मूर भाषा का व्याकरण छप चुका था।[3] बंगला में हैलहेड के बंगला ग्रामर को छापने को मि० एन्ड्यूज के हुगली प्रेस के लिये विलकिन्स (१७५०-१८३६) से बंगला टाइप बनाये थे। विलकिन्स न केवल बंगला टाइप के बल्कि हिन्दी टाइप के भी जनक थे। ये बंगला के कैक्सटन (Caxton) कहलाते हैं। इस कार्य में इनके सहायक पंचानन कर्मकार हुये। विलकिन्स १७७० में कम्पनी की नौकरी में आये। इन्होंने संस्कृत पढ़ी। बंगला और नागरी मुद्रण के इतिहास में ये आरम्भकर्त्ता होने के कारण चिरस्मरणीय रहेंगे। १७८६ में ये इंगलैण्ड वापस चले गये। १८०० में ये इंडिया आफिस के प्रथम लाइब्रेरियन और १८०६ में हेलेवरी कालेज में प्राच्य विद्याओं के प्रोफेसर नियुक्त हुये थे। १८०८ में विलकिन्स का संस्कृत ग्रामर निकला जिसका नागरी टाइप पहले के टाइपों में सबसे सुन्दर था नागरी टाइप के इस प्रथम निर्माता अग्रज का निधन १८३६ में हुआ

पचानन कमकार

बिलकिन्स के भारतीय सहायक पंचानन कर्मकार का नाम भी बँगला और नागरी टाइप के निर्माता के रूप में स्मरणीय है। १७९८ में केरे ने सुना कि कलकत्ते में एक टाइप फाउन्ड्री स्थापित होने वाली है और इसके लिये किसी देशी कारीगर ने 'पंच' काटे हैं। पर यह योजना ठप पड़ गयी। उसके बाद उन्होंने सुना कि एक पुराना छापाखाना बिकने वाला है। उसे उन्होंने ४० पौंड में खरीदा। यह प्रेस मि० उडने (Udney) ने खरीद कर मिशन को दान में दिया था। जब यह मदनावती में एक बगल के कमरे में रक्खा गया तब झुंड के झुंड देशी लोग उसे देखने को इकट्ठे हो गये। जब उसकी अद्‌भुत शक्ति का परिचय केरे ने दिया तब उन्होंने कहा कि यह एक यूरोपियन मूर्ति है। इस तरह मदनावती में केरे ने यह लकड़ी का छापाखाना खड़ा किया। जब केरे श्री रामपुर आये, तब यह प्रेस भी अपने साथ लेते आये। उन्होंने न्यू टेस्टामेन्ट का अपना बँगला अनुवाद इसी प्रेस में ७ फरवरी, १८०१ को छापा था। इसका टाइप उनके पुत्र फेलिक्स (Felix) और सहयोगी वार्ड ने 'सेट' किया था। कुछ समय बाद केरे ने एक विज्ञापन देखा कि देशी भाषाओं के लिए एक 'टाइप फाउन्ड्री' कलकत्ते में स्थापित हुई है। पता लगाने पर उन्हें यह ज्ञात हुआ कि इस फाउन्ड्री के पंचों को पंचानन ने काटा है। पंचानन त्रिवेनी के निवासी थे, पर उस समय गार्डिनरीड में कोलब्रुक के घर के पास ही रहते थे। कोलब्रुक के अधीन ही वे काम करते थे। पंचानन के दामाद मनोहर भी उनके ही साथ रहते थे।[४] वे भी 'पंच' काटने में पंचानन के समान ही दक्ष थे। पहले तो केरे ने कोलब्रुक से कई बार अनुरोध किया कि वे पंचानन को अपने कार्य से मुक्त कर दें और पंचानन को अधिक वेतन का प्रलोभन भी दिया, पर जब यह उपाय भी कारगर नही हुआ तो केरे ने कोलब्रुक से यह अपील की कि मुझे पंचानन को कुछ ही दिनों के लिये दे दीजिये। आखिर कोलब्रुक इस अपील से द्रवित हो गये और उन्होंने पंचानन को श्री रामपुर जाने की अनुमति दे दी। डेनिश सरकार की मदद और दबाव से केरे पंचानन को श्रीरामपुर में रोक रखने में सफल हो गये। कोलब्रुक ने पंचानन को वहाँ से मुक्त कराने के लिये भारत-सरकार को दरख्वास्त भी दी और कानूनी कार्रवाई करने को विवश हुये, पर केरे ने सफाई में कहा कि देश में अपने ढंग का एकमात्र सुयोग्य कारीगर पंचानन पर किसी व्यक्ति विशेष का एकाधिकार नहीं होना चाहिये। पर असल बात यह है कि केवल शक्ति के प्रयोग से पंचानन श्री रामपुर में नहीं ठहरे थे, वे स्वेच्छा से केरे के कुचक्र में योग दे रहे थे।[५] केरे के इस प्रवंचनापूर्ण कृत्य को 'पवित्र प्रवंचना' (पायस फ्रौड) नाम दिया गया है। पचानन कर्मकार का श्री रामपुर में आगमन कितना महत्वपूर्ण है, यह केरे के 'मेमॉयर्स' से प्रकट होता है। 'परम पिता परमेश्वर की कृपा से हमें ऐसा कलाकार प्रेस स्थापित करते ही मिला, जिसने चार्ल्स बिलकिन्स के विचारों को अच्छी तरह हृदयंगम कर लिया था। उसकी सहायता से हमने टाइप फाउन्ड्री बनायी। यद्यपि अब वह दिवंगत है, किन्तु अपनी कला कई साथियों को इतने अच्छे रूप में दे गया है कि वे लोग अब सुन्दर टाइप बना और ढाल रहे हैं ये इतने शुद्ध हैं कि इनकी तुलना किसी भी यूरोपीय कलाकार से की जा सकती है कृत अनुवाद। द मेमोयर्स रिलेटिव टु ट्रान्सलेशन्स, जार्ज स्मिथ के केरे अ

लाइफ, पृ० १८१ से उद्धृत)। यदि भुलावा और धोखा देकर केरे पंचानन को श्रीरामपुर बुलाकर रख नहीं लेते, तो पंचानन की निपुणता से लाभ उठाने का श्रेय कोलब्रुक को ही मिलता। इस प्रकार पंचानन कर्मकार का कार्य-क्षेत्र डेनिश प्रदेश श्रीरामपुर हो गया, नहीं तो वे कोलब्रुक के अधीन कलकत्ते में ही अपना कार्य करते होते।

जब फोर्ट विलियम कालेज को देशी भाषाओं में पुस्तकें प्रकाशित करने की आवश्यकता हुई, तब कालेज में कलकत्ते के छापाखानों को देशभाषाओं में पुस्तकें छापने के लिये प्रोत्साहित किया। परन्तु उस समय छापाखाने यूरोपियन या ऐंग्लो-इंडियनों के हाथ में थे, इसलिए भारतीय भाषाओं की वर्णमालाओं के लिए उनके बनाये 'फाउन्ट' सन्तोषजनक नहीं थे। अतः कालेज के अधिकारियों ने अपने मुन्शियों और पंडितों को उत्तम फाउन्ट बनवाने के लिए प्रेरित किया। अधिकारियों ने ऐसे प्रेसों को संरक्षण देने का निश्चय किया। इसका परिणाम यह हुआ कि फारसी, हिन्दी और बंगला विभाग के कुछ शिक्षकों ने उत्तम फाउन्ट और नये मुद्रण-यन्त्रों को स्थापित करने में रुचि दिखलायी। कालेज के प्रोफेसरों की लिखी पुस्तकें छापने के लिए ये नये फाउन्ट व्यवहार में लाये गये। १५ फरवरी १८०८ की कालेज रिपोर्ट से यह सूचना मिलती है कि एक छापाखाना संस्कृत पुस्तकों के मुद्रण के लिये प्रशिक्षित हिन्दुओं ने खोला था, जिसमें विभिन्न साइजों के उत्तम नागरी टाइप देखे गये थे। इस प्रेस को संस्कृत कोश और व्याकरण छापने के लिए प्रोत्साहित किया गया था। एक स्थान पर संस्कृत प्रेस के स्वामी और संचालक रूप में बाबूराम पंडित का उल्लेख है। दूसरे स्रोत से यह सूचना मिलती है कि खिजिरपुर में एक संस्कृत प्रेस भाषा-मुन्शी लल्लू जी लाल ने स्थापित किया था। यदि एक ही संस्कृत प्रेस से अभिप्राय हो तो ऐसा लगता है कि लल्लू जी लाल का इस प्रेस से सम्बन्ध बाद में हुआ, पहले इसके स्वामी और संचालक बाबूराम पंडित थे। यह भी हो सकता है कि दोनों संस्कृत प्रेस पृथक हों। कहा जाता है कि सुधरे हुये बंगला के फाउन्ट, कालेज के बँगला-शिक्षक कालीकुमार राय की हस्तलिपि के आधार पर बने थे और पंचानन कर्मकार ने टाइपों को 'कास्ट' किया था। इस प्रसंग में यह उल्लेख रोचक होगा कि कालेज प्रेस में ही हिन्दी पुस्तकों की छपाई पहली बार हुई थी।[1]

श्री रामपुर में प्रेस का किसप्रकार काम होता था और क्या व्यवस्था थी, इसका स्पष्ट वर्णन वार्ड के एक पत्र में है जो उन्होंने १८११ में लिखा था :

"अन्दर प्रवेश करते ही आप देखेंगे कि आपका भाई एक छोटे कमरे में लिख-पढ़ रहा है और उसकी नजर आफिस पर है, जो १७० फुट लम्बा है। वहाँ आप हिन्दुस्तानियों को धर्म-ग्रन्थों (स्क्रिप्चर्स) का विभिन्न भाषाओं में अनुवाद करते या प्रूफ-शीटों को शुद्ध करते पायेंगे। केसों में रखे हुये अरबी, फारसी, नागरी, तेलगू, पंजाबी, बंगला, मराठी, चीनी, उड़िया, बर्मी, कनड, ग्रीक, हेब्रू और अंग्रेजी के टाइपों को आप देखेंगे और हिन्दू, मुसलमान हिन्दुस्तानी, ईसाई कम्पोज करते, शुद्ध करते और टाइप वितरित करते हुये पायेंगे। आफिस के आगे स्याही बनाने वालों की बगल में तरह तरह के टाइप ढालने वाले होंगे और विशाल दीवारों से घिरा एक खुला स्थान होगा जहाँ हमारा पेपर मिल है क्योंकि अपना कागज हम स्वयं बनाते हैं

इससे यह ज्ञात होता है कि भारतीय भाषाओं में नागरी, तेलुगू, पंजाबी, बंगला, मराठी, उड़िया और कन्नड़ के टाइप १८११ में ही बन चुके थे और इस सारे काम में हिन्दुस्तानी लगे हुये थे। श्री रामपुर की ख्याति मुद्रण कार्य में शीघ्र ही सारे देश में फैल गयी और वह प्रेस के सारे उपकरणों-टाइप ढालने, कागज-स्याही बनाने आदि का केन्द्र बन गया।

जब श्री रामपुर के मिशनरियों को नागरी टाइप बनाने की जरूरत हुई तो पहले तो उन्होंने इंग्लैण्ड में ही बनवाना चाहा, पर यह ज्ञात होने पर कि वहाँ टाइप बनवाने में खर्च अधिक पड़ेगा, उन्होंने श्री रामपुर में ही टाइप बनवाने का निश्चय किया। नागरी टाइप बनवाने के सम्बन्ध में विलकिन्स से सलाह ली गयी। इन्होंने २० साल पहले अपने हाथ से टाइप काटे थे और इस विषय में एकमात्र विशेषज्ञ थे। जब यह ज्ञात हुआ कि इंग्लैण्ड में ३०० पंचो को बनवाने में ७०० पौंड खर्च पड़ेगा, तब हिन्दुस्तानी कारीगरों से श्री रामपुर में ही टाइप बनवाने का निश्चय किया गया। यहाँ १०० पौंड में ही ७०० अक्षर का पूरा 'फाउन्ट' तैयार करा लिया गया।

पंचानन ने मनोहर को टाइप ढालने की कला में इतना प्रवीण बना दिया था कि उसका स्मरण भी कैरे के मेमोयर्स में प्रशंसापूर्वक किया गया है। 'वह (मनोहर) सब भारतीय भाषाओं में प्रयुक्त लिपियों में टाइप बनाने लगा। उसके द्वारा बनाये टाइप मिशन प्रेस मे और बिक्री के रूप में ४० वर्षों तक वितरण के प्रधान आधार थे। वह अन्त तक लुहार, जाति का हिन्दू बना रहा और श्री रामपुर १८६० तक पूर्वीय देशों का टाइप निर्माण केन्द्र।' (हिन्दी के आदि मुद्रित ग्रन्थ, पृष्ठ १३७ पर उद्धृत)। यह कहा गया है कि पंचानन मनोहर अच्छे यूरोपियन कारीगरों के समान टाइप बनाने में दक्ष हो गये थे। मार्शमैन ने जान लालसान के योग से धातु निर्मित लाल टाइपों की चर्च प्रिन्टिग में बहुत प्रगति की।

बम्बई में १८१२ में देशी भाषाओं का पहला प्रेस फर्दुन जी मर्जवान ने स्थापित किया। आरम्भ में नागरी टाइप श्री रामपुर से या इंग्लैण्ड से मँगाये जाते थे। १८१३ में जान शेक्सपियर कृत हिन्दुस्तानी ग्रामर में दो पृष्ठ नागरी लिपि और हिन्दी भाषा में छपे थे। लन्दन में नागरी लिपि का चल टाइप में मुद्रण का यह पहला नमूना है। इसके पहले विलकन्स का संस्कृत व्याकरण १८०८ में लन्दन से निकल चुका था। १८१३ का टाइप पहले ही अधिक सुन्दर है। बहुत दिनों तक श्री रामपुर के बने हुये टाइप ही प्राय: इस देश में चलते रहे। बाद में नागरी को सुडौल और सुन्दर रूप देने का श्रेय बम्बई के निर्णय सागर प्रेस को है। यहाँ के टाइप को लोगों ने इतना पसन्द किया कि 'बम्बइया टाइप' की धूम मच गयी।

हिन्दी-मुद्रण का आदिकाल

१८०२ के पूर्व हिन्दी की किसी मुद्रित पुस्तक का अब तक पता नहीं लगा है। इसके बाद कलकत्ते में तीन प्रेसों का उल्लेख मिलता है।

१—हरकारू प्रेस—

इस प्रेस से मिस्कीन का मर्सिया नागरी में छपा था। इसका शीर्षक-पृष्ठ अंग्रेजी में है। यह मात्र बारह पृष्ठों की पुस्तिका है इसकी एक प्रति एशियाटिक सोसाइटी में है इसके बाद यहाँ से सिंहासन बतीसी और माधोनल छपी

१८०२ में ही डब्लू० बी० बेली की हिन्दुस्तानी थीसिस नागरी में इस प्रेस में छपी।

२—हिन्दुस्तानी प्रेस

इस प्रेस से लल्लू जी का सम्पूर्ण प्रेम सागर छपा था। फोर्ट विलियम कालेज की थीसिसों की संग्रह-पुस्तिका में चेपलिन की 'सती होने की रीति' (६ पृष्ठ) १८०३ में इसी प्रेस से छपी थी। अतीक सिद्दीकी की उर्दू पुस्तक 'गिलक्रिस्ट' के अनुसार इस प्रेस को गिलक्रिस्ट ने स्थापित किया था। यद्यपि इसका स्पष्ट प्रमाण नहीं है कि हिन्दुस्तानी प्रेस के मालिक गिलक्रिस्ट ही थे, पर ऐसा जान पड़ता है कि इस प्रेस से उनका घनिष्ट सम्बन्ध अवश्य था। इसी प्रेस से १८०५ में हंटर कृत बाइबिल का अनुवाद निकला था। यह अनुवाद कालेज के 'सुशिक्षित देशीयों (लर्नेड नेटिव्स) ने किया था। इसी प्रेस को हिन्दुस्तानी की अनेक पुस्तकें छापने का श्रेय है। अतः इस प्रेस के माध्यम से भी हिन्दुस्तानी को गिलक्राइस्ट की देन महत्वपूर्ण है।

३—संस्कृत प्रेस, खिदिर पुर

मिर्जापुर के बाबूराम पंडित ने यह प्रेस १८०६ के लगभग कोलब्रुक की प्रेरणा से खड़ा किया था। यह प्रेस खास कर संस्कृत पुस्तकें छापने को खोला गया था। कुछ ही वर्षों मे बाबूराम ने बहुत धन उपार्जित कर लिया था। 'फ्रेन्ड आफ इंडिया' (२६ फरवरी १८३५) मे लिखा है कि कुछ सफल हिन्दुस्तानी मुद्रकों की आमदनी काउन्सिल के मेम्बरों के बराबर थी।

कलकत्ते के इन तीन प्रेसों में दो—हिन्दुतानी प्रेस और संस्कृत प्रेस के प्रेरक अंग्रेज ही थे। 'हिन्दुस्तानी' के विद्वान् और समर्थक गिलक्रिस्ट हिन्दुस्तानी प्रेस से सम्बद्ध थे और संस्कृत के विद्वान् कोलब्रुक संस्कृत प्रेस के प्रमुख प्रेरक और पोषक थे।

कलकत्ते के इन आम प्रेसों के बाद श्रीरामपुर के मिशन प्रेस का उल्लेख आवश्यक है। इस प्रेस का प्रकट उद्देश्य था—बाइबिल का देशभाषाओं में मुद्रण कर प्रचार करना। इस प्रेस के प्रमुख प्रेरक, पोषक और संचालक श्रीरामपुर के 'बेपटिस्ट त्रिमूर्ति' थे—जिन्हें ईसाई धर्मग्रन्थों के हिन्दी और उसके विविध जनपदी रूपों का अनुवाद छापने का श्रेय दिया जाता है। इस त्रिमूर्ति—केरे, मार्शमेन और वार्ड—में, वार्ड को मुद्रण-कार्य के प्रवर्तन और सचालन का मुख्य श्रेय है।

श्रीरामपुर का प्रेस बाइबिलों के अनुवाद छाप कर प्रसिद्ध हुआ। केरे ने १८११-१२ मे हिन्दी बाइबिल निकाला, फिर १८१३ में ब्रजभाषा बाइबिल निकला। उसके बाद कन्नोजी, उदयपुरी, बघेली, मारवाड़ी, हाड़ौती, बीकानेरी और उज्जैनी में भी बाइबिल के अनुवाद निकाले। हिन्दी के विविध जनपदी रूपों में गद्य 'लिखने का यह प्रथम प्रयास था और वे भाषा की दृष्टि से बड़े महत्वपूर्ण हैं बाइबिल के अनुवादों के प्रसंग में हम इनकी विशेष चर्चा करेंगे

हिन्दी की छपाई का आरम्भकाल कलकत्ते में हुआ था। क्रानिकल प्रेस में मुद्रित गिलक्रिस्ट के हिन्दुस्तानी ग्रामर (१७९६) और डब्लू किर्क पैट्रिक के एक वाकेबुलरी, पार्शियन, अरेबिक एंड इंगलिश में देवनागरी में कुछ अंश मुद्रित हैं। १८०१ में गिलक्रिस्ट का 'हिन्दी एक्सरसाइजेज' (फोर्ट विलियम कालेज की हिन्दुस्तानी की पहली और दूसरी परीक्षा के लिये) छपा। उसके बाद गिलक्रिस्ट की 'नकलियात हिन्दी' हिन्दुस्तानी प्रेस से छपी थी। ये दोनों पुस्तकें हिन्दुस्तानी भाषा के शिक्षण से सम्बन्धित थीं पर ये रोमन लिपि में छपी थीं। पर वास्तव में १८०२ से ही हिन्दी पुस्तकों का मुद्रण आरम्भ होता है। आरम्भ में हिन्दी में मुद्रित पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :

१८०२—विलियम बटरवर्थ बेली की थीसिस (६ फरवरी १८०२ को होने वाली डिस प्यूटेशन (विचार विमर्श) के अवसर पर पठित) 'आनरेबुल कम्पनीज प्रेस' से प्रकाशित। यह प्रेस लन्दन से १८०२ में मंगाया गया था।

इसी में देवनागरी टाइप का आरम्भिक रूप देखने को मिलता है।

१८०३—'सती होने की रीति हिन्दुओं में अपने पति के साथ भलमनसी और मया के चलन के बाहर है।' २९ मार्च १८०३ को पठित विलियम चेपलिन की थीसिस।

१८०४—हिन्दी—रोमन आर्थो एपिग्राफिकल अल्टीमेटम—हिन्दुस्तानी प्रेस १८०४। यह पुस्तक अंग्रेजी में है जिसमें शकुन्तला नाटक की कहानी दी हुई है। इसमें देवनागरी टाइप का एक चार्ट है, जो पिछले टाइप से अधिक संवारा हुआ है।

इसी वर्ष जे० रोमर की थीसिस 'दर-ममालिक हिन्दी की जबानों की असल बुनियाद संस्कृत है' (२० सितम्बर १८०३ को पठित) छपी-रोमन अक्षरों में।

१८०५—सुन्दर कवीश्वर। काजिम अली और लल्लू जी लाल द्वारा सम्पादित सिंहासन-बत्तीसी, हिन्दुस्तानी प्रेस। न्यू टेस्टामेंट। फोर्ट विलियम कालेज के 'लर्नेड नेटिव्स' द्वारा हिन्दुस्तानी में अनूदित। इसे मूल ग्रीक से डा० हन्टर ने मिलाया और दुहराया। इस पुस्तक का टाइटिल रोमन लिपि में है। पुस्तक नागरी लिपि में छपी है—इसमें प्रथम चार गास्पेल का अनुवाद है। यह हिन्दुस्तानी प्रेस से छपा था। इसके पहले का कोई बाइबिल अब तक नहीं मिला है। इसका एक संस्करण ऐसा भी मिला है, जिसमें अनुवादक में केवल विलियम हंटर का नाम है।

१८०९—अंग्रेजी सन् १८०४, साल १ आईन। इसके अनुवादक थे एच०पी० फोर्स्टर, डबलू० वी० बैली (१८०५-०७), जे० बाकर (१८०८) एम० एच० टम्बल (१८०९)। इसका रचना-काल (१८०५-१८०९) है।

इसकी एक प्रति नागरी प्रचारिणी सभा में उपलब्ध है।

१८१०—अंग्रेजी सन् १८०३ साल के आइन सन् का फीहरिस्त। अनुवादक एच० पी० फोर्स्टर।

(नागरी प्रचारिणी सभा में उपलब्ध)

१८१०—प्रेमसागर पूर्ण। यह संस्कृत प्रेस से छपा था। १८०३ में इस पाठ्य पुस्तक का कुछ अंश छपा था

१८१३—ए ग्रामर आफ द हिन्दुस्तानी लैंग्वेज, लन्दन, १८१३। इसमें पाँच प्लेट नागरी के हैं। लिपि लेखन-विधि। पेज १५१-१५५ में पंचतंत्र की कहानी का हिन्दी अनुवाद दिया गया है। भूमिका में नागरी के लिये चार्ल्स सिलकिन्स को धन्यवाद।

राष्ट्रीय ग्रन्थालय में उपलब्ध।

१८१७—ब्रजविलास-ब्रजवासीदास कृत। संस्कृत प्रेस।

१८२०—सरस रस—लल्लूजी लाल कवि द्वारा सम्पादित, संस्कृत प्रेस।

संदर्भ-संकेत

(१) रामरतन भटनागर के हिस्ट्री आफ हिन्दी जर्नलिज्म के आधार पर उद्धृत। (२) इन्ट्रोडक्सन आफ यूरोपियन प्रिन्टिग इन ईस्ट—रिचार्ड गार्नेट। यह १८९७ में द्वितीय इंटरनेशनल लाइब्रेरी कान्फरेन्स लन्दन, की कार्यवाही के विवरण में ट्रान्सेक्शन एण्ड प्रोसीडिंग्स प्रकाशित है (३) हैडले की पुस्तक का नाम है—Grametical remarks on the practical and vulgar dielect of the Hindustan Language, Commonly called Moors, with a vocabulary. English and Moors, London 1772 (४) कुछ लोगों के अनुसार मनोहर पंचानन का भतीजा था (५) ए नोट आन द अर्लियस्ट बंगाली पंचकटर, बङ्गाल पास्ट एंड प्रेजेन्ट, वाल्यूम—९,१०,१४ (६) इन्ट्रोडक्शन आफ यूरोपियन प्रिंटिंग इन्टू द ईस्ट-रिचार्ड गार्नेट, ट्रान्जेक्शन एन्ड प्रोसीडिंग्स आफ द सेकेन्ड इंटरनेशनल लाइब्रेरी कान्फरेन्स, १८९८।



ताराभक्ति सुधार्णव की विशिष्ट पाण्डुलिपि : एक अनुशीलन



श्रीमन्नारायण द्विवेदी



ताराभक्ति सुधार्णव तांत्रिक क्रियाओं का विवेचन करने वाला महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके रचयिता महामहोपाध्याय नरसिंह ठक्कुर गदाधर के शिष्य हैं। नरसिंह ठक्कुर का प्रादुर्भाव मैथिल देश में हुआ था और सम्भवतः वह काव्य-प्रदीप के रचयिता गोविन्द ठक्कुर की पाँचवी पीढ़ी में उत्पन्न हुए थे नरसिंह ठक्कुर १६६८ ई० म विद्यमान थे। उनकी रचनाओं से यह

अनुमान किया जाता है कि वह कमलाकर भट्ट के अनतर हुए थे जिन्होंने १६१२ ई० में निर्णयसिन्धु की रचना की।[१]

ताराभक्ति सुधार्णव का प्रकाशन कलकत्ता तन्त्र प्रकाश ग्रन्थमाला में हुआ है, जिसका सम्पादन श्री पंचानन तर्कतीर्थ ने किया है। ग्रन्थ के ११ तरङ्गों में क्रमशः तांत्रिक विषय-वस्तु का समुच्चय है। मंगलाचरण से रचयिता की गुरु परम्परा एवं तांत्रिक साहित्य में उसकी विशेष गति का बोध होता है। रचनाकार ने गदाधर गुरु की सहायता से नाना तंत्रों का ज्ञान प्राप्त कर ताराभक्ति सुधार्णव की रचना की है—

नाना तंत्राणि विज्ञाय गदाधर गुरोर्मुखात्
करोति नरसिंहोऽयं ताराभक्ति सुधार्णवम् ॥

शक्ति के तारा रूप की उपासना हेतु इस ग्रन्थ का प्रणयन हुआ और तारा को स्पष्ट रूप से बौद्ध देव परिवार से अलग तांत्रिक साधना की देवी रूप में उल्लिखित किया गया है।

ताराभक्ति सुधार्णव के प्रथम तरङ्ग में मंगलाचरण के अनन्तर विद्या प्रशंसा, तारामंत्र, मंत्रसिद्धि फल का विवेचन है। द्वितीय तरङ्ग में गुरु-शिष्य लक्षण, दीक्षाविधि, वास्तुयाग का वर्णन है। तृतीय तरङ्ग में दीक्षा-भेद, स्वप्न-विचार, मंत्र-संस्कार-विधि की सामग्री का सग्रह है। चतुर्थ तरङ्ग में गुरुभक्ति समयाचार, दक्षिणाचार, वीरादिभाव का निरूपण है। पाँचवी तरङ्ग में नित्यविधि, स्नानविधि, भूत शुद्धि, मातृका न्यास, षोड़ससन्यास, तारादिन्यास, का महत्व वर्णित है। षष्ठ तरङ्ग में पूजनफल अंगमाला मंत्र, दूतीयागाधिकार निर्णय का विवेचन है। सप्तम तरङ्ग में दमनोत्सव विधि, कुमारी पूजा, कुमारी स्तोत्र, शिवाबलि आदि से सम्बद्ध सामग्री संचित है। अष्टम तरङ्ग में पुरश्चरण के विभिन्न अवयवों से सम्बन्धित विस्तृत सामग्री संग्रहीत है। नवम् तरङ्ग में वीर साधन एवं शव साधन विधि पर विचार प्रस्तुत है। दशम तरङ्ग में षड्कर्म, राशिचक्र, नागमंत्र, षड् कर्म मंत्र जपभेद, तारा कवच, यन्त्रलेखन प्रकार आदि तांत्रिक विषयवस्तु की सामग्री अनिस्यूत हैं। एकादश तरङ्ग में तारा-भेद, महामंत्र, गुप्त षोडशी मंत्र, ध्यान, तारिणी कल्प एवं पूजा क्रम का विवेचन है। संक्षिप्त रूप में ताराभक्ति सुधार्णव की यही विषय वस्तु है। ग्रन्थ की समाप्ति एकादश तरङ्ग के अनतर हो गई है। सम्भवतः आगे की सामग्री आधार भूत पाण्डुलिपियों से सम्पादक को नही सुलभ हो पाई है। सम्पादक ने जिन प्रतियों का आश्रय लिया है उसकी पुष्पिका एवं लिपिकाल के सम्बन्ध में कोई सूचना नहीं दी है। सम्भवतः अपूर्ण उपलब्ध प्रतियों में पुष्पिका के अभाव के कारण ही यह स्थिति सम्भव हुई है।[२]

प्रो० रमानाथ झा ने तारिणी पारिजात में नरसिंह ठक्कुर के उल्लेख के आधार पर विद्वदुपाध्याय का समय १७वीं शताब्दी स्वीकार किया है। अतः नरसिंह ठक्कुर इनके पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं।[3] प्रो० चिन्ताहरण चक्रवर्ती ने नरसिंह ठक्कुर द्वारा ताराभक्ति सुधार्णव में तारा रहस्यवृत्ति नामक तंत्रग्रन्थ के उपयोग किये जाने का उल्लेख किया है और इस ग्रन्थ को १६वीं शताब्दी के शंकर आगमाचार्य की रचना तारारहस्यवृत्तिक से अभिन्न माना है, जिसकी हस्तलिखित प्रति शकाब्द स० १५२६ तदनुसार १६०४ की है[४]

ताराभक्ति सुधार्णव की अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ शोधभाण्डागारों में संरक्षित है। वीर पुस्तकालय नेपाल, रायल एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता, इण्डिया आफिस अलवर, राजेन्द्र लाल मित्र, गवर्नमेंट संस्कृत कालेज कलकत्ता, आफ्रेक्ट, एवं वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के कैटलाग ताराभक्ति सुधार्णव की हस्तलिखित प्रतियों की दृष्टि से विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं। प्रयागस्थ गंगानाथ झा अनुसन्धान संस्थान में ताराभक्ति सुधार्णव की दो हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध हैं। यह प्रतियाँ पुरानी प्रतीत होती हैं और शोध की दृष्टि से कुछ विशिष्ट महत्व की है। ताराभक्ति सुधार्णव की एक प्रति में ग्रन्थ (छन्द) संख्या मात्र १७०० है किन्तु ग्रन्थ के पंचदश तरङ्ग होने का उल्लेख है। ग्रन्थ का लिपिकाल सं० १७४६ है और लिपिकार का नाम हरिनाथ चक्रवर्ती उल्लिखित है। लिपिकाल की दृष्टि से प्रति महत्वपूर्ण है। ताराभक्ति सुधार्णव के प्रकाशित कलकत्ता संस्करण के सम्पादक ने नरसिंह ठक्कुर को १६६८ में विद्यमान माना है। इस पाण्डुलिपि का लिपिकाल सं० १७४६ तदनुसार १६९२ ई० है और इस प्रकार नरसिंह ठक्कुर के २६ वर्ष अनन्तर ही यह प्रति की गई सिद्ध होती है, किन्तु कलकत्ता संस्करण की सामग्री पाण्डुलिपि में नहीं उपलब्ध होती है। इस पाण्डुलिपि मे द्वादश तरङ्गों के बाद ही यह सूचना दी गई है कि ग्रन्थ का १२वाँ तरङ्ग समाप्त हुआ, पूर्व के तरङ्गों का अलग-अलग निर्देश नहीं किया गया है। तदनन्तर १३, १४, १५ तरङ्ग की तान्त्रिक धर्मसाधना सम्बन्धी सामग्री संक्षिप्त रूप से इस पाण्डुलिपि में प्रस्तुत है। १३वें से १५वें तरङ्ग की सामग्री के नवीन होने की सम्भावना की जा सकती थी किन्तु तथाकथित १२ तरङ्गों की सामग्री भी कलकत्ता से प्रकाशित ताराभक्ति के उक्त तरङ्गों में नहीं मिलती। ताराभक्ति सुधार्णव के कलकत्ता संस्करण के प्रारम्भ में मंगलाचरण सम्बन्धी कुछ सुन्दर छन्द उपलब्ध होते हैं :

सीना सीरमणि प्रवीण जलद श्यामाभिरामं छवि
नृत्यत् पीतपटद्वयैक कपट प्रोद्यत् परागो ज्वलम्
वंशीवादन कैतव प्रविलसद् गम्भीर धीर ध्वनि
वन्दे किञ्चिदहं मुदामधुलिहं हृत् पद्ममध्यस्थितम् ॥
हास व्याज विराजमान कुसुमां वक्षों जराणत् फला-
मुद्यत् कुन्तल कैतव प्रविलसन्मत्तालिमाला कुलाम्
स्थाणुस्थां रमणीय नूपुर कुला बालामपर्णामिहं
काञ्चित कल्पलतां नमामि ललितां शैलाधिराजोद्गताम् ॥

वीर पुस्तकालय नेपाल से प्रकाशित हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची में प्रस्तुत ताराभक्ति सुधार्णव के विवरण में यह मंगलाचरण का श्लोक प्राप्त होता है।[५] ताराभक्ति सुधार्णव नामक ग्रन्थ के विशिष्ट प्रचलित प्रारूप का यह प्रतीक है। गंगानाथ झा अनुसन्धान संस्थान की चर्चित प्रति में मंगलाचरण के यह छन्द नहीं उपलब्ध होते अपितु इनके स्थान पर कुछ अन्य छन्दों का प्रयोग हुआ है। मंगलाचरण के यह अंश दूसरी हस्तलिखित प्रति में अनुपलब्ध है क्योंकि उसके प्रारम्भ के दो पत्रक प्राप्त नहीं हैं

सम्प्रति विवेच्य ताराभक्ति सुधार्णव की हस्तलिखित प्रति की विषयवस्तु का संक्षिप्त अनुशीलन प्रासङ्गिक होगा। ग्रन्थ में मंगलाचरण के अनन्तर प्रथम तरङ्ग से द्वादश तरङ्ग की सामग्री एक साथ प्रस्तुत है जिसमें क्रमशः तांत्रिक साधना की विभिन्न सामग्री का विवेचन हुआ है। द्वादश तरङ्ग पर्यन्त में तत्वन्यास, मातृकान्यास, बीजन्यास, पीठन्यास, ध्यान, षडगन्यास अन्तर्याग, वलियाग, पीठ पूजा, गुरु शिष्य, नाम कवच, मंत्र विग्रह तारा, श्यामा कवच, सहस्र नामस्तोत्र, दक्षिण कालिकास्तव, कर्पूरस्तोत्र, नित्य होम विधि एवं नित्यार्चन विधि का वर्णन है। तंत्रकार ने पारस्परिक सम्भारों को सुन्दर ढंग से प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। सहस्रनामस्तोत्र प्रकरण में देवी की नामावली का अलंकृत ढंग से उल्लेख हुआ है—

कामार्त्ता कामरूपाच कामधेनुः कलावती
कांता कामस्वरूपाय कामाख्या कुलपालिनी
कुलीनां कुलवत्यं वा दुर्गा दुर्गार्तिनाशिनी
कौमारी कुलजा कृष्णा कृष्णदेहा कृशोदरी
कृशांगी कुलिशांगी च क्लींकारी कमली कल
करालास्याकराली च कुलकांता पराजिता ॥

नित्यार्चन होम विधिवर्णन के साथ जहाँ द्वादश तरङ्ग की समाप्ति होती है वहाँ तक ग्रन्थ में कुल ४५ पत्रक हैं और इस पत्र का पृष्ठ भाग बिना लिखा हुआ है।

त्रयोदश तरङ्ग में पुरश्चरण विधि का संक्षिप्त वर्णन है। इस तरङ्ग में तंत्रकार ने काली तंत्र, वीर चूड़ामणि, भैरव तंत्र, कुमारी कल्प, भैरव यामल के वचनों को उद्धृत किया है किन्तु यह सामग्री प्रकाशित संस्करण से भिन्न है। चतुर्दश तरङ्ग में काली-भैरव सम्वाद के माध्यम से काली कवच एवं पंचदश अध्याय में काली भेद का विवरण है, तदनन्तर ग्रन्थ का समापन कर लिपिकार ने पुष्पिका में अपने नाम तथा लिपिकाल का उल्लेख किया है।

यद्यपि ताराभक्ति सुधार्णव के प्रकाशित संस्करण एवं चर्चित पाण्डुलिपि में इस दृष्टि से अधिक एकरूपता है कि दोनों ग्रन्थों के मूल स्रोत समान ढंग के तांत्रिक ग्रन्थ प्रतीत होते है किन्तु संदर्भ अलग-अलग है। प्रकाशित संस्करण के अष्टम तरङ्ग में पुरश्चरण की प्रक्रिया एव पद्धति का विस्तृत वर्णन है किन्तु हस्तलिखित प्रति में पुरश्चरण की संक्षिप्त सामग्री प्रस्तुत है और किंचित् सामग्री के रूप में एक दो श्लोकों का साम्य है, यथा प्रकाशित ताराभक्ति सुधार्णव की वीर चूड़ामणि से उद्धृत यह पंक्तियाँ हस्तलिखित प्रति में परिवर्तन सहित उद्धृत हैं :

पुरश्चरण हीनस्य मन्त्र सिद्धिर्न जायते
आदौ पुरस्क्रियां कुर्यात् नियमेन यथाविधि ॥

किन्तु पुरश्चरण के संदर्भ में कुछ अन्य सामग्री भी हस्तलिखित ग्रन्थ में वीर चूड़ामणि आदि ग्रन्थों से समुद्धृत है जिसकी उपलब्धि प्रकाशित संस्करण में इस रूप नहीं हो पाती।

साधनं विविधस्येहं संकेत परमाद्भुतं
येन विज्ञान मात्रेण खेचरत्व म जायते

आदौ संशोधयेद्भूमिं पर्वते सरसी तटे
एकालिंगे श्मशाने चान्निपथे वा चतुष्पथे
अथ मातृगृहे वापि उज्जटे वा नदी तटे
साधको व्रत संस्थेपि पुरश्चरणं तु कारयेत्
सुषुम्ना व्रत संशुद्धि लक्षमेकं जपे बुधः ॥

वीर चूड़ामणि

गंगानाथ झा अनुसन्धान संस्थान, प्रयाग की ताराभक्ति सुधार्णव की विवेच्य हस्तलिखित प्रति का विवरण निम्नवत् है :

श्रीगणेशायनमः
महाकाली सहायनमः

एषाकापिन कामिनी त्वदयरामन्मूर्द्धनो
स्वर्द्धनी कान्ते कोयम मुनिरस्य निपुनपश्येहि नित्योतश्या ॥
आलोक्य प्रतिबिम्बितां सुललिता तत्र स्वकीयातनुं
गौरि स्मेर मुखी सखी सुनिपतन्वे मदात्रायतां ॥१॥
कामेकान्त विलोकनानल हत प्रोद्भूत कोपत्रयं
भास्वद्भास्वर दक्षिणे क्षण रुचि व्यक्त प्रसादोदयां
कांतोद्यद्विपरीत केलि कलितं कामाननेनान्वितं
कर्णलम्बित केशमीक्षित शिवं कांतं तडीमहि
यथा कालौ यथा तारा या तारा कालिको वसा ॥
उभयो नहि भेदास्ति इति ॥ गन्धर्व वचनात् काली विधि सक्तते ॥
वीर चूड़ामणि ।

अनायासं प्रवक्ष्यामि शारंगी सर्व सिद्धिदां
यस्य विज्ञान मात्रेण सर्वेश्वर्य प्रदोभवेत्
मेधा प्रज्ञा तथा लक्ष्मीर्वल्लभः सर्वजंतुषु
आत्मा स्मरण मात्रेण देहज्ञानं प्रजायते ॥

अन्त

विश्वसारे—
शापोद्धारं प्रवक्ष्यामि वशिष्ठ मुनिनाकृतम्
चतुर्विंशति लक्षाणि × × × प्रभृति ॥
देवेशि कालिका कालरूपिणि ।
त्वमंत्रेण संसिद्धि कष्टेनैव भविष्यति
इति श्रुत्वा × × × प्रसाधनं ॥
उवाचपुत्र किमि वशा पदानं वृथाकृतं
एक फलं यथानस्या तथा कुरु मुनीश्वर
× × × दुर्लभ यत्सुरैरपि ।

तत प्रीत्यावर लब्धा ज्ञानविज्ञान सयुत
उवाच प्रीतमनसा शापार्तां मंत्र संकटे × × ।।
× × × कथितं तत्रोपाय महं वन्दे ।।
प्रणवं पूर्वमुद्धृत्य घोररूपे च दक्षिणे
सिद्धि कुरुद्वयं प्रोच्च कालिकेति ×तः ।।
महाभीष्ट फल शीघ्रं देहि द्रविण संपदं
ज्यादौ मंत्रमुच्चार्य ।। जपाते च पुनः पठेत् ।।
भविष्यंति ततः सि × × × चिरात्परमेश्वरी।

इति श्री महामहोपाध्याय ठक्कुर श्री नरसिंह विरचिते ताराभक्ति सुधार्णवे पंचदश स्तरं × × (ग) × समाप्तोयं श्यामा प्रकरणं ।।

श्रीरस्तु शुभमस्तु

संवत् १७४९ समये चैत्र सुदि शुक्ल पक्षे आदि चम्पातिथो लिखितो श्री हरिनाथ चक्रवर्तिनेण ।। श्री गुरुनारायण सत्यमिति ।। ग्रन्थ संख्या १७०० पत्रक ८६ ।।

गंगानाथ झा अनुसन्धान संस्थान में संरक्षित ताराभक्ति सुधार्णव की दूसरी हस्तलिखित प्रति उपर्युक्त हस्तलिखित प्रति के समान है जिसके प्रारम्भ के दो पत्रक अनुपलब्ध हैं। इस प्रति का लिपिकाल सं० १७५० (१७०० ई०) उल्लिखित है अतः यह प्रति पूर्वोक्त प्रति के ८ वर्ष बाद की है क्योंकि उसका लिपिकाल सं० १७४९ (१६९२) है। अतः ताराभक्ति सुधार्णव की यही प्राचीन प्रति सिद्ध हो पाती है जो सम्भवतः मूल लेखक के समय से २६ वर्ष के अनन्तर की गई प्रतीत होती है। इस प्रति का विवरण निम्न रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।[७]

ताराभक्ति सुधार्णव—महामहोपाध्याय नरसिंह ठक्कुर
लिपि—देवनागरी सं० १३७८/६९
लिपिकाल—सं० १७५७
पत्रक—२ : २५ : ४२ ‡ ४६-८६
संग्राहक—गंगानाथ झा शोध संस्थान, प्रयाग

प्रसङ्गतः ताराभक्ति सुधार्णव कलकत्ता संस्करण की हस्तलिखित प्रतियों पर विचार करना है। रायल ऐशियाटिक सोसायटी बंगाल, कलकत्ता के 'एडिस्क्रिप्टिव कैटलाग आफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट' में महामहोपाध्याय हर प्रसाद शास्त्री ने ताराभक्ति सुधार्णव की दो हस्तलिखित प्रतियों का विवरण दिया है। यहाँ पर ४१८७ संख्यक प्रति का विवरण देते हुए इस ग्रन्थ की २० तरङ्गमय हस्तलिखित प्रतियों का उल्लेख हुआ है किन्तु यह प्रति चार तरङ्गमय ही है और पाँचवी तरङ्ग का स्वल्प अंश ही इसमें उपलब्ध है। ग्रन्थ की पुष्पिका मे लिपिकर्त्ता श्री सदाशिव शर्मा ने स्पष्टरूपेण पुस्तकाभाव की चर्चा की है जिससे सिद्ध होता है कि लिपिकार को ग्रन्थ की पूर्ण प्रति उपलब्धि नहीं थी इसका लिपिकाल शकाब्द सं० १६९७ १७७५ ई० है किन्तु यही ३७८ संख्यक ताराभक्ति सुधार्णव की एक ऐसी

हस्तलिखित प्रति की चर्चा है जिसकी सामग्री उपर्युक्त चार तरङ्गों की सामग्री से नहीं मिलती और जिसके प्रत्येक पत्रक के वामभाग में ग्रन्थ का नाम उल्लिखित है और सम्भावना की गई है कि यह सामग्री शेषग्रन्थ की है जिसमें काली उपासना सम्बन्धी शेष अंश अनिस्यूत है।[८]

नेपाल वीर पुस्तकालय काठमाण्डू के प्रकाशित हस्तलिखित ग्रन्थ सूची चतुर्थ भाग में ताराभक्ति सुधार्णव की १२ प्रतियों का विवरण प्रस्तुत किया गया है जिनका संक्षिप्त विवरण निम्नवत् है :—

ताराभक्ति सुधार्णव—विषयाङ्क	ग्रन्थ संख्या		लिपिकाल
३४२	४२००		ने० सं० ८१२
३४३	१३००		सं० १८०४
३४४	२१००		
३४५	५४००		
३४६	३५००		
३४७	८५००	[२० तरङ्ग]	सं० १९५३
३४८	५४५०		
३४९	१३००		
३५०	४४००		
३५१	६००		
३५२	४५५०		
३५३	८१००		

इस विवरण से ग्रन्थ का २० तरङ्गमय होना सिद्ध होता है। ३४२ संख्यक प्रति कलकत्ता से प्रकाशित संस्करण के अनुरूप है और उसका मंगलाचरण भी प्रकाशित संस्करण के ठीक अनुरूप है। इस संस्करण की एकादश तरङ्ग प्रतियाँ अधिक उपलब्ध हैं किन्तु इसके अधिक अंश की सूचना भी हस्तलिलित प्रतियों से मिलती है। इस विवरण से नरसिंह ठक्कुर कृत ताराभक्ति सुधार्णव की प्राचीन हस्तलिखित प्रति नेपाल संवत् ८१२ की सिद्ध होती है। विषयाङ्क ३४२ संख्यक प्रति की पुष्पिका में उल्लिखित है—श्री सूर्य वंशोद्भव भूपतीन्द्र मल्लो नृपाणां विजयी रणश्री नेपालदेशे सुचरित्रवंशो वर्वात्ति विश्वोपरि राजराजः। आदित्य वसुमिर्यान्ते नेपालाके सिताग्निने मासेऽलिखेच्य अङ्गारे हेमराजो नृपाज्ञा। शुभमस्तु॥ स० ८१२॥ आश्विमाने शुक्लपक्षे पञ्चम्पातिथौ ज्येष्ठानक्षत्रे शोभनयोगे अङ्गार वासरो।[९]

डॉ० डी० आर० रेग्मी, काठमाण्डू ने 'मेडिवल नेपाल' नामक अपने ग्रन्थ में लेवी के आधार पर नेपाल सं० ४७६ को १३५५ ई० के समान स्वीकार किया है। उनके अनुसार भूपतीन्द्र मल्ल का समय नेपाल ८१६-८४२ तदनुसार १६९५-१७२१ ई० है किन्तु उपर्युक्त पाण्डुलिपि के लिपिकार ने नेपाल सं० ८१२ में भूपतीन्द्र मल्ल का समसामयिक इस ग्रन्थ को प्रतिलिपि करने का संकेत किया है। इस प्रकार नेपाल सं० ८१२ तदनुसार १६९१ ई० इस ग्रन्थ का लिपिकाल हुआ और यही संस्करण की विशेष पुरानी हस्तलिखित

प्रति है।[10] यद्यपि गंगानाथ झा अनुसंधान संस्थान की विवेच्य प्रति से यह २ वर्ष पूर्व का ही ठहरता है क्योंकि उसका लिपिकाल सं० १७४६ (१६९३ ई०) है।

इस विवरण से ताराभक्ति सुधार्णव के दो अलभ्य संस्करण होने का पता अवश्य चलता है किन्तु कलकत्ता से प्रकाशित संस्करण ही महामहोपाध्याय नरसिंह ठक्कुर की मूल रचना प्रतीत होती है। इसी संस्करण की सर्वाधिक एवं प्राचीनतम प्रति उपलब्ध होती है और इसी के २० तरङ्गमय होने का पता चलता है। यद्यपि इसका पूर्ण अंश प्रकाशित नहीं है। यह तंत्र साहित्य का एक विस्तृत ग्रन्थ प्रतीत होता है। गंगानाथ झा अनुसन्धान संस्थान की विवेच्य प्रति में प्रकाशित संस्करण के आगे के अंश को अनिस्यूत किया गया है, यह सम्भावना व्यक्त की जा सकती है किन्तु प्रति का मंगलाचरण सर्वथा पृथक है। ऐसी स्थिति में यह विचारणीय है कि ताराभक्ति सुधार्णव तंत्र की एक सम्यक रचना है और उसकी हस्तलिखित प्रतियों की एक विशिष्ट परम्परा है, फिर इस परम्परा से पृथक ग्रन्थकार नरसिंह ठक्कुर की ताराभक्ति सुधार्णव नामक ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति की यह दूसरी परम्परा किस प्रकार प्रचलित हुई। वृहद् ताराभक्ति सुधार्णव का यह संक्षिप्त संस्करण भी नहीं प्रतीत होता क्योंकि विषयवस्तु का पार्थक्य है। विवेच्य प्रति की सामग्री यत्किंचित् नवीन है अतः लगता है कि यह लेखक की दूसरी किसी कृति की सामग्री है जिसे उसके प्रचलित ग्रन्थ के नाम से सम्बद्ध कर दिया गया। मैथिल ग्रन्थकार के बंगाली लिपिकार हरिनाथ चक्रवर्ती ने तारा के अतिरिक्त देवी के अन्य रूप से सम्बन्धित कुछ नवीन सामग्री जोड़ दी हो, यह भी सम्भव नही प्रतीत होता क्योंकि तारा आराधना बंगाल आगम साहित्य में व्यापक रही है और तारा उपासना के प्रति वहाँ भी आस्था रही है। सम्भवत: ग्रन्थकार नरसिंह ठक्कुर द्वारा संगृहीत यह तांत्रिक सम्भार उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ ताराभक्ति सुधार्णव के नाम से जुड़कर परवर्ती साहित्य मे प्रचलित हो गया हो, सम्प्रति गंगानाथ झा अनुसन्धान संस्थान मे उपलब्ध प्रतियों के आधार पर यही कहा जा सकता है। इस विवेचन से यह सिद्ध होता है कि महामहोपाध्याय नरसिंह ठक्कुर कृत ताराभक्ति सुधार्णव की अधिकांश सामग्री अब भी शोध भाण्डागारों की शोभा बढ़ा रही है। तांत्रिक साहित्य के अनुशीलन की दृष्टि से ताराभक्ति सुधार्णव के सम्यक् सम्पादन एवं प्रकाशन की अपेक्षा है। प्रकाशित संस्करण में एकादश तरङ्ग हैं, शेष नवतरङ्ग की सामग्री अप्रकाशित है जिसको समाविष्ट करते हुए किसी मानवती संस्था द्वारा इस महत्व-पूर्ण तंत्र ग्रन्थ का सम्पादन होना चाहिये। भारतीय तांत्रिक साहित्य परम्परा की सम्यक अनुशीलन की दृष्टि से यह कार्य अत्यन्त श्लाघ्य हो सकता है।

संदर्भ-संकेत

(१) ताराभक्ति सुधार्णव—पंचानन भट्टाचार्य—(भूमिका भाग) कलकत्ता (२) ताराभक्ति सुधार्णव—पंचानन भट्टाचार्य, कलकत्ता, १६४० (३) तारिणी पारिजात—विद्वदुपाध्याय सं० रमानाथ झा, सरस्वती भवन सिरीज, काशी (भूमिका) (४) संआज स्टडोज आन वेयर रेलिजन एण्ड लिटरेचर प्रो० चिन्ताहरण चक्रवर्ती पुन्थी पुस्तक, ४

पृ० ६८ (५) वीर पुस्तकालय काठमाण्डू, बृहत्सूचीपत्रम् (चतुर्थभाग) हस्तलिखित ग्रन्थ (६) गंगानाथ झा इन्स्टीयूट तारामक्ति सुधार्णव, हस्तलिखित प्रति (७) ए डिस्क्रिप्टिव कैटलाग आफ गंगानाथ झा रिसर्च इन्स्टीट्यूट, इलाहाबाद, भाग १, खण्ड पृ० ३०८-३०९ (८) ए डिस्क्रिप्टिव कैटलाग आफ दी संस्कृत मैनुस्क्रिट, खण्ड ८ भाग १, पृ० ४८९ (९) बृहत्सूचीपत्रम् (४) वीर पुस्तकालय, काठमाण्डू, नेपाल (१०) मेडियेवल इंडिया—के० एल मुखोपाध्याय, पृ० ४४३ ।

'गुप्त संवत्' शीर्षक लेख पर कुछ विचार

श्री वेद प्रकाश गर्ग

'हिन्दुस्तानी' भाग २४, अंक २ (१९६३) में श्री चन्द्रकान्त बाली का 'गुप्त-संवत्' शीर्षक एक महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित हुआ है। उक्त लेख में श्री बाली जी ने गुप्त-संवत् की स्थापना विषयक प्रचलित मत का खण्डन कर विभिन्न प्रमाणों के द्वारा संशोधन उपस्थित कर गुप्त-संवत् की स्थापना को ठोस आधार प्रदान करने का प्रशंसनीय प्रयास किया है। इसमें कोई सदेह नहीं कि श्री बाली जी ने लेख अत्यन्त परिश्रम से तैयार किया है और उनका यह परिश्रम श्लाघनीय है, किन्तु इतने विस्तृत लेख में कुछ त्रुटियों का रह जाना स्वाभाविक है, इसीलिए कई स्थानों पर शंका की गुञ्जाइश है लेख आवश्यकता से अधिक विस्तृत हो जाने के कारण कुछ गरिष्ठ हो गया है। अतः पाठक को शीघ्र ही हृदयंगम नहीं हो पाता। श्री बाली जी का उक्त लेख चार भागों में विभाजित है। उनके श्रम का आदर करते हुए, अपनी दृष्टि में आई हुई उक्त लेख की त्रुटियों पर क्रमशः भागानुसार विचार किया जा रहा है।

प्रथम भाग

१. (पृष्ठ ५१) बाली जी ने प्रथम शक का आरम्भ युधिष्ठिर-संवत् के २५२६वें वर्ष पीछे तथा ६१५ ईसा-पूर्व माना है,[1] यदि इस शक काल के २४१ वर्ष पश्चात् गुप्त-संवत् का आरम्भ माना जाय तो गणनानुसार गुप्त-संवत् की स्थापना ३७४ ईसा-पूर्व माननी होगी, यह लिखा जाना चाहिए था ३७५ ईसा-पूर्व नहीं

२. (पृ० ५३) प्रथम सारिणी में द्वितीय शक-संवत् में ईसवी सन् के नीचे ३२ ई० के स्थान पर ३३ ई० और वर्तमान के नीचे १९२६ होना चाहिए, क्योंकि १९६२ ई. का विक्रमी संवत् २०१९ होता है। तभी ६० वर्ष का अन्तर रह सकता है। ऐसा ही पृ० ५१ पर भी द्वितीय शक के विवरणान्तर्गत लिखा जाना चाहिए था। यदि इस शक काल से २४१ वर्ष पश्चात् गुप्त-गणना मानी जाय तो २७४ ईसवी लिखा जाना चाहिए था, २७३ ईसवी नहीं।

द्वितीय सारिणी में प्रथम शक से २४१ शक काल पश्चात् लेखक की गणना के आधार पर ३७४ ईसा-पूर्व के अनुसार गुप्त संवत् २३३६ वर्तमान होना चाहिए था। बाली जी की मान्यतानुसार ३७५ ईसा-पूर्व की गणना से भी २३३७ होना चाहिए, किन्तु दिया गया है—२२३७, जो अशुद्ध है। ३७५ ईसा-पूर्व की गणना मेरी समझ में नहीं आई। इसी प्रकार द्वितीय शक की गणना में लेखक की गणनानुसार १९६२ ई० के सम १६८६ गुप्त संवत् होगा न कि १६९८, जैसा कि लेखक ने दिया है। वैसे ठीक गणनानुसार १९६२ ई० के सम १६८८ गुप्त संवत् होना चाहिए।

द्वितीय भाग

३. (पृ० ५६) चन्द्रगुप्त द्वितीय के अपने चलाये संवत् के साक्ष्य में जो उद्धरण दिया गया है, उसमें उल्लिखित पंचमे' (५) तथा 'एक षण्ठ' (६१) के अनुस र इनका मालव-विक्रम संवत् ४२५ होता है। बाली जी ने मालव विक्रम संवत् ४२२ ईश्वर को चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा स्थापित संवत् का प्रथम संवत् माना है। आगे इसी पृष्ठ पर गुप्त संवत् के ५६वें वर्ष का मालव विक्रम संवत् ४२० लिखा है। अतः इन उल्लेखों से 'पंचमे' तथा 'एक षण्ठ' की संगति लगती प्रतीत नहीं होती। इसके मूल में आईने-अकबरी की उक्ति का मोह काम कर रहा है। दोनों विक्रमादित्यों के मध्य ४२२ वर्ष के पार्थक्य की भावना का आग्रह स्पष्ट दिखलाई देता है। मालव-विक्रम संवत् का आरम्भ 'ईश्वर' नामक संवत्सर से मानना ही उपयुक्त है, 'धाता' से नहीं। अन्यथा गणना शुद्ध नहीं होगी। जिस तर्क पर गुप्त-संवत् की स्थापना को सुदृढ़ता प्रदान की गई है, वह चलायमान हो जायेगा। आईने-अकबरी की अनुश्रुति को ध्यान में रखते हुए चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वारा स्थापित संवत् के प्रथम संवत्सर का नाम 'ईश्वर' और उसका प्रथम वर्ष गुप्त-संवत् का ५७वाँ वर्ष मानकर मालव विक्रम संवत् का ४२१वाँ वर्ष मानना होगा। तभी सभी संगति ठीक लग सकती है, अन्यथा नहीं। अनुश्रुति की एक वर्ष की भूल को जोड़कर ४२२ वर्ष की बात ठीक होगी। लेखक के इस बात को स्वीकार किया भी है।[2]

४. (पृ० ५७) मुद्राराक्षस की जो पंक्ति उद्धृत की गई है, वह उक्त नाटक के भरत-वाक्य की है। लेखक ने उक्त पंक्ति का जो अर्थ किया है, उससे मैं सहमत नहीं हूँ। मुद्राराक्षस की विभिन्न उपलब्ध हस्तलिखित प्रतियों में 'पार्थिवः चन्द्रगुप्तः' ही पाठ नहीं मिलता अपितु भिन्न-भिन्न पाठ मिलते हैं, किन्तु अधिकांश विद्वानों ने भरत-वाक्य तथा सम्पूर्ण नाटक पर विचार कर 'पार्थिवः चन्द्रगुप्तः' पाठ को ही उपयुक्त माना है। भरत वाक्य की उक्त पंक्ति का अर्थ मेरे विचार से इस प्रकार ठीक है अपने सुखी किंवा समृद्ध बन्धु-बान्धवों और अनुचर

परिचरों सहित सदा फूलते-फलते ये महाराज चन्द्रगुप्त सदा इस पृथ्वी पर राज करें।' उक्त पंक्ति में आया हुआ 'बन्धुभृत्यः' शब्द श्लेषात्मक है। उससे 'रामगुप्त का—'बन्धुभृत्य' यह अर्थ भी निकलता है, किन्तु इससे आगे लेखक ने जो ध्वनितार्थ निकाला है, वह चरितार्थ नहीं होता। उक्त भरत वाक्य के आधार पर तो यही कहा जा सकता है कि जिस समय इस नाटक की रचना हुई, उस समय चन्द्रगुप्त सम्राट्-पद को सुशोभित कर रहे थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय के सिंहासनारूढ़ होने से पूर्व ही शकों की पराजय और 'वध-विवाह-काण्ड' सम्पन्न हो चुके थे। इस विषय मे यह भी ध्यान रहे कि 'मुद्राराक्षस' बाद की रचना है और 'देवी चन्द्रगुप्तम्' पहले की। दोनो कृतियों की तुलना से यह बात स्वतःसिद्ध है। चन्द्रगुप्त के सिंहासन पर बैठने से पूर्व की घटनाओं के आधार पर विशाखदत्त ने पहले 'देवी चन्द्रगुप्तम्' की रचना की और उसके बाद किसी समय उनके शासन-काल में 'मुद्राराक्षस' की रचना की। मुद्राराक्षस नाटक का आरम्भ चन्द्रग्रहण की उत्थानिका के साथ होने के कारण यह कहा जा सकता है कि उक्त नाटक की रचना चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन-काल में मालव-विक्रम संवत् के ४३८ अथवा ४५६वें वर्ष के आस पास हुई होगी। यदि द्वितीय चन्द्रगुप्त के राजगद्दी पर बैठने से पूर्व मुद्राराक्षस की रचना मान लें तो उक्त कृति के भरत वाक्य की उक्ति इसे सहन नहीं कर सकती। अस्तु।

इस प्रश्न को चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वारा स्थापित संवत् तथा गुप्त-संवत् की संगति से ही सुलझाने की आवश्यकता है। 'पंचमें' तथा 'एक षष्ठ' के उल्लेख से सिद्ध है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के संवत् का ५वाँ वर्ष गुप्त संवत् के ६१वें वर्ष के सम है। अतः चन्द्रगुप्त द्वितीय के संवत् का प्रथम वर्ष गुप्त-संवत् के ५७वें वर्ष के तुल्य हुआ। उस वर्ष सारिणी के अनुसार मालव विक्रम संवत् का ४२१वाँ वर्ष था, जो कि ईसवी सन् ३६४ के अनुरूप है। गुप्त-संवत् के ५७वें वर्ष से पूर्व शक-पराजय, वध-विवाह-काण्ड हुआ था। इनके लिए बाली जी की मान्यतानुसार गुप्त-संवत् का ५६वाँ वर्ष माना जा सकता है अर्थात् गुप्त-संवत् के ५६वें वर्ष में चन्द्रगुप्त द्वितीय ने शकों को पराजित किया तथा अपने भाई को मारकर महादेवी ध्रुवस्वामिनी से विवाह किया। तत्पश्चात् वह राज सिंहासन पर बैठा और उसने अपने नये संवत् की स्थापना की। उसके नवीन संवत् का प्रथम वर्ष गुप्त संवत् का ५७वाँ वर्ष हुआ। मा० वि० संवत् के अनुसार—(क) ४२०वें वर्ष में वध-विवाह-आदि काण्ड और (ख) ४२१वें वर्ष में नये संवत की स्थापना।

५. (पृ० ५८)—"स्वराज्याभिवृद्धि करे वैजयिके संवत्सरे त्रयोदशये श्रावण बहुलस्य दशमी पूर्वकम्।" लेख की यह मूलबिन्दु पंक्ति किस गुप्त राजा के शिलालेख या ताम्र लेख की है, इसका उल्लेख पूरे लेख में कहीं नहीं हुआ। इस बात का उल्लेख होना नितान्त आवश्यक था। उल्लेख न होने से शंका होती है कि उक्त पंक्ति गुप्तों से किसी प्रकार संबंधित भी है या नहीं। यदि गुप्त-राजा का नाम दे दिया जाता तो लेख की प्रामाणिकता और बढ़ जाती।

६. (पृ० ६०) (च) संख्यक टिप्पणी स्पष्ट नहीं है। ४२० लाकर क्यों गणना की गई ? यदि शक संवत् के २४१ वर्ष पीछे चलने वाले गुप्त संवत् का १३वाँ वर्ष विजय संवत्सर हो, जो २४२ शक संवत् से गणना की जानी चाहिए थी।

७ (पृ० ६१) निष्कर्ष के अन्तर्गत (४) संख्या में श्री बाली जी ने लिखा है—"संवत् प्रवर्तक और आदित्य पोवार (चन्द्रगुप्त मध्य ४२२ वर्ष के पार्थक्य वाली मान्ने

अकबरी की तुक तिल तिल मिल जाती है आइने-अकबरी की तुक तिल तिल तो नहीं मिल पाती, १ वर्ष का अन्तर रहता ही है, हाँ, अधिकांश में मिल जाती है।

८. (पृ० ६२) यहाँ पर उद्धृत संशोधित गुप्त-वंशावली के ईसवी सन् मेरी समझ मे नही आये। गुप्त राजाओं से संबंधित प्रचलित ई० सन् और संशोधित ई० सन् में १२ वर्ष का ही तो अन्तर रहना चाहिए था।

बार्हस्पत्य संवत्सर गणना विषयक जो परम्परा भारत में है, उसके आधार पर मैं अपना अनुभव यहाँ व्यक्त कर रहा हूँ।

पंचाङ्गों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि बार्हस्पत्य संवत्सर की दृष्टि से भारत दो भागों—'उत्तर भारत और दक्षिण भारत'—में विभक्त रहता है। उत्तर भारत का संवत्सर और होता है तथा दक्षिण भारत का संवत्सर और होता है। उदाहरणार्थ सं० २०२३ वि० का पंचाङ्ग लिया जा सकता है। पंचाङ्ग को देखने से ज्ञात होता है कि उत्तर भारत में 'सिद्धार्थि' नामक संवत्सर है तो दक्षिण भारत में 'पराभव' नामक संवत्सर है। सं० २०२३ वि० के अनुसार शक सं० १८८८ है। उत्तर भारतीय शक सं० का आरम्भ 'नन्दन' नामक सवत्सर से मानकर तथा दक्षिण भारतीय शक सं० का आरम्भ 'प्रमाथी' संवत्सर से मानकर गणना करके देखते हैं तो उक्त प्रणाली से दोनों गणनाएँ सही बैठती हैं। इसी हिसाब से मैंने श्री बाली जी के लेख में पृ० ५४ पर दी हुई संवत्-सारिणी की गणना करके देखा तो दक्षिण भारतीय शक संवत् प्रणाली के अनुसार उन्हें ठीक पाया। वि० सं० २०१९, ईसवी सन् १९६२ तथा शक सं० १८८४ में दक्षिण भारत में 'शुभकृत' नामक संवत्सर था और उत्तर भारत में 'राक्षस' नामक संवत्सर था। श्री बालीजी ने सं० २०१९ वि० तथा १९६२ ई० में जो 'राक्षस' नामक संवत्सर का उल्लेख किया है, वह उत्तर भारत का संवत्सर है।

इस गणनात्मक दृष्टि से साहसाङ्क शक संवत् और विक्रमांक शक संवत् दोनों एक ही शक संवत् में समाहित हो जाते हैं। आशा है, बाली जी इस पर विचार करेंगे।

तृतीय भाग

९. (पृ० ६५) असली-नकली चार विक्रमादित्यों का परिचय देते हुए दो संख्या पर शालिवाहन विक्रमादित्य का समय ३३ ई० पू० लिखा गया है, जबकि २३ ई० पू० होना चाहिए। इसी प्रकार ४ संख्या पर चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का समय ३६३ ई० के स्थान पर ३६४ होना चाहिए।

मालवेश्वर विक्रमादित्य को नकली विक्रमादित्य किस आधार पर लिखा गया है? इनका संवत् पहले 'कृत' संवत् कहलाया, बाद में वही मालव संवत् नाम से विख्यात हुआ। बाली जी ने इसे उल्टा लिख दिया है।

१०. (पृ० ६५) कुमारगुप्त प्रथम की मंदसौर प्रशस्ति के दोनों अर्थों का ज्ञापक तिथि चिन्ह शुद्ध रूप में इस प्रकार होना चाहिए

दशा	१ शक संवत्	कलि संवत्	मालव	ईसवी
(क) भवन-निर्माण	५२२	३००८	३६ पू०	६३ पू०
जीर्णोद्धार	१०५१	३५३७	४६३ प०	४३६ प०
(ख) भवन-निर्माण	५२६	३०१५	२६ पू०	८६ पू०
जीर्णोद्धार	१०५१	३५३७	४६३ प०	४३६ प०

दोनों गणनाओं में सात साल की घटा-बढ़ी है, छह साल की नहीं।

चतुर्थ भाग

११. इस भाग में श्री बाली जी ने हर्षवर्धन के लिखाये एक लेख में आये हुए संवत् २०२ को हर्ष संवत् का २०वाँ वर्ष न मानकर उसे गुप्त संवत् माना है और इसी आधार पर हर्ष का समय निश्चित् किया है। उनका निष्कर्ष है कि —

(१) हर्षवर्धन गुप्तकुलीय भानुगुप्त का समकालिक है, अतः उसे गुप्तयुग से दूर नहीं रखा जा सकता।

(२) हर्ष प्रतिपादित संवत् २०२ निश्चयपूर्वक गुप्त-संवत् का प्रयोग है।

(३) प्राचीन इतिहासकारों के अनुसार हर्षकाल २०२ + ३१६ = ५२१ ई० होना ठीक है, ६२८ ई० नहीं।

(४) नवीन शोध के अनुसार २०२ + ३०७ = ५०६ ई० हर्षकाल निश्चित् है। श्री बाली जी के उपर्युक्त निष्कर्ष को स्वीकार करने में कुछ मूलभूत आपत्तियाँ हैं, जिन पर यहाँ विचार किया जा रहा है।

दक्षिण-पथ-सम्राट् पुलकेशी द्वितीय के शक-संवत् ५५६ के अयहोल शिलालेख से पता चलता है कि हर्ष पुलकेशी द्वितीय का समकालीन था, क्योंकि उक्त शिलालेख से पता चलता है कि पुलकेशी द्वितीय ने हर्षवर्धन को परास्त किया था। (भय विगलित हर्षो येन चाकारि हर्षः)। शक-संवत् ५५६ और बाली जी के निष्कर्ष शक-सं० ४३१ साहसांक शक-संवत् ४४४ में १२५ वर्ष का अन्तर उपस्थित हो जाता है। अतः बाली जी के मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

हर्षवर्धन गुप्तकुलीय भानुगुप्त के समकालिक नहीं था, अपितु मागध गुप्त-काल के माधवगुप्त के समकालिक था। माधव गुप्त के पिता महासेन गुप्त की बहन महासेन गुप्ता का विवाह आदित्यवर्धन से हुआ था।[3] इस सम्बन्ध को और सुदृढ़ करने के लिए महासेन गुप्त ने अपने दो पुत्रों—कुमार गुप्त व माधव गुप्त—को थानेश्वर राजदरबार में भेजा था, जो थानेश्वर के राज कुमारों के साथ-साथ रहते थे।[4] उपर्युक्त उल्लेख की पुष्टि अफसाद शिला-लेख से भी होती है, जिसमें महासेन गुप्त के पुत्र माधवगुप्त को हर्ष का साथी बतलाया गया है श्री हर्षदेव निज सगमवाञ्छया च

गौड़ाधिपति शशांक हर्षवर्धन का समकालिक था। हर्ष ने राजसिंहासन पर बैठने के पश्चात् अपने इस शत्रु पर चढ़ाई कर उसके राज्य पर अधिकार कर लिया था। इस गौड़ाधिपति शशांक का एक ताम्रपत्र, जो गंजाम ताम्रपत्र के नाम से प्रसिद्ध है, गुप्त संवत् ३०० का मिलता है। गुप्त सं० ३०० का शक संवत् ५२६ होता है (साहसांक शक संवत् ५४२)। इतिहास की विभिन्न सामग्री से हर्षवर्धन की उत्तरी भारत के निम्नलिखित राजाओं से समकालीनता सिद्ध होती है—हर्षवर्धन = भास्करवर्मन (कामरूप) = माधव गुप्त (माधव गुप्त) = ग्रह वर्मन (मौखरि) = शशांक (गौड़) = ध्रुवसेन द्वितीय (बलभी)।

अब रहा प्रश्न हर्षवर्धन के लिखाये लेख में आये हुए स्कन्दगुप्त और भानु (गुप्त) नामों का। बाली जी यदि उक्त लेख के अर्थ को ध्यान में रखकर विचार करते तो उत्तम रहता, किन्तु पूर्ण विचार किये बिना ही शीघ्रतावश हर्ष-संवत् विषयक अपने विचारों को उन्होंने अन्तिम निष्कर्ष का रूप प्रदान कर दिया।

लेख में आये हुए स्कन्दगुप्त और भानु (गुप्त बाली जी ने अपनी ओर से जोड़ दिया है) दोनों नाम हर्षवर्धन के पदाधिकारियों के है। इन दोनों के पूर्व इनकी उपाधियाँ अंकित है। स्कन्दगुप्त नाम के पूर्व उसकी 'दूतक, महाप्रमातार, महा सामन्त' नामक उपाधियाँ उल्लिखित हैं और इसी प्रकार भानु नाम के पहले 'महाक्षपटलाधिकरणाधिकृत सामन्त महाराज' लिखा हुआ है। इन उपाधियों के अर्थ करने की आवश्यकता नहीं है। ये उपाधियाँ स्वत: स्पष्ट है। तो क्या स्कन्दगुप्त और भानु गुप्त दोनों हर्षवर्धन के अधीन शासक पदाधिकारी थे? और दोनों समकालीनन थे? वास्तविकता यह नहीं है। हर्षवर्धन और गुप्तकुलीय भानुगुप्त के समयों में पर्याप्त अन्तर है।

अत: किसी भी दृष्टि से श्री बाली जी का हर्षवर्धनीय निष्कर्ष स्वीकार योग्य नही है। ताम्रलेख में उल्लिखित संवत् २०२ गुप्त न होकर हर्ष-संवत् का २२वाँ वर्ष ही है।

१२. वैन्य गुप्त का १६१ गु० सं० का कोई अभिलेख नहीं मिलता। गु० सं० १६१ का तो अभिलेख भानु गुप्त का मिलता है। इसी प्रकार दामोदर गुप्त का गुप्त सं० २२४ का कोई अभिलेख नहीं मिलता। हाँ, दामोदर पुर का गु० सं० २२४ का भानु गुप्त का अभिलेख अवश्य मिलता है। भानु गुप्त का शासन-काल गु० सं० १६१ से लेकर गु० सं० २२४ तक है, गु० सं० २२० तक ही नहीं।

संदर्भ-संकेत

(१) वराह मिहिर की—"षड्-द्विक-पञ्च-द्वियुत: शक काल: तस्य राज्ञश्च" इस पंक्ति के अर्थ तथा प्रथम शक की मान्यता से मैं सहमत नहीं हूँ। इस विषय में मेरा अन्य मत है। (२) दे० हिन्दुस्तानी भाग २४, अंक २, संदर्भ-संकेत संख्या ९ (ख) पृ० ७१ (३) बाँसखेड़ा क ताम्रपत्र—ए० इ० भा० ४, पृ० २०८(४) हर्षचरित—उच्छ्वास ४।

'चंद कंवर री बात' के संबंध में कुछ भ्रान्तियां

डॉ० कृष्ण दिवाकर

हिंदी-साहित्य में उपलब्ध प्रेमाख्यानक काव्यों में 'चंद कंवर री बात' का अपना विशिष्ट स्थान है। इस ग्रंथ के संबंध में शोधात्मक विस्तृत विवेचन अब तक प्रस्तुत नहीं हुआ है। हिंदी के प्रेमाख्यानक काव्य की चर्चा के प्रसंग में दो-चार स्थलों पर इस ग्रंथ की जो चर्चा हुई है वह अपर्याप्त एवं भ्रमात्मक भी है। कुछ ग्रंथों में तो इसका नामोल्लेख मात्र किया गया है। 'चंद कंवर री बात' की हस्तलिखित प्रतियाँ बीकानेर, उदयपुर, जोधपुर, पाटण (गुजरात), कलकत्ता, इलाहाबाद, पूना आदि स्थानों पर प्राप्त होती हैं। विभिन्न प्रतियों से प्राप्त पाठभेद तथा मूल ग्रन्थ की छान-बीन का अभाव आदि से इस ग्रन्थ के संबंध में विद्वानों में मतभेद के साथ-साथ कुछ बातों में भ्रांतियाँ भी रही है। ये बातें प्रमुखतया ग्रन्थ के रचना-काल, विषय-वस्तु तथा कवि के नाम के संबंध में हैं।

ग्रंथ के रचनाकाल के संबंध में विभिन्न प्रतियों में मुख्यत: दो प्रकार के छन्द प्राप्त होते है। वे छन्द इस प्रकार हैं :—

पनरे से चालीस में पोस मास तिथ त्रयोदसी।
गुण कीनो गुणसार नगर नाम अमरावती ॥[1]

× × ×

सतरै से चालीसे समै तेरस पख जेठ मास।
गुण कीनो कर चाव सुं भोगी पूरण आस ॥[2]

उपर्युक्त छंदों में से प्रथम छंद केवल उदयपुरवाली एक ही प्रति में प्राप्त होता है। यह छंद अनेक कारणों से अशुद्ध प्रतीत होता है। छंद की मात्राएं तथा अर्थ की दृष्टि से भी दोनों पंक्तियों में संगति नहीं बैठती। दोनों पंक्तियों के अंत्याक्षर भी भिन्न हैं। इसके अतिरिक्त संवत् १५४० वि० में राजस्थान के इतिहास में किसी भी प्रतापसिंह नामक राजा के होने का उल्लेख तक नहीं मिलता। प्रत्युत संवत् १७३२ वि० से संवत् १७६५ वि० के बीच महारावत प्रतापसिंह के राजत्व काल का विवरण मिलता है।[3] दोनों छंदों में से किसी में भी संवत् और मास के साथ दिन का उल्लेख नहीं है। यदि दिन का उल्लेख होता तो पंचांग के आधार पर तुलना कर निश्चित करना बड़ा ही सरल हो जाता। फिर भी ऐतिहासिक संदर्भ, छंद की मात्राएं अर्थ-बोध अन्त्याक्षरों में प्राप्त समता अधिकांश प्रतियों में उपलब्धि आदि बातों के कारण

द्वितीय छंद ही शुद्ध प्रतीत होता है। यही छंद किंचित् हेर-फेर के साथ लगभग सभी प्रतियों मे मिलता है। अधिकांश समीक्षकों ने भी इसका रचनाकाल संवत् १७८० वि० ही माना है, जो समीचीन है।

राजस्थानी साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान् पं० मोतीलाल मेनारिया ने राजस्थान में हिंदी हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज के प्रथम भाग में 'चंद कंवर री बात' के विवरण में ग्रन्थ के विषय के संबंध में लिखा है कि इसमें अमरावती नगरी के राजकुंवर और वहाँ के सेठ की पुत्री राजकुंवरि के प्रेम की कहानी है।[४] विषय का यह विवरण अत्यंत अशुद्ध है। ग्रन्थ का ठीक तरह से अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि इसमें अमरावती नगरी के सेठ की स्त्री के प्रेम की कहानी है। डॉ० उदयसिंह भटनागर ने 'राजस्थान में हिन्दी ग्रन्थों की खोज' के तृतीय भाग में पं० मोतीलाल मेनारिया द्वारा लिखित विवरण में संशोधन करने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया है।[५] फिर भी उसमें कुछ अशुद्धियाँ रह ही गयी हैं। उदाहरणार्थ, उन्होंने लिखा है कि चंदकुंवर सेठानी से विवाह कर उसे घर ले आता है। ग्रन्थ में इस विवाह के संबंध में इस प्रकार विवरण है :—

अजेदीन री कुंवरी चंदकुंवर परणाय।
हय गय पायक छोकरी दीना पंच पठाय॥
चंदकुंवर बीनती करै सुणज्यो बात नरेस।
हम कुं हंसकर सीष द्यौ, ज्युं जावा हमगेह॥
कारि सजाई गमण की घर कुं चंद कंवार
सांवत साथे पर ठिया एके सहस असवार॥[६]

इन छंदों से स्पष्ट है कि चंदकुंवर ने चंपापुरी के राजा अजेदीन की पुत्री के साथ विवाह किया था न कि सेठानी के साथ। इस प्रकार छोटी-मोटी बातें और भी हैं।

रचना-काल तथा विषय-वस्तु की भाँति ग्रन्थ के रचयिता के संबंध में भी मतभिन्नता दृष्टिगोचर होती है। पं० मोतीलाल मेनारिया[७] तथा डॉ० कमल कुलश्रेष्ठ[८] प्रतापसिंह को 'चदकंवर री बात' के रचयिता मानते हैं। परंतु ग्रन्थ का सूक्ष्म अध्ययन करने पर यह कथन असत्य प्रतीत होता है। ग्रन्थ की निम्नलिखित पंक्तियाँ विचारणीय हैं :—

परतापसिंघ खुमाण नें, हुकम कियो कर चाव।
हंस कवि सुं ऐसे कही, कछु यक बात सुणाय॥

× × ×

जोधवंस जुग-जुग जीवो, दुणो होत परवार।
नाम धर्यो प्रताप तै, या गुण को गुणसार॥[९]

इन छंदों से स्पष्ट हो जाता है कि चंद कंवर री बात की रचना प्रतापसिंह खुमाण की आज्ञा से हुई। अंतिम छंद में कवि द्वारा की गयी प्रशस्ति तथा आशीर्वचन भी इसी बात की पुष्टि करते हैं कि प्रतापसिंह ग्रंथ के रचयिता नहीं थे बल्कि ग्रंथकार के आश्रयदाता थे। अतः प्रतापसिंह को 'चंद कंवर री बात' का रचयिता मानना तर्कसंगत एवम् समीचीन नहीं है

डॉ० भगीरथ मिश्र[10] डॉ० हरिकांत श्रीवास्तव[11] तथा डॉ० उदयसिंह भटनागर[12] ने इस ग्रंथ का रचयिता प्रतापसिंह को न मानकर 'हंस कवि' को माना है। उनके मत की आधार-शिला संभवत: निम्नलिखित पंक्तियाँ ही हैं :—

परतापसिंघ खुमाण नै हुकम कियो कर चाव।
हँस कवि सु ऐसे कहै कछु यक बात सुणाय॥
सब कुं लगै सुहामणी रचि संजोग विचार।
मुरख ही को मन हरै, सब रसीयन को सार॥[13]

प्रथम छंद की द्वितीय पंक्ति में प्राप्त 'हँस' शब्द के स्थान पर कुछ प्रतियों में 'हस' शब्द भी मिलता है। समस्त कृति में 'हंस कवि' का प्रयोग नहीं मिलता। कुछ प्रतियो मे 'कवि' शब्द 'करि' के समान लिखा हुआ है। राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर के हस्तलिखित ग्रंथ संग्रह में उपलब्ध चंद कंवर री बात की प्रति में ग्रंथ के अंत में रचनाकार का उल्लेख स्पष्ट रूप से मिलता है। देखिए—

प्रतापसिंघ सुरत सब वाच्छत सदा सुहाय।
चंद बात पूरी हुई, करी 'कलस कवीराय'॥[14]

बीकानेर के अभय जैन ग्रंथालय में सुरक्षित 'चंद कंवर री बात' की एक प्रति में 'कसल' पाठ भी मिलता है।[15] लिपिकार की असावधानी से 'कलस' के स्थान पर 'कसल' पाठ का लिखा जाना सहज संभव है। इसके अतिरिक्त 'कसल' किसी का नाम भी तो सभव नही प्रतीत होता है। इसी ग्रंथालय की दूसरी प्रति में 'सकल' पाठ भी मिलता है। इसके संबंध में भी वही बात संभव है जो 'कसल' पाठ के संबंध में हुई। इस ग्रंथ में 'कलस' का दो बार उल्लेख हुआ है। इस संदर्भ में ग्रंथारंभ की उपरिनिर्दिष्ट चार पंक्तियों का समुचित अर्थ इस प्रकार ही किया जा सकता है कि प्रतापसिंह खुमाण ने बड़ी प्रसन्नता से आज्ञा देते हुए कवि से हँसकर कहा कि कुछ ऐसी अपूर्व बात सुनाओ जो सब को सुंदर लगे। वह सरस बात रसिकों के साथ मूर्ख व्यक्तियों का भी मन हर सके। संदर्भ तथा औचित्य की दृष्टि से यही अर्थ समीचीन प्रतीत होता है। द्वितीय पंक्ति में प्राप्त 'हंस' शब्द को व्यक्तिवाचक संज्ञा के रूप में ग्रहण किया जाय तो अर्थ में स्पष्टता नहीं आती। द्वितीय छंद के संदर्भ में 'हंस' शब्द का अर्थ 'हँसकर' लेना ही अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है। दूसरी बात ध्यान देने योग्य है कि प्रतियों में 'हस' अथवा 'हँस' शब्द मिलते हैं न कि 'हंस'। हिंदी साहित्य के इतिहासों अथवा अन्य ग्रंथों में 'हंस' नामक कवि का कोई परिचय भी प्राप्त नहीं होता। यदि कवि का नाम 'हस' होता तो ग्रंथ के अंत में 'कलस कवीराय' के स्थान पर हंस कवीराय होना चाहिये था। अत: विवेचन से स्पष्ट होता है कि चंद कंवर री बात का वास्तविक रचयिता 'कलस' कवि ही हो सकता है न कि प्रतापसिंह अथवा हंस कवि।

अब प्रश्न उठ सकता है कि यह कलस कवि कौन होगा? समकालीनत्व एवम् ऐतिहासिक संदर्भ को देखते हुए ज्ञात होता है कि चंद कंवर री बात के रचयिता कलस कवि संभवत महाराष्ट्र के मराठा शासक छत्रपति संभाजी के प्रधान मंत्री 'कवि कलस' ही थे संक्षेप में, कवि कलस एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक व्यक्ति थे उनका समय अनुमानत संवत् १६८७ वि०

से संवत् १७४६ वि०[१६] तक था। छत्रपति शिवाजी तथा संभाजी के दरबार में उन्हें सम्मान का स्थान प्राप्त था। प्रधान मंत्री के अतिरिक्त वे संभाजी के काव्य-गुरु थे।[१७] कुशल राजनीतिज्ञ के साथ-साथ वे उत्कृष्ट कोटि के कवि भी थे। संस्कृत तथा हिंदी भाषाओं पर उनका प्रभुत्व था। उन्होंने संस्कृत के अतिरिक्त हिंदी में भी ग्रंथ रचना की थी। शृंगार रस मे उन्हें विशेष रुचि थी। मंत्र-तंत्र की विशेष सिद्धि उन्हें प्राप्त थी। राजपूतों से कवि कलस का घनिष्ट संबंध था। शाहजादा अकबर तथा दुर्गादास को कवि कलस ही की सिफारिश से आश्रय मिला था।[१८] कवि कलस की मृत्यु के बाद उनके घरवाले राजस्थान में चले जाने का उल्लेख मिलता है[१९] जिससे अनुमान होता है कि राजस्थान में उनके रिश्तेदार अथवा हितैषी थे।

'चंद कंवर री बात' का रचनाकाल संवत् १७४० वि० है। ग्रन्थ रचना की आज्ञा देनेवाले खुमाण प्रतापसिंह राजपूत थे। ग्रन्थ की विषयवस्तु में शृंगार रस की प्रधानता है। इस प्रकार समकालिनत्व तथा कवि कलस के जीवन में प्राप्त तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि 'चंद कंवर री बात' के रचयिता कवि कलस महाराष्ट्र के मराठा राजा छत्रपति संभाजी के काव्य-गुरु तथा प्रधानमंत्री ही थे।

संदर्भ-संकेत

(१) चंद कंवर री बात—हस्तलिखित प्रति, सरस्वती भंडार, उदयपुर, (२) चंद कवर री बात—हस्तलिखित प्रति, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, (३) राजपूताने का इतिहास—जगदीश गहलौत (सन् १९३७ ई०) पृ० ५२४, (४) राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, प्रथम भाग, (प्रथम संस्करण) पृ० २८, (५) राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, तृतीय भाग (प्रथम संस्करण) पृ०-१६०, (६) चंद कंवर री बात—हस्तलिखित प्रति, जोधपुर, (७) राजस्थान में हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, प्रथम भाग (प्र० स०) पृ०-२८, (८) हिंदी प्रेमाख्यानक काव्य—डॉ० कमल कुलश्रेष्ठ (प्रथम संस्करण) (९) चद कंवर री बात—हस्तलिखित प्रति, जोधपुर, (१०) हिंदी-साहित्य का उद्भव और विकास-शुक्ल तथा मिश्र (प्र० सं०) पृष्ठ-३०, (११) भारतीय प्रेमाख्यान काव्य—डॉ० हरिकांत श्रीवास्तव (प्र० सं०) पृष्ठ २९६, (१२) राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, तृतीय भाग, (प्र० सं०) पृष्ठ १६०, (१३) चंद कंवर री बात—हस्तलिखित प्रति-जोधपुर, (१४) वही, हस्तलिखित प्रति—जोधपुर, (१५) वही, हस्तलिखित प्रति—बीकानेर, (१६) उग्रप्रकृति संभाजी (प्रथम संस्करण) गो० स० सरदेसाई, पृष्ठ ९९, (१७) मिश्रबंधु विनोद-भाग-२ (द्वितीय संस्करण) पृष्ठ ६५२, (१८) अजितोदय—१२/२७, २८, (१९) नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग-२, सं० १९७८, पृष्ठ ६८।

जिकड़ी भजन व ढोला : तुलनात्मक अध्ययन

•

श्रीराम शर्मा

•

अब तक के लोकगीतों के अध्ययनों में लोकगीतों के महत्व, लोकवार्ता के तत्वों आदि का ही विवेचन अधिक देखा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि लोकगीत मात्र—लोकसाहित्य के अंग विशिष्ट—के साथ आलोचको का आत्मसाक्षात्कार कम हुआ है। या तो कही वे सकलित भर कर दिये गये हैं या उनका सतही विवेचन मात्र ही रह गया है। यही कारण है कि अब तक के अध्ययनों में लोकसंगीत पक्ष पर अधिक प्रकाश नहीं पड़ पाया है।[1] लोकगीतों का प्राण उनकी लोकधुनें और तर्जे हैं, जिनकी गायन पद्धति ही ऐसी संजीवनी शक्ति है कि उसके प्रभाव से जन-मानस झूम उठता है। फाल्गुन और चैत्र के दोनों महीने रात-रात भर लोकगायक जिकड़ी भजन गाते और उनके प्रभाववश जनता को झूमते लेखक ने अनेकों बार देखा है। लेखक को लोकसंगीत में विशेष रुचि रही है। इसका कारण उसके वंश में लोकसंगीतकारों की परम्परा है। लोकगीतों में धुनों व तर्जों की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म बातों को भी लेखक की दृष्टि से ओझल न होने देने का प्रयत्न किया गया है। इसी दिशा में यह तुच्छ प्रयत्न आपके समक्ष है।

यही नहीं, अभी तक हिन्दी-संसार में एक विशेष बोली के क्षेत्र के लोकगीतों तथा दूसरे क्षेत्रों के लोकगीतों का भी तुलनात्मक अध्ययन सामने नहीं आया है। लोकगीतों की धुनें तथा उनमें व्यक्त भाव प्रत्येक क्षेत्र के लोकगीतों में समान प्रकार के पाये जाते है। ऐसे तुलनात्मक अध्ययनों से नवीन तथ्य सामने आयेंगे, इसमें कोई संदेह नही। यही नही, दो बोलियों के लोकगीतों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय, होना तो यह चाहिये कि यदि एक ही बोली के दो लोकगीतों में साम्य है तो उसकी मीमांसा भी की जाय। इस प्रकार के अध्ययनों से लोकरुचि के उन तत्वों का पता चलता है जो एक ही बोली के लोकगीतों मे ही नही, अन्य क्षेत्रों के लोकगीतों में भी मिलते हैं। इस लोकरुचि के तत्वों का अन्वेषण करना भी हमारे अध्ययनो का उद्देश्य होना चाहिये। ऐसे अध्ययनों से मानव स्वभाव, उसके चेतन व अचेतन मन की सामान्य व विशिष्ट रुचि प्रकाश में आ सकती है। इस दृष्टि में ही प्रस्तुत प्रयास में ब्रज प्रदेश में ही प्रचलित दो लोकगीत जिकड़ी भजन तथा ढोला का तुलनात्मक

प्रेरणा प्राप्त कर नल दमयन्ती की गाथा को भी ढोला कहकर पुकारा गया हो। कुछ भी कारण रहा हो, ब्रज प्रदेश में इस नल की गाथा प्रस्तुत करने वाले लोकगीत को ही ढोला कह कर पुकारा जाता है।

जिकड़ी भजन नामक लोकगीत तो शुद्ध रूप से ब्रज-प्रदेश का गीत है। इसके उद्गम व विकास पर यहाँ हम विचार नहीं करेंगे। लोककवि पुराणों से एक गाथा लेकर जिकड़ी भजन के शिल्प के अनुसार रचना करता है। अलीगढ़ के लोकगीतों में जिकड़ी भजनों का अध्ययन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। कारण यह है कि यह परम्परा से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक जाने वाला लोकगीत नहीं, अपितु जनकवियों द्वारा रचित लोकगीत है। इन जिकड़ी भजनों का निर्माण इतनी बहुलता के साथ इस प्रदेश में हुआ है कि लगभग पाँच-छः हजार भजन इस जनपद में ही व्यवहृत हो रहे हैं और इनके अध्ययन से अनेक नवीन तथ्य हमारे सामने आयेंगे। सन् १८५० से १९४० ई० तक का समय ही इनका रचना-काल माना जाता है। जनरुचि को पहचान कर लोककवियों ने इस लोकगीत का आविष्कार किया होगा क्योंकि इसका प्रचार व प्रसार इतनी शीघ्रता व बहुलता से हुआ है कि कल्पनातीत प्रतीत होता है। ऐसा ज्ञात होता है कि इस प्रदेश में एक पौराणिक प्रचार आन्दोलन चला होगा जिसका माध्यम इन जिकड़ी भजनों को बनाया गया। सभी पुराणों का मन्थन करके जो रोचक गाथाएँ हो सकती थीं, उनको लोककवियों ने इन भजनों में अनुस्यूत किया है। इतने विपुल लोकगीत-साहित्य को हिन्दी-संसार के समक्ष लाने का प्रयत्न इन पंक्तियों के लेखक ने हाथ में लिया है। इन दोनों लोकगीतों में निम्न तत्व समान रूप से उपलब्ध होते हैं :—

१. दोनों ही पुरुष गीत हैं और मनोरंजन प्रधान हैं।

२. लोकवाद्य की समानता जिकड़ी भजनों के आदि आविष्कर्त्ता हरनाम तथा हरफूल के द्वारा गाये जाने की पद्धति पर वृद्ध ग्रामीण जनों से प्रश्न करने पर पता चला कि हरफूल के दोनों ओर दो चिकाड़े वाले बैठते थे और बीच में खड़े होकर हरफूल गाया करते थे। यही चिकाड़ा नामक लोकवाद्य ढोला में भी प्रयुक्त किया जाता है।[3] मालूम होता है, यह चिकड़ा ही हमारा लोकप्रिय वाद्य था और लोकगीतों में इसी का प्रयोग किया जाता था।

३. वर्गीकरण की श्रेणी—डॉ० सत्येन्द्र के अनुसार ढोला वर्षा ऋतु में गाया जाता है।[4] अतएव इसे एक ऋतुगीत के अन्तर्गत रख सकते हैं। इसी प्रकार जिकड़ी भजन भी विशिष्ट ऋतु (बसन्त) में ही गाया जाता है।[5] अतः दोनों ही ऋतुगीत कहे जा सकते हैं।

४. गायन का आरम्भ—ढोले की तर्ज का जो स्थूल रूप डॉ० सत्येन्द्र ने बताया है[6] कि प्रारम्भ में अत्यन्त मन्द एवं मंथर गति से प्रत्येक अक्षर का पूर्ण और स्वतन्त्र
करते हुए निम्नतम ध्वनि में पाया जाता है ठीक इसी प्रकार जिकड़ी भजनों के गायन में उसका साखी भाग तथा गाहे की प्रारम्भिक पंक्तियाँ गाई जाती है

(५) सरस्वती वदना से प्रारम्भ—

कथा भाग प्रारम्भ करने के पूर्व ढोला में सरसुती (सरस्वती) को मनाया जाता है यथा—

गुरु उस्ताद, सुमिरि लऊ अपनो,
सुमिरूँ सारद माई।
तोइ सुमिरि फिरि कौने सुमिरूँ,
जसुदा जी के कुमर कन्हाई।
सुमिरूँ ब्रह्मा, विष्णु, महेश,
गवरी गनपति सुमिरूँ लाढ़िले,
जिन दीनी मोई बुद्धि विशेष॥[७]

इस सरस्वती वंदना में सभी इष्टदेव, शारदा, गणेश आदि की वंदना होती है। इससे लोकगीतकारों की धर्मप्रियता एवं ईश्वर मान्यता का परिचय प्राप्त होता है। ठीक इसी-प्रकार जिकड़ी भजनों में भी भजन के प्रारंभ करने से पूर्व 'साखी' गाई जाती है, इसमे सरसुती वंदना रहती है। एक भजन सरसुती वंदना का नीचे प्रस्तुत है। इसमें भी सभी इष्ट आदि की वंदना ऊपर के ढोले के अनुसार ही है :—

साखी—पिरथम तोइ मनामे दुरगे माइ, (अरी) अरज सुनि लीजियो।
माता सिंह चढ़ी असवार, (अरी) आस पूरण कीजियो।
गाह्यौ—(हाँ हाँ) पूरन कीजो आस देव तेरो जस गामें।
(और जो) जस के बजि रहे ढोल, भगवती तोंह मनामें॥
(तेने) सब दिन राखी लाज,
दाने मारे दुर्ग में, भगतन के सारे री माता काज॥
(सो रे भाई) गिरिजा के सुत तोइ मनामें, लौ लगि रही तेरे ध्यान में।
सुमिरूँ सुत मात गवरि को।
रगति—एकदन्त सुमिरन करूँ रे गज सूँड़ विराजै, गज सूँड़ विराजै,
तेरे ध्यान में भइया रे क दरसन दीजो।
चौक—(अरे, वाहन मूसे असवारी। तेरी सोभा यै बड़ी प्यारी॥

(लेखक के निजी संग्रह से)

(६) अरथाना तत्व (बिना वाद्य की सहायता के धीरे-धीरे पाठ)—डॉ० सत्येन्द्र ने ढोला के विषय में लिखा है कि इसे बहुत धीरे-धीरे बिना ताल स्वर और वाद्यों के संयोग से काव्य-पाठ के ढंग में गाया जा सकता है।[८] यही अरथाने की प्रक्रिया जिकड़ी भजनो की प्रत्येक झड़ गाने के बाद चलती है। इस अरथाने की प्रक्रिया के बाद ढोला में विलम्बित गति से गायन चलता है और फिर द्रुत गति में।[९] ठीक यही विलम्बित एवं द्रुत गति का क्रम जिकड़ी भजनों के 'टेकरो' पद के साथ चलता है। दूसरी टोली 'टेकरो' को बिना वाद्य यंत्र का प्रयोग किये अत्यन्त मंथर गति से निम्नतम स्वर में गाती है। इसके समाप्त होते ही पहली मण्डली अगली झड़ को द्रुत गति में गाती है

(७) छंद—ढोला में छन्द-विधान अनूठा ही रहता है। नीचे एक ढोला का खंड दिया जाता है :—[10]

जब राजा ने बात सुनाई। (१)
सोइ नारि मारग में पाईं। (२)
तीनि पीत गई थकि, (३)
पाइ ते धुरि उड़ाई (४)
दीजो भेद बताइ (५)
जौ तू खैरि जीय की चाहै, सबरौ हाल सुनाइ ॥ (६)

इसे डॉ० सत्येन्द्र ने मिश्रित छंद माना है।[11] जिकड़ी भजनों में गाहे का अंश भी उपरिलिखित ५ व ६ की भाँति है :—

नारद एक दिन कही सुनो मिथिलापति बानी।
कृष्णचन्द्र और ग्वाल बाल गमने अति ज्ञानी॥
ताल विपिन में जाय।[1]
पीछे बलदाऊ रहे[2],
कटि नील वसन छवि पाइ॥[3] (लेखक के निजी संग्रह से)

मात्राओं में एक मात्रा में भले ही अन्तर हो सकता है परन्तु ढोला के उपर्युक्त ५ व ६ अंश के ही समान जिकड़ी भजन का १, २ व ३ क्रमशः गाने में समान रूप से आता है। इस अन्तर को लोकगायक ह्रस्व का दीर्घ व दीर्घ का ह्रस्व उच्चारण कर ठीक कर लेता है।

(८) रंगति विधान—रंगति का अर्थ विभिन्न लोकधुनों व तर्जों से होता है। ढोला महाकाव्य में ढोला नामक लोकगीत के बीच-बीच में अन्य तर्ज भी आ मिलती हैं। कहीं ज्यौनार, कहीं गारी, कहीं मल्हार का पुट आ जाता है तो कहीं निहालदे का।[12] इन लोकगीतों में से अनेकों जिकड़ी भजनों में भी प्रचुरता से मिलते हैं। उदाहरण के लिये एक जिकड़ी भजन नीचे दिया जाता है जिसमें आल्हा, छंद, दौड़ या चौक तथा लावनी आदि कई प्रकार की रंगतें आई हैं—

टेक—प्रगटे मर्याद बिगारा।
टेकरा या इकबोला—बिगरी दशा देख भारत की।
झड़—बात-बात में झूठ कहन ते, बानी को बलु घटि जावै।
अधरम और डिगावै चित कूं, बाकी मनुआ दुख पावै॥
तोड़—(सो) बिन हरि भजन आतमा में सबु लागे रहैं विकारा॥१॥ प्रगटे०
टेकरा—दया बिना नर होत कसाई।
झड़—विप्र को तेज भजन करि हरि कौ, क्षत्री को तेज दया कहिये।
वैश्या को तेज प्रजा परिपालन, सूद्र सदा सेवा रहिये॥
चौक या दौड़—विद्या सबने विसराई। एक उदर ते हेतु लगाई॥
विद्याऊ विप्र पढ़ि जावैं। बस झूठ कं सौक बढ़ावैं॥

लावनी—ब्याह न जिनके होइ, वंश गये खोइ, भये धनहीना।
जे घर-घर घूमत फिरे भये अति दीना॥
तोड़—(सो) बिगरै दशा सदा उन जन की, जिनने धर्म बिसारा॥२॥ प्रगटे०
टेकरा—और कहा हालति है भाई।
झड़—अपने पंख गऊ और बछरा, बेचें हाथ कसाई के।
जा घर भोजन करें अधर्मी, चिल्ल डिगामें लाई के॥
चौक या दौड़—ईश्वर ना रहे सहाई। गई फसलि बिगरि कैं भाई॥
भयो देश भेदष बिकाराला। ईसाई यमन कराला॥
जैनी भये कहीं किरानी। भूले वेदन की बानी॥
आल्हा—विप्रवंश में जन्म धारिके जग कौ तुम कीजै उपकार।
परशुराम और द्रोण गुरु बनि यवनु इसाईनु देउ निकारि॥
हमई ए जा जग के स्वामी, हमई ए घर-घर सरदार॥
हमई सुधारें देश हिन्द कू, जा ते होवै बेड़ा पार॥
तोड़—(सो) विप्रन को परताप पाइके, मिले मुक्ति को द्वारा॥३॥ प्रगटे०
टेकरा—वल्लभ रामानुज संकर से।
झड़—उदर के काज फिरो मति घर-घर, कृषि को काज करो भाई॥
बिप्र बनो वामनपन छोड़ो, जब तुम देखो रसिथाई॥
छंद—अबला लइ बहकाइ कैं बालक चुराये जा रहे।
पूजन गई मियां जलेसर गर्भ कूं अति दुख सहे।
कानून बदल्यौ देश कौ, सुद्धी करो अपनी सही॥
अब सुद्ध सोई तौ बिदेशी, देख लेउ अपनी कही॥

(लेखक के निजी संग्रह से)

(९) प्रचलन समय—इन दोनों प्रकार के लोकगीतों का प्रचलन कब से प्रारम्भ हुआ इसका निश्चित पता तो नहीं चलता, किन्तु संभावित समय लगभग साथ-ही-साथ बैठता है। डॉ० सत्येन्द्र ने ढोला के आदि आविष्कर्ता मदारी का समय लगभग १५० वर्ष पूर्व ठहराया है।[13] इन पंक्तियों के लेखक ने जिकड़ी भजनों के आदि आविष्कर्ता हरनाम व हरफूल के वंशजों से पूछताछ की तो उनका समय लगभग ११० वर्ष पूर्व का बैठता है। यह बात तो निश्चित है कि ढोला कुछ समय पूर्व में ही समाज में प्रचलित था और वह इतना लोकप्रिय हुआ कि उसकी कुछ प्रवृत्तियाँ जिकड़ी भजनों में भी आ गईं। इससे लोक-रुचि के विशेष तत्वों का पता चलता है।

(१०) कनटेका तत्व—गायन प्रणाली में, जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, चिकारे के प्रयोग का साम्य तो दोनों लोकगीतों में मिलता ही है, एक अन्य महत्वपूर्ण बात है कनटेका की। कन = कान व टेका = हाथ टेककर गाने की। विद्वान् डॉ० सत्येन्द्र ने मदारी के ढोले को कनटेका ही बताया है[14] यही कनटेका तत्व जिकड़ी भजनों में भी मिलता है

(११) आविष्कार व गायन क्षेत्र—दोना ही लोकगीतों का आविष्कार मथुरा-अलीगढ़ जनपदों में हुआ है और यहीं इनका प्रचलन भी बहुल है। इन लोकगीतों में जनरुचि का महान प्रदर्शन होता है, क्योंकि इनका प्रचलन व्यापक रूप से मिलता है। इन दोनो जनपदों में ऐसा कोई ग्राम नहीं होगा जहां ढोला और जिकड़ी भजनों के गाने वाले न मिलें।

दोनों लोकगीतों के आदि आविष्कर्ता भी इन्हीं जनपदों के थे।

(१२) प्रबन्ध तत्व व पौराणिक प्रभाव—ढोला में प्रबंध तत्व बहुत पुष्ट रूप से मिलता है। मदारी ने ढोला मारू की कथा नगरकोट की यात्रा में राजस्थान के यात्रियो से सुनी होगी, ऐसी संभावना डॉ० सत्येन्द्र ने व्यक्त की है, जो अक्षरशः सत्य प्रतीत होती है। (नगरकोट की देवी की जात के लिये) राजस्थान (मारवाड़) के बहुत यात्री प्रतिवर्ष आते है। पहले जब यातायात के इतने साधन नहीं थे, पठानकोट से नगरकोट तक पैदल यात्रा तय की जाती थी। रात्रि में बहुत-से यात्री एक साथ पड़ाव डालते थे और वहां जंगली पशुओं के भय से तथा जाड़े के कारण आग के सहारे बैठे यात्री संभवतः किस्से-कहानी कहते होंगे और तभी मदारी ने यह कथा राजस्थानी यात्रियों से सुनी होगी। इसी तरह के कथानक की नींव पर ही जिकड़ी भजन का महल भी खड़ा किया गया है।

जिस प्रकार गढ़पती के समय में ब्रज प्रदेश की लोकप्रिय नल की कहानी, जो पौराणिकता के जनजीवन में प्रभाव के कारण प्रचलित थी—ढोला के ऊपर छा गई।[१६] उसी प्रकार की पौराणिक गाथाओं से जिकड़ी भजन भी ओत-प्रोत हैं। पुराणों की सभी गाथाओं को जिकड़ी भजनकारों ने अपने भजनों का विषय बनाया है।

(१३) सुरैया तत्व-ढोला के गायन में सुरैया को हम नहीं भुला सकते हैं। डॉ० सत्येन्द्र के शब्दों में 'सुरैया ढोला में बहुत आवश्यक और अनोखा तत्व है, जो अन्य लोकगीतों में इस रूप में नहीं मिलता। आल्हा भी ढोला की भाँति गाया जाता है पर उसमें सुरैया की आवश्यकता नही पड़ती। सुरैया का काम सुर भरना है। ढोला गानेवाला जब पद को समाप्त कर विराम लेता है तो वह सुरैया उसके सुर में सुर मिलाकर आलाप-आलाप करता रहता है। ढोला गायक कुछ काल विराम ले लेता है।[१७]'

जिकड़ी भजनों में ढोला गायक के स्थान पर अगेड़िया जोट या अग्रदल है और दूसरे स्थान पर पिछेड़िया जोट या अनुगामी दल है। पहली जोट के समाप्त करने पर पिछली जाट उसके पद के आधे अंश को दोबारा कहकर सुर भरती है और कुछ काल मझली जोट वाले गायक विराम ले लेते हैं। यही सुरैया का तत्व टेकरा नामक पद के रागने में होता है। जब एक झड़ को प्रेमला गायक दल गाने को होता है तो पिछले दल से कहता है कि रागो, तो पिछेड़िया जोट सुर मिलाकर रागती है। तब फिर अगेड़िया जोट झड़ को द्रुत गति में गाना प्रारभ कर देती है।

(१४) अन्त में पुच्छ पद का साम्य—यह एक अद्भुत साम्य दोनों लोकगीतों में है कि उनके प्रत्येक गीत के अन्त में ईश्वर या देवी-देवताओं की जै बोलने का तत्व विद्यमान

रहता है। ढोला के प्रत्येक पैरी के समाप्त होने पर लोकगायक 'बोलो माई अटल छत्र की जै' बोलता है। यह बोल भी लोकगीत का एक अभिन्न अंग बनकर ही आता है। तात्पर्य यह कि इस बोल के अभाव में लोकगीत गाया ही नहीं जा सकता, क्योंकि उसकी लय कट जाती है।

जिकड़ी भजन के टेकरा नामक अंग के अंत में लोकगायक 'नमो भवानी ज्वाला', 'थेईरा भजि राधे' आदि अनेक प्रकार से ईश्वर की जय-जयकार करने वाले पदांश गाते है। इस प्रकार के बोलों पर आधुनिक राष्ट्रीयता का भी प्रभाव पड़ा है और उसके फलस्वरूप 'अमर तिरंगा झंडा' नामक बोल ने स्थान ले लिया है।

गावहुग्रौ—खेलन गये शिकार विपिन बिच दोनों भाई।
मारे वन के जीव, सिंह आदिक दुखदाई॥
तुम सुनौ मित्र दै कान।
आँधी अति प्रचड है आई, जाकौ कहूँ अभारी ध्यान॥
(सो परि बिछुड़ी सैन विपिल बिच उनकी, दोऊ भ्राता संग में नाईं रहे।
टेक—बिछुड़े वन बीच कुमारा।
टेकरा—हेमचूड़ ग्वांते चल दीयो। (थेई रा भजि राधे)
झड़—आश्रम मिल्यौ तपस्वी को एकु, हैमचूडए कू सुनि भाई।
अति रमणीक मुनी कौ आश्रम, शोभा नहिं बरणी जाई॥
तोड़—(सो) आश्रम शोभा देखि कुँमर कूं भयौ आनन्द अपारा॥१॥ वि५:
टेकरा—आश्रम में एक कन्या देखी। (थेई रा भजि राधे)

(स्वर्गीय बेनीराम शर्मा नगला दानसहाय कृत)

इसी प्रकार एक भजन में चार झड़ होती है और प्रत्येक झड़ के अन्त में टेकरा नामक अंग के गाने के क्रम में यह बोल 'थेई रा भजि राधे' गाया जाता है। कोष्टक के अन्दर वाले अंश गाये जाते हैं परन्तु लिखे नहीं जाते।

इस प्रकार जिकड़ी भजन एवं ढोला नामक लोकगीतों में रचना प्रकार (स्वरूप), गायन पद्धति, संगीतात्मकता, प्रबंधात्मकता आदि अनेक तत्व समान रूप से विद्यमान पाये जाते है।

संदर्भ-संकेत

(१) राजस्थान का लोकसंगीत (भूमिका) (देवीलाल सामर) लोक कला मंडल उदयपुर द्वारा २०१२ वि० में प्रकाशित (२ ब्रजलोक साहित्य का अध्ययन (पृ० ३५७ से ३७० तक) (३) ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन पृ० १५७ (डॉ० सत्येन्द्र) (४) वही पृ० ३५७ (५) लेखक का ''भारतीय साहित्य'' वर्ष ८ में प्रकाशित ''जिकड़ी भजनों मे चमत्कार प्रदर्शन की भावना'' लेख। (६) ब्रजलोक साहित्य का अध्ययन, पृ० ३६९ (७) ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन पृ० ३६९-३७० (८) वही—३७३ पृ० (९) वही - पृ० ३७३ (१०) वही पृ० ३७२ (११) वही, पृष्ठ ३७३ (१९४७ संस्करण) (१२) ब्रज लो० सा० का अध्ययन पृ० ३७३ व १११ (१३) ब्रजलोक साहित्य का अध्ययन, पृ० १०६ (१४) वही पृ० १०७ (१५) वही पृ० ११० (१६) ब्रज लोक साहित्य अध्ययन, पृ० १११ (१७) वही, पृ० ३५७ (१८) लेखक के निजी संग्रह से।

मूल्य-स्तबक की वैयक्तिकता तथा परस्पर-स्पर्धा

•

रमेश कुंतल मेघ

•

मूल्य-स्तबक में हम मुख्य रूप से मूल्य और उपयोगिता, मूल्य और सुख, मूल्य और श्रम, मूल्य और चरमोत्कर्ष की संबंधात्मक स्पर्धा को गूंथते है ताकि सामाजिक मूल्यों की वैयक्तिकता, और वैयक्तिक मूल्यों की सामाजिकता भी परिलक्षित हो सके। इसलिये हम पहले व्यक्तिगत मूल्यों से समारंभ करते है।

व्यक्तिगत मूल्य (Individual Values) : व्यक्तिगत मूल्यों और व्यक्तिवादी-धारा मूल्यों में गम्भीर अन्तर, और कहीं कहीं विरोध भी है। व्यक्तिगत मूल्यों की स्थापना व्यक्ति की समाज में विशिष्ट रुचियों अथवा व्यक्तित्व की आत्मान्वेषी आस्थाओं, स्मृतियों, प्रतीतियों द्वारा होती है। इसमें सामाजिक परिष्कार से नियमित व्यक्ति मुक्त भी हो सकता है और स्वेच्छा-पूर्वक बंदी भी। परन्तु व्यक्तिवादी-धारा अहंवादी और अन्य हितों से भी पूर्ण रहती है। ये मूल्य समाज-संबंधों, सहयोग और सापेक्षता से प्रेरित हो, यह अनिवार्य नहीं है। परन्तु व्यक्तिगत मूल्य इंद्रिय-बोधों और भावनात्मक-विकासों तथा जीवन-संघर्षों के परिणाम हैं, जो समाज पर या तो सीधा एकतामय प्रभाव डालते हैं, अथवा केवल विशेष व्यक्ति तक सीमित रहते हैं। सुतरां व्यक्तिवादी विचारधारा के मूल्य अपने व्यावहारिक रूप में विकृत, समाज-विमुख और कभी-कभी समाज के प्रति विद्रोहपरक भी हो जाते है। व्यक्तिगत मूल्य या तो मनुष्य की इंद्रियों से एकात्म्य स्थिर रखते हैं अथवा सामाजिक चिन्तन एवं कृतित्व में अपना प्रतिबिंब डालते हैं। किसी व्यक्ति के लिये उसके प्रियजन का एक रूमाल या चित्र, कोई विशेष कवि अथवा कोई संवेदनात्मक स्मृति आदि श्रद्धात्मक व्यक्तिगत-मूल्य हो सकती है लेकिन वे समाज विरोधी या समाजपोषक हों, यह आवश्यक नहीं है। दूसरी ओर, व्यक्ति सामाजिक कृतियों में अपने मन के आदर्शों, जीवन के संघर्षों, सामाजिक चिन्तनों तथा भावनात्मक व्याख्याओं को प्रतिबिंबित करके भी व्यक्तिगत मूल्यों की स्थापना करते हैं। उदाहरण के लिये निराला की कविता, 'राम की शक्ति पूजा' में कवि निराला का परुष, संघर्षशील, प्रबुद्ध, चिन्तक पुरुष पुकारता है तो 'कामायनी' में प्रसाद ने व्यक्तिवादी समस्या-समाधान प्रस्तुत किया है या श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान की कविता में उनका पत्नी, प्रिया तथा माता का व्यक्तित्व उत्कंठातुर, लज्जाशील और रागोन्मद है। अस्तु, ये कृतित्वान्वित व्यक्तिगत मूल्य उस विशाल और व्यापक समूहगत सामाजिक चिंतनों के लघु अंश होते हैं जिनके द्वारा किसी भी युग के स्रष्टा तत्कालीन रूढ़ियों, पराजयों क्षयों तथा ह्रासों से विद्रोही संघर्ष अथवा सामाजिक निधियों का पोषण करके नये

जीवनादर्शों, कला-मानों और समाज-संबंधों की कल्पना करते हैं। जोन लेयर्ड कहते हैं कि हो सकता है कि व्यक्तिगत मूल्यों का आर्थिक प्रकार्य (फंक्शन) न्यूनतम हो लेकिन ये उपयोगी अवश्य हैं। व्यक्तिगत मूल्यों की परिधि में सचमुच सभी मूल्यों की परम्परा आ जाती है किन्तु शारीरिक और बौद्धिक मूल्य विशिष्ट रूप मे अन्तर्निहित हैं। स्वास्थ्य, संपत्ति, सुख व्यक्तिगत मूल्य हैं। कीर्ति, यश, शैली, कला-सृजन अपनी आरंभावस्था में व्यक्तिगत मूल्य हैं। यद्यपि कीर्ति सामाजिक संगत से ही प्राप्त होती है, तथापि उसके लिये नूतन भावनात्मक मौलिक सृजन तथा प्रतिभा का सौन्दर्यात्मक लावण्य चाहिये। ज्ञान-प्राप्ति की इच्छाएं बौद्धिक मूल्यो के अन्तर्गत आती हैं। प्रत्येक व्यक्तिगत मूल्य का बोधात्मक और कौतूहलपूर्ण भाग बौद्धिक मूल्यो का हेतु और कारण भी है। ज्ञानोपार्जन, गणित के सिद्धान्त, जिज्ञासा, नूतन कला, विज्ञान, शैलियों का अन्वेषण आदि बौद्धिक मूल्य हैं। किसी वस्तु के प्रति तर्कपूर्ण दृष्टिकोण एवं बौद्धिक अन्तर्दृष्टि बौद्धिक मूल्यांकन का आधार है।

व्यक्तिगत-मूल्यों को अलग करके समाज, सृजन, संस्कृति की कल्पना करना असंभव है। यदि व्यक्तिगत मूल्य संस्कृति की परम्पराओ से समृद्ध, समाज के संबंधों से विकासशील तथा सृजन की अनुगूंजों से नयी कृति बंशियों से मुखर होने वाले मूल्य नहीं बनते तो वे व्यक्तिगत न रह कर पतनोन्मुख व्यक्तिवादी धारा के पोषक हो जाते है। अतः इनकी इस असंतुलित स्थिति के एक छोर पर अन्तर्चेतना की आस्था, जीवन के संघर्ष, कीर्ति, प्रेम, सृजन के भावालोक रहते है, तो दूसरी ओर समाज में निरंतर गतिशील शक्तियों, चिंताओं और बौद्धिक-योजनाओं के विस्तृत प्रदेश। व्यक्तिगत मूल्यों के आधार पर ही सुखर-स्वस्थ व्यक्तिवादी धारा के सामाजिक उन्मेष आधारित हैं --जब व्यक्तिवाद अपने आत्मकेन्द्रित, असंतुलित, स्वार्थी, सुखों-दुःखों से ऊपर उठकर समाज और व्यक्ति और स्वयं का अन्वेषण करता है, केवल तभी व्यक्तिगत मूल्य तथा मानवीय मूल्यों के चरम विकास की संभावनायें अभ्युदित होती है। विश्व के महत्वपूर्ण कलाकारो, मनीषियों और नेताओं के जीवन से यही मानुषी-सत्य अभिव्यक्त होता है। व्यक्तिगत मूल्य व्यक्ति-विरोधी नहीं अपितु व्यक्ति निर्माता, उदात्तलय और सामाजिक रंगदीप्ति के संयोजक होते हैं-- उनका स्वतः ही सामाजिकीकरण हो जाता है। व्यष्टि-समष्टि के धरातल घुलमिल जाते है। इस अवस्था में मूल्य सामाजिक आयामो में प्रसार पाते हैं।

मूल्यों की अन्य तत्वों से तुलनात्मक स्पर्द्धा

१—मूल्य और उपयोगिता (Value and utility) के सम्बन्धो की विवेचना कला, दर्शन और अर्थशास्त्र में विभिन्न प्रकार से हुई है। लेकिन उपयोगिता के अर्थशास्त्रीय प्रयोजन एवं उपयोग-रत-मूल्य समझने में कम कठिनाई होगी। कोई वस्तु हमारे लिये उपयोगी है अर्थात् वह किसी मतलब के लिये लाभदायक है अर्थात् वह किसी चरम उत्कर्ष का साधन है। लेकिन किसी वस्तु का उपयोगी होना आर्थिक दृष्टि में तभी तक उचित है जब तक कि वह पूर्ण नहीं है अपितु आगामी क्रियात्मकता के लिये एक साधन है, जबकि वह सत्य भी नहीं है या फिर मानसिक श्रम के कारण सत्यों को तोड़ती-मोड़ती नहीं है क्योंकि यदि सत्य होना

ऋतुओं में पराग केशर से मानवीय अंतर्भावों को उर्वर किया करता है सुख की आत्मगत परिव्याप्ति भी है क्योंकि वह अनुभूति परक है (जैसे काव्य संगीत आदि में एक ओर यह संबंध उपयोगितावाद से जुड़ा है, तो दूसरी ओर लोकायत (भोगवाद), मनोविज्ञान, रसवाद, तथा सौन्दर्यशास्त्र से। प्रोफेसर जोन लेयर्ड कहते हैं, "सुख सर्वदा गतिमय और उत्तेजक होते हैं...लेकिन हमारे श्रेष्ठ और विशुद्ध हर्ष (Joys) उच्चतर श्रेणी के होते हैं।... इस प्रकार के शुभों के अन्तर्गत शांति कहलाने वाले धार्मिक उल्लास, मानवीय प्रेम के अधिकांश उद्रेक, सौन्दर्य के पर्यायार्थी अधिकांश सौन्दर्य-मूल्य, सरलतापूर्वक सम्मिलित कर लिये जाने चाहिये।"[1]

भोगवाद (Hedonism) का सिद्धान्त यूनान में प्राचीन काल में प्रचलित हुआ, जिसका लक्ष्य सुख-प्राप्ति का ज्ञान था। तब से यह तर्क दिया जाने लगा कि जो नैतिक रूप से 'शुभ' हो, मनुष्य उसकी इच्छा करता है। लेकिन मनुष्य जो भी चाहता है, वह भी शुभ हो, यह कदापि सत्य नहीं हो सकता। 'शुभ' वह नहीं है जिसकी हम इच्छा करते हैं; लेकिन शुभ वह है जो वांछनीय (जिसकी इच्छा करनी चाहिए) हो। स्पिनोजा के कथन में किसी वस्तु के 'शुभ' होने के कारण हम उसकी इच्छा नहीं करते बल्कि हमारी इच्छा के कारण वह 'शुभ' हो जाती है, पुनः विषय एवं विषयिप्रधान मतों का द्वंद्व प्रारंभ हो जाता है। हरेक सुख तो शुभ नहीं हो सकता है। हाँ, प्रत्येक शुभ प्रकारांतर से सुख प्रदान अवश्य कर सकता है। भोगवादियों ने इस विभेद को स्पष्ट नहीं किया। उनका सिद्धान्त रोम के विलासी वर्गों ने 'खाओ, पियो, और मौज करो' के सिद्धान्त में विकृत कर दिया। इसीलिये इसके पहले ही अरस्तू ने कहा था कि सुख को शुभ का निकष मानना अवांछित है, क्योंकि सुख व्यक्ति की समग्र चेतना तंद्रिक्त करके उसे लिप्त कर लेता है जिससे बुद्धि और शुभ-भाव का तिरोभाव हो जाता है। लेकिन सुख का व्यापक अर्थ मानवीय-कल्याण (Happyness) है। इस ध्येय को भारतीय मनीषियों ने 'आनन्द' और प्लेटो-अरस्तू ने 'निर्विशेष-मानस' के अन्तर्गत रखा। अरस्तू ने स्वीकार किया कि भौतिक-सुविधा के अभाव में सत्कार्य असंभव है लेकिन खुश (Happy) तो वही मनुष्य है जो कला, विज्ञान, दर्शन या अन्य विवेक-चिंतन में ध्यानी (Contemplative) हो सकता है। उन्होंने व्यक्ति और समाज के कल्याण को असबद्ध नहीं माना। कल्याण की दूसरी व्याख्या यूनान के महान् दार्शनिक ईपिकुरस ने की। ईपिक्यूरियन आदर्श के अनुसार मनुष्य को सुख-प्राप्ति की ओर अग्रसर होना चाहिये। जीवन का उद्देश्य सुख-प्राप्ति है जो प्रकृति के अध्ययन और विश्व-ज्ञान से प्राप्त हो सकता है। केवल गुण (Virtue) [जैसा कि स्टोइकवादी कहा करते हैं—] ही सुख नहीं है। सुखी होने के लिये मनुष्य को गुणवान होना चाहिये। गुण सुख का एक साधन है। अतः जब गुण दुख प्रदान करने लगे तो वह गुण नहीं रह जाता। अतः मनुष्य को महान्, बुद्धिमान्, विवेकशील होना चाहिये। सुख और आनन्द ही मानव-जीवन का लक्ष्य है—यूनान में तटस्थ दर्शन की नींव ईपिक्युरस ने डाली।

लेकिन ईपिकुरस के आदर्श (भारतीय दार्शनिकों के त्याग व तपस्या के आदर्शों की तरह) समाज में रह कर नहीं, बल्कि समाज से संबंध-विच्छेद करके प्राप्त किये जा सकते थे।

प्लेटो और अरस्तू समाज में सम-व्यवहार रखने के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते थे। मनुष्य की आवश्यकताओं को न्यूनतम करके वे उसे सामाजिक, सांस्कृतिक, भौतिक और व्यक्तिगत उत्तरदायित्वों से पलायन करा देते थे। संतोष और त्याग द्वारा ही वे सुख-प्राप्ति के माध्यम से एक ओर तो व्यक्तित्व की सांस्कृतिक और संवेदनात्मक सहानुभूति विकसित करते थे, दूसरी ओर, उत्तरदायित्वों से पलायन भी कराते थे। आनन्द की महत्ता पर उपनिषद् में 'बोधि' अवस्था की ओर संकेत किया गया है। कहा भी गया है—'आनन्दाध्येव खल्विमानि भूतानि जयन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दमप्रत्यभिषाभि-विशन्ति।'[2]

कला की व्यंजना के लिए यह मत विभिन्न दृष्टिकोणों से स्वीकृत किया गया। यहाँ संक्षेप में मूल्य और कला-सुख के सम्बन्धों की चर्चा की जायेगी। फायड-स्कूल को मानने वाले मनोवैज्ञानिकों ने 'इच्छा' की काल्पनिक अभिव्यक्ति को ही कला की संज्ञा दी। अवचेतन मन में दमित इच्छाओं का उदात्तीकरण होने से कला मनुष्य की काम-वृत्तियों को, सुख भावना को भीषण संघर्षों से मुक्त करती है। इच्छाओं और वास्तविकता के बीच ('यथार्थ एवं सुख-सिद्धान्त' के अनुसार) कला इच्छाओं की एक पूरक क्रिया होती है। फ्रायड ने समाज, वातावरण श्रेष्ठता और अन्य कारणों का पूर्णतः तिरस्कार कर कुछ अव्यक्त वृत्तियों का सहारा लिया। लियोनार्दो-विंची और शेक्सपियर का 'हेमलेट' नाटक फ्रायडवादी मनोवैज्ञानिकों के व्याख्याधार रहे।

दूसरा मत कला को केवल कला के लिये, या आनन्द के लिये, या स्वतः कला की तृप्ति के लिये अस्तित्वमान होना स्वीकार करता है। आस्कर वाइल्ड कहते है :—"सब कला बिल्कुल बेकार हैं।" ये कला को जीवन से पलायन का साधन मान कर समाज से, व्यक्ति से, सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों से पूर्णतः नाता तोड़कर कला-सृजन करना चाहते है। कला कला के लिये की प्रवृत्ति का उद्गम् वहीं होता है जहाँ कलाकार अपने सामाजिक वातावरण से विछिन्न हो जाता है।[3] प्लेखानोव ने इस प्रकार के आत्म-केन्द्रित कलाकारों की कला की विवेचना की और बोदलेयर, पुश्किन (की कुछ उत्तरकालीन कविताओं), फ्रेंच रोमेंटिक कवियों के विकारों को ढूंढ़ निकाला। कला के व्यक्तिगत आनन्दानुभव में भारतीय रसवाद का सिद्धान्त एक आम उदाहरण है। यदि कला के मानवीय मूल्य होते हैं तो निश्चित ही कला का संबंध समाज और वातावरण से—साधन और आवश्यकताओं से स्थापित हो जाता है। अतः पलायन और विशुद्ध कलावाद एक ही साँचे में कैसे ढाले जायेंगे? यदि कला के मानवीय मूल्य क्लासिकल और सांस्कृतिक हैं तो अवश्यमेव वे मानवीय तृप्ति के निमित्त होंगे। अतः उनमें शांत तल्लीनता और साधना की भावना प्रवेश करेगी। यद्यपि कला के व्यावहारिक मूल्य कम होते हैं लेकिन सौन्दर्यात्मक और बोधात्मक मूल्यों से तो इन्कार नहीं किया जा सकता? सुख तो कला देती ही है लेकिन अपनी सांस्कृतिक परम्परा और मनुष्यता के प्रेम तथा सौंदर्य की कुछ कुशलता के कारण सुख को शुभम्-सत्यं और सुन्दरम् में भी परिणत करती है। तालसताय कला का सुख-बोध सम्पूर्ण मानवजाति में फैलाकर एक ईसाई नैतिक सृष्टि करना चाहते थे; प्लेटो कला की नितांत अनुकृतिमत्ता, ऐहिकता और उत्तेजनात्मकता के व्यापक प्रचार के कारण उसे त्याज्य समझते थे भारतीय रसवादी

आचार्य कवि को रस-स्रष्टा मानते थे और उसके रस-स्रष्टा होने के साथ सहृदय को रस-भोक्ता भी। वे काव्य को आत्माभिव्यक्ति मानते हैं, जिसका प्रसार लोकोत्तर आनन्द की ओर होता है। वे उसके सुख को लोकोत्तर और आध्यात्मिक मानते हैं। यहीं से वे सामान्य सामर्थ्य और स्वाभाविक रसानन्द को गूढ़ तथा अलौकिक बना देते हैं। पात्रों से तादात्म्य, कला की भावनात्मक परिष्कृति की कुशलता से वे इतना मोहित हुए कि उसे व्यावहारिक भावभूमियों से ही परे उठा दिया। वास्तव में यह आदर्शोन्मुख सामन्तीय स्वच्छन्दतावाद का परिणाम है जो सम्पूर्ण भारतीय शास्त्रीय काव्यों में व्याप्त है।—मूलतः इन रसवादी आचार्यों ने काव्य का महत्तम मूल्य आनन्द माना।

(२) मूल्य और श्रम (Labour and value) के सम्बन्धों की चर्चा करते समय हमें मार्क्स की इस स्थापना को नहीं भूलना चाहिये कि आर्थिक मूल्यों के समावेश से ही नवलतर मूल्य-सिद्धान्तों का उद्भव होता है। ऊपर यह सिद्ध हो चुका है कि वस्तुतः किसी वस्तु की इच्छा करने या उस उसके ध्यान (contempration) करने का अर्थ हमारे द्वारा उसको मूल्यांकित करना होता है। पहले हम यह भी सिद्ध कर चुके हैं कि किसी वस्तु की उपयोगिता उसके सुख-प्रदान करने के साधनों में, और कष्ट (pain) निवारण करने की क्षमता मे है। सुख प्रदान करने और कष्ट निवारण करने की क्षमता के साधन अर्थशास्त्र के शब्द-कोष में क्रमशः 'संतुष्टि' और 'अतृप्ति' कहलाते हैं। अतः जब ऐडम स्मिथ ने पानी को उपयोगी तथा हीरे को अनुपयोगी कहा था तो उनका तात्पर्य यह नहीं था कि हीरे की प्राप्ति पानी से कम संतुष्टि या व्यक्तिगत सौन्दर्य सज्जा प्रदान करती है। वे केवल राजनैतिक अर्थ-तन्त्र के प्रयोजनों से ही इस धारणा की व्याख्या कर रहे थे। व्यक्तिगत सज्जा की भावना के द्वारा रति-भावना भी एक आर्थिक प्रक्रिया इस अर्थ में बनती है कि यह नारी को गृह की रानी तथा पुरुष के श्रम और शक्ति का केन्द्र, तथा अलंकारों को पारिवारिक सुरक्षा तथा सामाजिक इकाई का आधार बनाती है। व्यक्तिगत सज्जा के कारण ही हम डार्विन का जीव-शास्त्र (Biology) का वह सिद्धान्त पाते हैं जिसके अनुसार रंगों के सौन्दर्यात्मक मूल्य स्थापित होते है। प्रकृति में पक्षी और पशु अपने फैले हुये रंगीन पंखों, ग्रीवाओं, चंचुओं, पंजों, पूँछों से परस्पर युगलों को आकर्षित करते हैं। परन्तु इच्छा और श्रम के उत्पादन द्वारा प्रस्तुत वस्तु का विनियम होता है और इसी विनियम-सम्बन्ध में उपयोगिता का महत्व, कुशलता की अभिव्यंजना है। कलाकार अपने माध्यमों का (रंग, प्रस्तर, शब्द आदि) अन्य श्रमों और सांस्कृतिक क्रतुओं से विनियम करता है और उसमें प्रदान किये हुये सौन्दर्यात्मक मूल्य की माँग (demand) को अनिवार्य बनाता है। श्रम ही उनके मूल्य का निर्धारण करता है। यदि हम वस्तु का विनियम नहीं करते तो उसके आधारों अर्थात् अपने कौशल और समय का विनियम करते हैं और यही श्रम-प्रदत्त विनिमय कला को अमूल्य बनाता है (उपयोगिता = माँग), क्योंकि कला के मूल्य बाजार के मूल्य न होकर उपयोग के मूल्य और मानवीय-मन के मूल्य हैं। अपने श्रम (labour) और अवकाश (leisure) के विनिमय द्वारा कला सस्ती वस्तु को भी बहुमूल्य बना देती है। अतः बाजार कला का सबसे बड़ा शत्रु है। प्राचीन सभ्यताओं में श्रम प्रक्रिया के द्वारा इस सौन्दर्य और सत्य की उद्भावना तथा परस्पर प्रभाव

इतने स्पष्ठ ह कि इसके वरान की आवश्यकता ही नही है फस्ल काटना श्रम है तो वह नृत्य भी है यह यथाथ से सबधित है लेकिन यह सुख भी है आदिम मनुष्यो के लिये सभी सामाजिक प्रकार, व्यवहार और श्रम संचालन इच्छात्मक तथा क्रियात्मक, दोनो हैं।[४] जाज थामसन ने भी कुछ अद्भुत निष्कर्ष निकाले हैं (१) नृत्य, संगीत और काव्य की तीनों कलाये प्रारम्भ में एक थीं, (२) उनका उद्गम परिश्रम-रत मानव-समूहों के अंगों के ताल-युक्त (Rthythmic) संचालन द्वारा हुआ, और (३) इस संचालन के दो भाग थे—शारीरिक और मौखिक।[५] जार्ज थामसन के इस मत को मैक्समूलर भी मान चुके हैं। मैक्समूलर भाषा का उद्गम ही सामूहिक परिश्रम से मानते थे और भाषा को सबसे बड़ा बौद्धिक मूल्य।

सभ्यता का ऐतिहासिक विकास मानवीय समाज के श्रमगत विभाजन से प्रारभ होता है। सम्पूर्ण मार्क्सवाद की समाजवादी व्याख्या श्रम की महत्ता, श्रेष्ठता, और पूजा पर आधारित है। मार्क्सवाद में इतिहास की भौतिकतावादी व्याख्या विश्व-सभ्यता और सस्कृति के विकास की व्यापक और वैज्ञानिक आलोचना करती है। मनुष्यों के जीवन-यापन के साधन ही उनके आर्थिक और सामाजिक सम्बन्धों को संचालित करते हैं, और अपेक्षाकृत ये ही सामाजिक सम्बन्ध उनके बौद्धिक-दृष्टिकोणों का भी निर्धारण करते है। जैसे-जैसे अनुभवों और अनुसंधानों के द्वारा उत्पादन के ढंग परिवर्तित होते जाते हैं, वैसे-वैसे ही मनुष्यों द्वारा भिन्न-भिन्न उत्पादन-सम्बन्ध, और उसी के पूरक रूप में उसकी मानवीय चेतना परिवर्तित होती जाती है। अतः मनुष्य की कला, संस्कृति, आदर्श, सिद्धान्त, नियम सभी बदलते हैं। परन्तु इन्हीं वर्गों द्वारा श्रम का विभाजन हुआ और नये मूल्यों की उद्भावना हुई—इतिहास की भौतिक व्याख्या ने रिनैसां काल, सुधार काल, सामंतकाल की प्रवृत्तियों और मूल्यगत आस्थाओं, पूँजीवाद युग के संघर्षों और भविष्य का ऐतिहासिक औचित्य और महत्व समझाया। मार्क्सवाद के अनुसार कोई भी वस्तु माल (Commodity) है, यदि वह मानवीय इच्छा की तृप्ति करती है और किसी दूसरी वस्तु से विनिमय की जा सकती है (जो उसका विनिमय-मूल्य होगी)। मूल्य की महत्ता उस श्रम द्वारा नापी जाती है जो सामाजिक रूप से अनिवार्य हो, या फिर उस श्रम-समय द्वारा नापी जाती है जो उपयोग-मूल्य को सामाजिक बना दे। इस प्रकार श्रम द्वारा ही सब मूल्यों की उद्भावना होती है। श्रम-समय की यात्रा के अनुपात से ही किसी वस्तु का मूल्य मापा जाता है। मार्क्स के दर्शन में मूल्यों के निर्माण के लिये श्रम-समय एक सामाजिक आवश्यकता है। मार्क्स ने समाज के मंगल और व्यक्ति के उत्थान को ही अपने दर्शन में सर्वोपरि माना है। दोनों को ही सारे ब्रह्माण्ड का केन्द्र मानकर श्रम को मूल्यांकित करने वाले मार्क्स, एंगेल्स ने एक ही सत्य पाया—श्रम को वर्ग-विभाजन से मुक्त करने से समाज, संस्कृति, कला, प्रेम, स्वतन्त्रता सभी के परिवेश आमूलतः परिवर्तित हो जायेंगे। श्रम-विभाजन ने ही विश्व की महान सभ्यताओं और सांस्कृतिक उत्थानों को दिगंतव्यापी—शोभामंडित किया।'[६] बड़े पैमाने पर कृषि और उद्योग के बीच श्रम का विभाजन सर्वप्रथम दास प्रथा द्वारा ही हुआ और इसी के साथ-साथ पुरानी दुनियाँ की चरमोत्कृष्टता—हैलेनिजम—का। दास प्रथा के बिना न तो ग्रीकराज्य न ग्रीक कला और ग्रीक विज्ञान न ही रोमन

का अस्तित्व हो सकता था। लेकिन हैलेनिज्म और रोमन साम्राज्य के आधार के बिना आधुनिक योरप का अस्तित्व भी नहीं हो सकता था। मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का सार यही है—"सर्वदा से सत्तावान वर्ग के विचार ही उस युग के अधिनायक विचार रहे हैं।"

(४) **अब मूल्य और चरमोत्कर्ष** (Value and Perfection) का अन्तिम सम्बन्ध शेष रह जाता है क्योंकि मूल्य का कल्याण (Happiness) से सम्बन्ध का वर्णन सुख के अन्तर्गत किया जा चुका है। आगे 'शुभ' का सम्बन्ध नैतिक मूल्यों के अंतर्गत किया जायेगा।

चरमोत्कर्ष के मूल्य युग-युग में बदलते रहे हैं। प्रत्येक नूतन संस्कृति, कला, समाज, या साहित्य के आन्दोलन ने एक भावनात्मक आदर्श सामने रखा, लेकिन मानसिक छायायें (Mental Images) इतनी अधिक कल्पनावान और श्रेष्ठ तथा स्वर्गिक आवरण में झीनी हुई कि उनकी स्पष्ट व्याख्या अथवा अंकन नहीं हो सका। सूक्ष्म, अमूर्त, सांस्कृतिक, क्लासिकल मूल्यों ने उन पर आवरण डाल दिये, इतना आलोक नहीं व्युत्पन्न किया कि उनका मुख-मण्डल दृश्यमान हो जाये। जब भारतीय मनीषियों ने मोक्ष को जीवन का चरमोत्कर्ष, उर्वशी को नारी-सौन्दर्य का चरमोत्कर्ष, राम को मर्यादा-पुरुषोत्तम का, या सीता को एकनिष्ठ गृहस्थ पत्नी का, अथवा रसानन्द को एक मात्र काव्य का उत्कर्ष माना तो वे इन्ही सूक्ष्म, सांकेतिक, और सामाजिक आदर्शों तथा विकल्पों से अनुप्राणित थे। वस्तुतः कभी न पूर्ण होने वाले मानवीय अभावात्मक आदर्श ही चरमोत्कर्ष हैं। प्लेटो का आदर्श और सौन्दर्य, रूसो की 'प्राकृतिक अवस्था', शंकराचार्य का अद्वैत, राफेल की 'मडोनायें', अंजता की नारियाँ, रवींद्र की उर्वसी अथवा प्रसाद की श्रद्धा ऐसे ही चरमोत्कर्ष हैं जिनमें किसी समाज, संस्कृति या युग-धारा की भावना, सुकुमारता, परुषता, और आदर्श विश्राम पा जाते है। पूर्णता या चरमोत्कर्ष के अन्तरङ्ग में अपूर्णता, अतृप्ति, आदर्श के मूल्य ही उसे उच्च मूल्य के आसन पर प्रतिष्ठित करते हैं; क्योंकि चरमोत्कर्ष में सौन्दर्य, कुशलता और प्रयोगात्मकता की ही प्रधानता रहती है। अतएव यह युग-युग में अपने आधार बदला करता है। मनुष्य की बुद्धि, हार्द्रता, आनन्द और चेतना जहाँ पहुँच कर एकाकार हो जाये वही चरमोत्कर्ष है। नटराज का नृत्य, कृष्ण की बाँसुरी-तान, मोजार्ट का कोरस ऐसे ही रागात्मक बोध-लोक हैं जहाँ ज्ञान-इच्छा-क्रिया में तादात्म्य होता है।

अपने क्रियात्मक रूप में चरमोत्कर्ष का मूल्य पूर्णतः व्यावहारिक भी है क्योंकि कर्म, चेष्टा और कौशल उसके साधन हैं। समाज में उनका अनुकरण किया जाता है, अथवा कला मे अनुरूपता, दर्शन में अनुमान और सौन्दर्य में अनुराग लब्ध होता है।

पूर्णता का दूसरा प्रयोजन यह भी है कि समाज उसे मानवीय चरमता का प्रतीक बनाकर चाहता है कि वह सभी व्यक्तियों का केन्द्र बने। अतः इसमें नैतिकता, आदर्श और व्यावहारिक भावभूमियाँ भी आत्मसात् कर ली जाती हैं। (क्योंकि आदर्श और चरमता अपनी परे की अवस्था में समानधर्मी भी बन जाते है)। चरमोत्कर्षवाद के विरुद्ध सबसे सबल आरोप यह है कि वह रूढिवादी नैतिकता को प्रश्रय देता है· प्रत्युत अचल-आदर्श होकर भी प्रगति में अवरोध उत्पन्न करता है क्योंकि सरलतापूर्वक यह धर्म अथवा राज्य के निरंकुश

शासन में अनुचर हो जाता है। संस्कृत के धीरोदात्त नायक ने, या अनैतिकता की चरम भावना ने द्विवेदी-युग में काव्य को ऐसा ही अचल और नियमवादी बना दिया था। सम्पूर्ण भारतीय शिल्प में इन आदर्श प्रतीकों ने लौकिक कला को बेहद नुकसान पहुँचाया; भारतीय काव्य में नई कथाएँ, शैलियाँ, प्रेम-भावनायें सामाजिक अंतश्चेतनाएँ इसी धार्मिक रूढ़ता से कुंठित होकर पुरोगामी होती गई। अंग्रेजी काव्य का रेस्टोरेशन-युग भी ऐसा ही था। यूरोप की ईसाई-कला राफेल और विंची के पूर्व इतनी ही रूढ़ और अचल थी। हेनरी स्टुअर्ट महोदय का कथन है कि 'चरमोत्कर्षवाद के विरुद्ध एक महान आपत्ति यह है कि वह नैतिकता में घोर रूढ़िवाद को प्रश्रय देता है; वह यह स्वीकार कर लेता है कि पूर्णता स्थायी है एवं सर्वदा के लिये अंतिम है। पूर्ण-मनुष्य एक माडल के रूप में स्थापित कर दिया जाता है, जिसकी अनुकृति-मात्र ही हमें करनी पड़ती है।'[२]

इस तरह वैयक्तिक मूल्य सामाजिक क्रांति अथवा रूढ़ि बन जाया करते हैं।

संदर्भ-संकेत

(१) जोन लेयर्ड : दि आइडिया आफ वैल्यू (२) आनन्द से ही यह सृष्टि उत्पन्न हुई, आनन्द से ही यह जीवित है, आनन्द की ओर अग्रसर हो आनन्द में प्रविष्ट होती है। (३) प्लेखानोव : "आर्ट एण्ड सोशल लाइफ" पृष्ठ १८४ (४) दे० क्रिस्टोफर काडवेल— "Further studies in a dying culture" 'ब्यूटी' शीर्षक अध्याय (५) जार्ज थामसन : "मार्क्सिज्म एण्ड पोयट्री," पृष्ठ २३ (६) फ्रेडरिक एंगेल्स, "एण्टी ड्यूहरिंग," पृष्ठ २४८, २५१, मास्को संस्करण १९५४ (७) हेनरी स्टुअर्ट, "ह्यूमन वेल्यूज" प्रथम अध्याय।

राजा शिवप्रसाद "सितारेहिन्द" और हिन्दी गद्य

विष्णु नारायण दुबे

उन्नीसवीं शताब्दी की गद्य-भाषा का अध्ययन राजा शिवप्रसाद "सितारेहिन्द" के मूल्यांकन के अभाव में अपूर्ण समझा जायगा। राजा साहब द्वारा फारसी मिश्रित खड़ीबोली का एक महत्वपूर्ण प्रस्तुत सदर्भ का गलत अर्थ लगाया गया था कि ब्रिटिश शासन के संकेत से

वे हिन्दी-गद्य के स्वरूप को क्षत-विक्षत करना चाहते थे। किन्तु यदि सूक्ष्म रूप से देखा जाय तो राजा साहब की दूरदर्शिता का स्वरूप संकीर्ण नहीं था, वे चाहते थे कि फारसी मिश्रित शब्दों को हिन्दी खड़ी बोली में स्वीकृत कर उसे समाहित कर लिया जाय। राजा लक्ष्मणसिंह आदि की साम्प्रदायिक दृष्टि के कारण उर्दू व हिन्दी पृथक् दो जातियों की भाषा बनी। राजा साहब ने भी अंत में झुंझलाकर उर्दू को मान्यता दी, जब उनकी मान्यता को झुठलाया गया। राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' ने सन् १८४५ में 'बनारस अखबार' का प्रकाशन आरंभ किया था। राजा साहब का झुकाव उर्दू की ओर अधिक था, इसलिए इस अखबार में उर्दू-अरबी के शब्दो का समावेश अधिक हो गया। तब राजा साहब की इस भाषा-नीति के विरोध में आगरे से 'प्रजा-हितैषी' नामक पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। यह पत्र विशुद्धत: हिन्दी का ही पक्षपाती था। किन्तु श्यामसुन्दर सैन की पत्रिका की भाषा उस समय के दैनिक जीवन की चलतू भाषा थी, जिससे यह अधिक लोकप्रिय हो गयी।

ग्रामों के शैक्षणिक केन्द्रों में देशी भाषाओं का उपयोग होता था किन्तु हिन्दी प्रदेश मे हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं में शिक्षा दी जाती थी, क्योंकि शिक्षा के माध्यम के बारे मे सरकारी नीति पूर्णत: अस्पष्ट थी। सरकारी आफिसों में उर्दू अपने पूर्ण विकास में थी, जिससे जनता और सरकार की भाषा क्रमश: हिन्दी-उर्दू होने के कारण एक दूसरे के विपरीत थी। आशय यह कि हिन्दी और उर्दू के प्रश्न को लेकर जनता और अंग्रेजी सरकार के बीच तनाव की स्थिति बनी रहती थी। उन्नीसवीं शताब्दी में हिन्दी गद्य की दृष्टि से जो कार्य हो रहा था वह साहित्यिक रूप ग्रहण कर रहा था। परन्तु सरकार इसको विकसित करने के लिए किसी भी प्रकार की सहायता न प्रदान कर सकी।

फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना (सन् १८००) मे हुई थी। प्रथम प्राचार्य के रूप मे श्री गिलक्राइस्ट नियुक्त हुए। ईसाइयों ने जनता की भाषा को अपनाना शुरू किया, क्योंकि इससे वे अपने धर्म का प्रचार करना चाहते थे। सरकारी कर्मचारी कम्पनी की ही भाषा-नीति के अनुसार अपना काम चलाने में विश्वास करने लगे थे। कर्मचारी और सरकार हिन्दी को उपेक्षित भाषा मानते थे, क्योंकि शासन उर्दू को ही प्राथमिकता दे रहा था। पं० चन्द्रबली पाण्डेय ने हिन्दी-उर्दू के वादविवाद को इस प्रकार व्यक्त किया है—

'यदि हिन्दी-उर्दू द्वन्द के इतिहास को देखा जाय तो सिविल सर्विस के लोग किंवा फोर्ट विलियम कालेज के छात्र प्राय: उर्दू के पक्ष में रहे।......ऐसी अवस्था में सरकार के पालतू प्राणी हिन्दी का विरोध नहीं करते तो और क्या करते ?'[१]

फोर्ट विलियम कालेज में हिन्दी पढ़ाने की व्यवस्था की गई किन्तु विद्यार्थियों की रुचि न होने के कारण इसका विकास न हो सका। १८३५ में सरकारी आफिसों में फारसी का उपयोग होने लगा था इसलिए विरोध करने के लिए आन्दोलन की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। इसी समय अंग्रेजों ने हिन्दी और उर्दू की समस्या में इतनी जटिलता ला दी कि हिन्दुओ और मुसलमानों में वैमनस्यता आ गई। यह वैमनस्यता स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद भी किसी न किसी रूप में बनी रही है। यद्यपि हिन्दी को राष्ट्रभाषा भी बना दिया गया है परंतु अपने-अपने धर्म को देने के पक्ष में यह वादविवाद चलता ही आ रहा है

हिन्दी और उर्दू का प्रश्न क्रमशः जटिलता की ओर अग्रसर हो रहा था। शैक्षणिक संस्थाओं में हिन्दी-उर्दू दोनों का माध्यम उपलब्ध था। कचहरी में अरबी-फारसी खड़ी बोली के साथ मिश्रित थी। आम जनता की भाषा हिन्दी थी, किन्तु उर्दू का ही प्रयोग किया जाता था। परिणामस्वरूप देवनागरी का पतन होने लगा और हिन्दी दुर्बलता की श्रेणी में आने लगी। इसी समय राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द का उदय हुआ।

राजा शिवप्रसाद के पिता मुर्शिदाबाद के रहने वाले थे पर कासिम अली के अत्याचारों के कारण बनारस आ गये और यहीं पर १८२३ ई० में राजा साहब का जन्म हुआ। जब हिन्दी अपनी जर्जर अवस्था से गुजर रही थी तब उसके उत्थान के लिए शिवप्रसाद 'सितारे-हिन्द' साहित्यिक क्षेत्र में आये। हिन्दी, उर्दू, फारसी, बंगला और संस्कृत के ज्ञाता होने के कारण राजा साहब भरतपुर के राज दरबार में नौकर हो गये। राज दरबार मे नौकर होने के कारण उन्होंने तृतीय सिक्ख युद्ध में सरकार की जी खोलकर मदद की और स्कूल इंस्पेक्टर हो गये। शिक्षा विभाग में रहने के कारण राजा साहब ने अनेक रचनायें प्रस्तुत कर सरकारी अफसरों को ही भेंट कर दीं।

राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' की कृतियाँ भाषा की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। उन्होंने सोच-विचार कर संस्कृत, अरबी, फारसी, अँग्रेजी और ठेठ हिन्दी सभी को मिलाकर एक सर्वमान्य भाषा बनाने की चेष्टा की जो उनकी दृष्टि में 'आमफहम' और 'खासपसंद' भाषा थी।[२]

सन् १८७२ में राजा साहब की सेवाओं से प्रसन्न होकर अंग्रेजी सरकार ने सी० एस० आई० की उपाधि तथा १८८७ ई० में 'राजा' की उपाधि प्रदान की। इसके लगभग ८ वर्ष बाद, २३ मई १८९५ में राजा साहब का काशी में निधन हो गया। यदि उन्होंने थोड़ी-सी सतर्कता से काम लिया होता तो वे हिन्दी गद्य के व्यावहारिक रूप के जनक हो गये होते, जिसका विकास देवीप्रसाद मुंशिफ और उपन्यासकार बाबू देवकीनन्दन खत्री की कृतियों में हुआ।

कहना न होगा कि राजा साहब हिन्दी के उत्थान के लिये अग्रसर हुए, किन्तु सरकारी कर्मचारी होने के कारण वे सफल न हो सके। उनकी रचनाओं में उर्दू-अरबी शब्दों का समावेश अधिक है, इसलिये हो सकता है कि जनता की भाषा होने के कारण अपनी स्थिति सरकार और जनता के बीच सुदृढ़ बनाने के लिए राजा साहब हिन्दी के हिमायती बने हों। राजा साहब की उर्दू शैली द्रष्टव्य है—

> 'कौंटलासी ने भी, जो १७५८ में फरांसीसियों की तरफ से यहां का गवर्नर जेनरल होकर आया था डूप्ले की तरह अँग्रेजों को उखाड़ना और फरासीसियों की अमल्दारी को फैलाना चाहा यहाँ तक की अँग्रेजों ने मौसलीपट्टन उनसे छीनकर दखन के सूबेदार सलावत जंग से उसकी और कई और जिलों की अपने नाम सनद लिखवा ली।'[3]

उन्नीसवीं शताब्दी तक उर्दू गतिमान रही। मुसलमान उर्दू का पक्ष लेते थे और अँग्रेजी सरकार की राजनीति इनके पक्ष में समर्थन कर रही थी। उर्दू के प्रधान समर्थक सर सैयद अहमद खाँ थे, जो हिन्दी को उजड्ड (गँवारू) भाषा समझते थे। सैयद साहब ने अपने धर्म का अँग्रेजों के धर्म से संबंध बताकर हिन्दू धर्म का विरोध किया फलस्वरूप आन्दोलन

शुरू हो गया। हिन्दी के विरोध के आन्दोलन का समर्थन फ्रांसीसी विद्वान् गार्सा द तासी ने भी किया।

राजा साहब की भाषा परिमार्जित नहीं थी। कई जगह उन्होंने ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है कि अर्थ का सौन्दर्य ही नष्ट हो गया है। जैसे, 'और' को अनेक के लिए प्रयुक्त किया है। कहना न होगा कि उस समय हिन्दी का उदय हो रहा था जिससे राजा साहब का इंकलाबी सिक्का जमा हुआ था।

गार्सा द तासी ने हिन्दी और उर्दू के इस वाद-विवाद को समझने का प्रयत्न तो किया किन्तु जान बीम्स ने इसे रूढ़िवादी व गतिहीन निरूपित कर दिया।

तत्पश्चात् एस० एस० गाउज और वाराणसी के राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' ने उर्दू का कड़ा विरोध किया। राजा साहब ने इस समय की परिस्थितियों का मनन कर देवनागरी लिपि के माध्यम से हिन्दी को निखारना चाहा पर शिक्षा-विभाग में नौकरी करने के कारण उनकी भाषा-सम्बन्धी नीति सफल नहीं हो सकी। राजा साहब को अपनी नौकरी के कारण अँग्रेजी सरकार और उर्दू के समर्थकों को खुश रखने का प्रश्न सामने उपस्थित होता था। डॉ० वार्ष्णेय का कथन द्रष्टव्य है—

> 'हिन्दी के इस संकटकाल में राजा शिवप्रसाद साहित्यिक क्षेत्र में आये। सरकारी दफ्तरों में उर्दू घुस चुकी थी। राजा साहब 'इंस्पेक्टर आव स्कूल्स' थे और सरकारी कर्मचारी की हैसियत से उन्हें सरकारी नीति का समर्थन करना पड़ता था। विद्या-व्यसनी होने के कारण भाषा की ओर स्वभावतः उनका ध्यान आकृष्ट हुआ। जब उनसे पाठ्य-पुस्तकें तैयार करने के लिए कहा गया तो उन्हें सरकारी नीति का ही व्यवहार करना पड़ा। जहाँ तक लिपि का सम्बन्ध था, वे देवनागरी के पक्ष में थे। कचहरी में फारसी लिपि का प्रयोग होते देखकर उन्हें दुःख होता था।[४]

राजा साहब की भाषा-नीति स्पष्ट तो थी नहीं, साथ ही उर्दू के गतिशील होने के कारण उन्हें स्कूलों में पढ़ने वाले हिन्दू और मुसलमान विद्यार्थियों का भी ध्यान रखना पड़ता था। शिष्ट समाज और संभ्रान्त घरानों में फारसी लिपि और उर्दू भाषा ने अपना स्थान बना लिया था। राजा साहब ने उसे इस प्रकार उद्धृत किया है—

> 'हिन्दू लोग न केवल आपस के बीच फारसी में चिट्ठी-पत्री जारी रखते थे, वरन् अपने घर का हिसाब भी फारसी में रखते थे।...............साहब मौसूफ लिखते हैं कि हिन्दू मुसन्निफ तसनीफ में कोई बात ऐसी नहीं है जिससे उसकी कौम और उसका मजहब जाहिर हो सके।'[५]

राजा साहब ने जब उर्दू को हटाने में अपने को असमर्थ पाया तो उन्होंने नागरी लिपि में सरल हिन्दुस्तानी का प्रचार कर अंग्रेजी सरकार को प्रसन्न करना चाहा। तब राजा साहब ने 'बैताल पच्चीसी' को अपना आदर्श बनाया और फारसी लिपि में लिखी गई उर्दू को जनहित के विपरीत करार किया।

'सितारेहिन्द' के भाषा के इतिहास में फारसी-उर्दू का मिश्रित रूप है और 'राजा भोज का सपना' भी संस्कृत-शब्द प्रधान शैली में लिखा गया लेख है। गुटका तृतीय भाग

राजा साहब ने जो रूप पाठकों के समक्ष रखने का प्रयत्न किया है वह केवल इनकी भाषा नीति का आदर्श मात्र ही है। भाषा की झलक निम्नप्रकार से निरूपित की है—

'कम्पनी की सनद में जो मीआद गुजरने पर सन् १८५३ में नयी मिली, नयी बातें तीन दर्ज हुई। पहले यह कि कोर्ट आफ डायरेक्टर्स के मिम्बरों की तादाद तीस से अठारह हो गयी। उनमे भी छः की मुकर्ररी शाही अलकारों के इख्तियार में रही।'[६]

राजा साहब की भाषा के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न उठ सकते है। इन्होंने उस समय की सामाजिक भाषा, मुसलमानो का उर्दू के प्रति लगाव, अधिकारियों का रुख तथा अपनी नौकरी को प्रधानता देते हुए अपनी भाषा-नीति का स्थान निर्धारित किया होगा। राजा साहब हिन्दी को भी उर्दू के समान निरूपित करना चाहते थे, इसलिए उन्हें अरबी-फारसी के शब्दों को सहायता के रूप में स्वीकार करना पड़ा। इस आदान-प्रदान का उल्लेख उन्होंने अपने 'भाषा के इतिहास' में किया है।

विशुद्ध हिन्दी के लिए योग्य वातावरण नहीं था, यह राजा शिवप्रसाद का तर्क था। यदि राजा साहब सरकारी नौकर न होते तो वे हिन्दी-आन्दोलन का संचालन भी करते। वे हिन्दी के विरोधी नहीं थे, बल्कि उर्दू के स्थान पर हिन्दी को परिष्कृत कर कचहरी की भाषा से जन-सम्पर्क रखना चाहते थे, इसलिए हिन्दी की सेवा करते-करते उर्दू के पक्षपाती हुए। डॉ० विनयमोहन शर्मा के शब्दों में—

'वे उर्दू लिपि और थोड़े बहुत अरबी-फारसी शब्दों का प्रयोग नीति की दृष्टि से करते थे परन्तु लोगों ने उनकी नीयत पर सन्देह करना आरम्भ कर दिया तब उनके हृदय में जबरदस्त प्रतिक्रिया पैदा हुई और वे कट्टर उर्दूपंथी बन गये।'[७]

डॉ० विनय मोहन शर्मा के उक्त कथन के समर्थन में ही मेरा भी मत है कि राजा साहब को सही न समझ सकने के कारण ही उन्हें प्रतिक्रियावादी बनना पड़ा। आशय है कि अन्त में राजा साहब हिन्दी के विरोधी और उर्दू के हिमायती जनता द्वारा घोषित कर दिये गये।

जब हिन्दी का रूप अरबी-फारसी युक्त हो रहा था तभी राजा लक्ष्मणसिंह शुद्ध संस्कृतमय रूप लेकर हिन्दी क्षेत्र में आये और राजा साहब के अरबी-फारसी शब्दों के प्रयोग को रोककर संस्कृत प्रचलित शब्दों के प्रयोग करने की भाषा-नीति को अग्रसर किया।

राजा लक्ष्मणसिंह ने अरबी-फारसी से विहीन विशुद्ध भाषा का निर्माण किया। उनके सामने राजा साहब के समान नौकरी का प्रश्न नही था। राजा लक्ष्मणसिंह ने राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' की भाषा शैली का विरोध किया और कहा कि न हिन्दी-उर्दू पृथक्-पृथक् भाषायें हैं और न उन दोनों के मेल से कोई पृथक् भाषा ही बनायी जा सकती है।

मैं समझता हूँ कि राजा साहब की नीति-विरोध का ही परिणाम[८] था कि वे अन्त में उर्दू का पक्ष लेते रहे क्योंकि उनके समकालीन लेखकों ने उर्दू को खड़ी बोली के रूप में मिला लेने की बात स्वीकार नहीं की राजा साहब ने कहा कि चूँकि उर्दू कोर्ट की

भाषा है, उत्तर भारत में वह एक बोली के रूप में भी मान्य है, उसका मातृ-भाषा के रूप में अस्तित्व है। इस प्रकार राजा द्वय के बीच हुए संघर्ष का परिणाम भविष्य में राजनीति के माध्यम से भयंकर रूप में प्रगट हुआ। वस्तुतः राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' हिन्दी को फारसी प्रचलित तद्भव शब्दों द्वारा समुन्नत बनाने की योजना[9] रखते थे।

संदर्भ-संकेत

(१) पं० चन्द्रबली पाण्डेय-हिन्दी गद्य का निर्माण, संवत्, २००५ (२) राजा साहब ने अपने भाषा-संबंधी सिद्धान्त का १८६८ में लिखित 'भाषा का इतिहास' (कुछ बयान अपनी जुबान का) में उल्लेख किया है। उसका अध्ययन करने से उनका झुकाव अरबी-फारसी शब्दों और उर्दू की ओर साफ मालूम होता है। जहाँ तक सार्वजनिक संस्थाओं का संबंध था वहाँ तक 'मानवधर्मसार' या 'भूगोलहस्तामलक' की भाषा उनकी आदर्श और स्वीकृत भाषा नहीं थी। सर्वप्रचलित अरबी-फारसी शब्दों का प्रयोग करने से किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती। किन्तु जिन अरबी-फारसी शब्दों को राजा साहब आम जनता के बोलचाल के शब्द समझते थे, वे कभी भी जनता के बीच नहीं बोले जाते थे। चंद ने भी उनकी जैसी भाषा का प्रयोग नहीं किया। यदि वे भारतीय जनता के जीवन, उसकी संस्कृति और हिन्दी साहित्य की परम्परा का ध्यान रखकर अपनी नीति निर्धारित करते तो यह भूल उनसे कदापि न होती। परन्तु शिक्षा-विभाग का उन पर ऐसा रंग चढ़ा कि फिर वे सँभल न सके।—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय - आधुनिक हिन्दी साहित्य, पृष्ठ ११३, (३) राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द'—इतिहास तिमिरनाशक, भाग २, पृष्ठ १७, (४, डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय—आधुनिक हिन्दी साहित्य, पृष्ठ १००-१०१। (५) शिवप्रसाद 'सितारे-हिन्द'—भाषा का इतिहास, (६) शिवप्रसाद 'सितारे-हिन्द'—इतिहास तिमिरनाशक, भाग २ (७) डॉ० विनय मोहन शर्मा—साहित्य सन्देश, सन् १९५०, पृष्ठ—२०१ (८) Our Court Language is Urdu, and the Court Language has always been regarded by all nations as the most fashionable language of the day. Urdu is now becoming our mother tongue and is spoken more or less, and well or badly, by all in the North-Western Provinces.' राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' – इतिहास तिमिरनाशक (१८८३ सं०) भाग १, भूमिका से। (९) 'I may be pardoned for saying a few words here to those who always urge the exclusion of Persian words, even those which have become our household words, from our Hindi books, and use in their stead Sanscrit-words, quite out of place and fashion, or those coarse expressions which can be tolerated only among a rustic population.' राजा शिवप्रसाद—इतिहास तिमिरनाशक (१८८३ सं०), भाग १ की भूमिका से।

●●

ऋक्संहिता एवं निघण्टु : एक अध्ययन

कैलाश चन्द्र त्रिपाठी

निघण्टु वैदिक साहित्य का प्राचीनतम कोश माना गया है। यही नहीं, आधुनिक विद्वान् तो इसको भारतीय कोश-साहित्य में प्रथम ज्ञात प्रयास मानते हैं।[1] तथापि यह कहना उचित न होगा कि यह वैदिक शब्दों का पूर्ण कोश है। ऋक्संहिता की भाँति निघण्टु का संग्रह श्रुतर्षियों के द्वारा विभिन्न कालों में होने के कारण[2] वैदिक शब्दों के अतिरिक्त कतिपय उत्तरवैदिक अथवा अवैदिक शब्दों का समावेश इसमें होना स्वाभाविक ही है। प्रस्तुत निबन्ध का विषय शब्दव्युत्पत्ति विज्ञान को दृष्टि में रखकर निघण्टु की इन्हीं विशिष्टताओं का अध्ययन करना है।

यास्क की 'निरुक्त' टीका से युक्त वर्तमान समय में प्राप्त निघण्टु शुद्ध रूप में वैदिक नहीं है। अपने से पूर्व के निरुक्त ग्रंथों का अध्ययन करके एक पूर्ण और परिशुद्ध संस्करण प्रस्तुत करने की कामना से संकलनकर्त्ता ने एक जटिल और अव्यवस्थित शब्द कोश, संभवतः वैदिक छात्रों की बुद्धि परीक्षा के लिए प्रस्तुत किया।[3] महाभाष्य की ही भाँति निघण्टु के कुछ शब्द बहुत स्थानों पर सन्दिग्ध और क्लिष्ट हैं। यही नहीं, निघण्टु में कुछ ऐसे शब्द भी आए है जो आधुनिक काल में प्रचलित हुए परन्तु दोनों स्थानों में अर्थ की विभिन्नता द्रष्टव्य है।

यास्ककृत 'निरुक्त' से युक्त वर्तमान निघण्टु पाँच अध्यायों में बँटा है। प्रथम तीन अध्यायों का संकलन 'नैघण्टुक काण्ड' शीर्षक के अन्तर्गत हुआ है। इन अध्यायों में परिगणित कुल १३४१ शब्दों में से अधिकांश अमरकोश की शैली में पर्यायवाची हैं। जैसे प्रथम अध्याय में 'पृथिवी' के २१ पर्याय, स्वर्ण के १२ पर्याय, अन्तरिक्ष के १६ पर्याय, 'जलना' (ज्वलतिकर्माण:) क्रिया के ११ तथा 'जलना' संज्ञा के ११ शब्द पर्याय गिनाये गए हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर १७ खंडों में प्रथम अध्याय विभाजित है। द्वितीय अध्याय के २२ खण्डो मे भी कुछ पर्याय संज्ञा शब्द तथा क्रियाशब्द संकलित हैं। तृतीय अध्याय के ३० खंडो में 'बहुत', 'क्षिप्र', 'रूप', 'प्रशा', 'प्रशस्य' इत्यादि कुछ विशेषण तथा भाव शब्दों के पर्याय सकलित हैं। इन अध्यायों में सुबन्त पद प्रथमा एकवचन में तथा क्रियापद वर्तमान काल के प्रथम पुरुष एकवचन में निर्दिष्ट हैं।

प्रो० राजवाडे ने[4] निघण्टु के इन अध्यायों का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए बताया है कि इसमें कई शब्द हैं। उदाहरणार्थ प्रथम अध्याय में 'गो शब्द

'पृथिवी' पर्याय के अन्तर्गत परिगणित किया गया है जबकि यह अर्थ ऋग्वेद में प्राप्त नहीं होता। अतः यह अर्थ आधुनिक या उत्तरवैदिक हुआ। ऋग्वेद में तो यह 'गौ' (गाय) अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[५] इसी अध्याय के खंड (२) में संकलित 'लोह', 'कनक' और 'काञ्चन' शब्द उत्तरवैदिक हैं। 'हिरि' तथा 'हरि' (१.९५-१ तथा ३.४४-२) इत्यादि ऋग्वेद में स्वर्ण के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं, जबकि उपर्युक्त संकलन में उनको स्थान ही नहीं दिया गया है।

इसी प्रकार 'किरण' शब्द ऋग्वेद (१०-२७-५) में धूल अथवा धूलकण के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, खंड (५) में वर्णित प्रकाश रेखा के अर्थ में नहीं। यह अर्थ भी उत्तरवैदिक है। अध्याय (१) में ही खण्ड (७) के 'नम्या' और 'यम्या' शब्दों का अर्थ रात्रि नहीं है। नम्या (१-५३-७) 'नमी' पद का एकवचन है। यह इन्द्र के एक मित्र का नाम है। 'यम्या' पद 'यम्यौ' का ही रूप है, जिसका अर्थ है 'जुड़वाँ'। 'घृताची' से तात्पर्य है 'प्रकाशमान' और यह शब्द उषा के साथ ही अन्य प्रकाशमान तत्वों के लिए प्रयुक्त हुआ है। खण्ड (८) में परिगणित विभावरी, सूनरी, भास्वती, चित्रामघा, वाजिनी, वाजिनावती, सुम्नावरी, अहषी तथा सूनृतावरी 'उषा' की संज्ञायें न होकर उसके विशिष्ट लक्षण हैं। रुषती (ऋक्० १-११३-२) इन्हीं में एक है जिसका परिगणन नहीं हुआ है। इसके अतिरिक्त 'अभीशु' 'रुक्म' 'बलाहक' 'नीर' 'अम्बु' 'जल' 'पार्वती' तथा 'औच्चैः श्रवसः' एवं 'तार्क्ष्य' शब्द पूर्णरूपेण उत्तरवैदिक हैं।

द्वितीय अध्याय के खण्ड (३) में आए हुए 'पृतना' शब्द का अर्थ मनुष्य नहीं, वरन् वेद में (२-४०-५ इत्यादि) 'सेना' है। 'धव' शब्द भी उत्तरवैदिक है जो सम्भवतः आधुनिक शब्द 'विधवा' की व्युत्पत्ति का आधार है। खण्ड (१४) के स्रवति संस्रते श्चोतति भुरण्यति दीयति ईषति ईङ्खते एजति जवति पतति तथा द्रवति—विभिन्न प्रकार की गत्यर्थक धातुओं के मध्य 'भय करना', 'उड़ना', 'हिलना' इत्यादि गति संज्ञाओं को स्थान देना उचित नहीं है। इस प्रकार अन्य स्थल पर प्रो० राजवाडे ने उल्लेख किया है कि ऋग्वेद में 'पत्' का अर्थ 'उड़ना', 'वृत्' का अर्थ रथ के समान धीरे-धीरे घूमना, 'हन्' का अर्थ 'वध करना' या 'चोट करना' से है, जबकि निघण्टु में इन सभी का अर्थ है 'जाना'। कुछ ऐसे भी शब्द हैं जिन पर यास्क ने भाष्य करके 'निरुक्त' में दूसरे ही अर्थ में लिया है। उदाहरणार्थ, 'कर्म' शब्द से तात्पर्य है 'अर्थ'; जैसे, 'गतिकर्मा धातुः', गति अर्थ वाला धातु।

तृतीय अध्याय का १२वाँ खण्ड तो बहुत ही विवादास्पद है। प्रो० राजवाडे तो इसको 'नैघण्टुक काण्ड' के अन्तर्गत स्थान देने के औचित्य पर भी शंका करते हैं।[६] तेरहवें खण्ड के विषय में भी उनका मत है कि इसको भी नैघण्टुक काण्ड में स्थान नहीं मिलना चाहिए, क्योंकि इसमें समान अर्थ वाले शब्दों का संग्रह नहीं है।[७] खण्ड (२४) के 'मलिम्लुचः' तथा खण्ड (२७) के 'अहनाय' उत्तरवैदिक पद हैं। तीसवें खण्ड में परिगणित मही उर्वी पृथ्वी दूरे अन्ते तथा अपारे शब्द द्यावापृथिवी की संज्ञायें न होकर उनके विशेषण हैं।

इस प्रकार नैघण्टुक काण्ड के अध्ययन से ज्ञात होता है कि लगभग १८ उत्तरवैदिक शब्द इसमें परिगणित हैं। पूर्व निरुक्तकारों के द्वारा भाष्य किये गये क्रियारूपों का संकलन यहाँ किया गया है। कौन कौन से शब्द संग्रहीत किये जायँ इसका विशेष ध्यान नहीं रखा गया है कई शब्द गणना में नहीं आ सके हैं जबकि कुछ शब्दों का

संकलन हुआ है। क्रियापद प्रस्तुत करने का सामान्य नियम है इसका वर्तमान काल प्रथम पुरुष एक वचन का रूप देना अथवा मूलक्रिया को इ' और 'ति' से युक्त करना. परन्तु एक से अधिक मूल पद एक ही खण्ड में संग्रहीत पाये गए हैं। उदाहरणार्थ, प्रथम अध्याय खण्ड (१६) मे आशले और आश्यति दोनों ही 'ज्वलतिकर्माणः' शीर्षक के अन्तर्गत गिनाये गए है। इसी प्रकार भृणीयते, भृणाति (२-१२) इत्यादि भी द्रष्टव्य है। यास्क के टीकाकारों में से प्रमुख देवराज ने नैघण्टुक काण्ड के कुल १३४१ शब्दों में से १८६ शब्दों को ऋग्वेद से भिन्न निगमों में उपलब्ध होने के बारे में उल्लेख किया है।[८]

निघण्टु का चतुर्थ अध्याय सर्वाधिक विवादास्पद है। इस 'नैगम' या 'ऐकपदिक' काण्ड के अधिकांश पद प्रायः क्लिष्ट तथा संदिग्ध हैं।[९] क्रमशः तीन खंडों में बंटे ६२, ८४ तथा १३२ पद पूर्ण स्वतंत्र हैं, किसी के पर्याय नहीं। ये अनेक अर्थ धारण करते है तथा इनकी व्युत्पत्ति का ज्ञान प्राप्त करना भी कठिन है।[१०] इसीलिये इन्हें ऐकपदिक निगम (उदाहरण या प्रयोग) कहते हैं। इस काण्ड के शब्द भिन्न-भिन्न रूपों और विभक्तियों में हैं और अन्त मे प्रत्येक खंड की पदसंख्या का उल्लेख है। प्रत्येक खंड में ऐसे शब्द हैं जिनकी व्युत्पत्ति अज्ञात है। इन्हें 'अनवगत संस्कार' पद और 'अनेकार्थ' पद संज्ञक—दो विभागों में विभाजित किया जा सकता है। दुर्गाचार्य ने एक अन्य विभाजन 'अनवगतार्थ' शीर्षक के अन्तर्गत किया है। अनेकार्थ और अनवगत संस्कार शब्दों का एक ही काण्ड में संकलन आचार्यों ने उचित नहीं माना है। इस मान्यता के आधार पर कि निघण्टु श्रुतर्षियों की विभिन्न काल में संकलित कृति है, इसमे प्राप्त विभिन्न शब्दों की पुनरावृत्ति हो जाना स्वाभाविक ही है।

प्रो० कर्मार्कर ने ऐसे कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए है, जैसे, नैघण्टुक काण्ड में आए कुछ शब्द पुनः नैगम काण्ड में आए हैं। यही नहीं, चतुर्थ अध्याय के द्वितीय खंड में कुछ शब्द ऐसे आए हैं जिनके अर्थ प्रथम तीन अध्यायों में आ चुके हैं। उदाहरण के लिए, अन्धः (४.२.६) वराहः (४.२.२१) स्वसराणि (४.२.२२, सर्पः (४.२.२३) सिनम् (४.२.२८) वयुनम् (४.२.४८) का क्रमशः (२.७.१), (१.१०.१३), १.६.५), (२.५.५), (२.७.८ तथा (३.६.१०) में भाष्य हो चुका है।

एक ही अध्याय के अन्तर्गत भी एक पद का एक से अधिक खंडों में भिन्न-भिन्न रूपों और अर्थों में परिगणन हुआ है। उदाहरणार्थ, पृथ्वी भूः पद पृथ्वी तथा अन्तरिक्ष—दोनों के पर्यायों में परिगणित है। निघण्टु को इन्हीं असामान्य अनियमितताओं की एक बानगी निम्नांकित उद्धरणों में देखी जा सकती है :—

निघण्टु (अध्याय)	खंड	शब्द	वर्ग
१.१.	(१)	पृथ्वी, भूः	पृथ्वीनामधेयानि
	(२)	पृथ्वी, भूः, व्योम	अन्तरिक्षनामानि
	(६)	,, ,,	दिङ्नामानि
	(१२)	,, ,,	उदकनामानि
	१	गौ	

निघण्टु अध्याय	खंड	शब्द	वर्ग
१·१	(४)	,,	इति साधारणानि
	(११)	,,	वाङ्नामानि
	(१)	इला	पृथ्वीनामधेयानि
	(११)	,,	वाङ्नामानि
२·७	(७)	,,	अन्ननामानि
	(११)	,,	गोनामानि
१.१.	(१)	मही, अदिति	पृथ्वीनामधेयानि
	(११)	,, ,,	वाङ्नामानि
२.११.	(११)	,, ,,	गोनामानि
१.३.	(३)	आप:	अन्तरिक्षनामानि
	(१२)	आप:, अप:	उदकनामानि
२.१.	(१)	,, ,,	कर्मनाम
१.६	(६)	हरित	दिङ्नामानि
	(१३)	,,	पारितनामानि
	(१६)	हरित	आदित्यस्य
१.१२	(१२)	तेज:	उदकनामानि
	(१७)	,,	ज्वलतोनामधेयानि
१.११	(११)	अक्षरम्	वाङ्नामानि
	(१२)	,,	उदकनामानि
२.१.	(१)	आन:	कर्मनामानि
	(२)	,,	अपत्यनामानि
३.७	(७)	,,	रूपनामानि
१·१४	(१४)	नर:	अश्वनाम।
२·३	(३)	,,	मनुष्यनाम।
१·५	(५)	अभशिव:, दीधितय:	रश्मिनाम।
२·५	(५)	,, ,,	अङ्गुलिनाम।
१·१२	(१२)	पय:	उदकनाम।
२·७	(७)	,,	अन्ननाम।
१·९	(९)	स्वसराणि	अहर्नामानि
३·४	(४)	स्वसराणि, योनि:	गृहनामानि
१·१२	(१२)	,, ,,	उदकनामानि

निघण्टु के पंचम कांड 'दैवतकांड' के ६ खंडों में क्रमश: ३, १३, ३६, ३२, ३६ तथा ३१ पद और कुल मिलाकर १५१ पद हैं ये भी पर्याय न होकर स्वतंत्र पद है और भिन्न भिन्न देवों के नाम हैं देवो की स्तुति का यह आधार है

स्पष्ट है कि वर्तमान उपलब्ध निघण्टु यास्क की निरुक्त टीकायुक्त अपने प्रकार का एक ही और अन्तिम है। इसके पूर्व भी विभिन्न आचार्यों के भाष्य से युक्त विभिन्न निघण्टु रहे होंगे, ऐसा आधुनिक विद्वानों (प्रो० रॉथ, कर्मकर तथा डॉ० लक्ष्मणसरूप प्रभृति) का मत है। यही नहीं, ये निघण्टु भी कई प्रकार के रहे होंगे। कुछ केवल वैदिक शब्दों को ध्यान में रखकर बनाये गए होंगे, कुछ का सम्बन्ध उत्तरवैदिक शब्दों से रहा होगा। निघण्टु के शब्द एकार्थक वर्गशब्दों (class words) तथा अनेकार्थक ऐकपदिक शब्दों में सावधानी से नियमपूर्वक विभाजित नहीं किये गये हैं। कोई ऐसा भी निघण्टु रहा होगा जिसके शब्द आधुनिक व्याकरण के नियमों से बद्ध नहीं रहे होंगे। निघण्टु में आए 'अनवगत संस्कार' पद इसी का संकेत करते है। कोई ऐसा निघण्टु भी रहा होगा जिसमें देवताओं के नाम संकलित हों। वर्तमान निघण्टु मे इन सभी का समन्वय होने के साथ-साथ कुछ उत्तरवैदिक आधुनिक शब्द भी संग्रहीत किये गए हैं। इसीलिए निघण्टु को पूर्ण शुद्ध वैदिक शब्दकोश नहीं मानना चाहिए। यदि कुछ वैदिक शब्द इसमें सम्मिलित नही किये गए है तो कुछ नये अवैदिक शब्दो का आगम भी इसमे यत्रतत्र हुआ ही है।

संदर्भ-संकेत

(१) "निघण्टु का निर्माण कोशविज्ञान में सर्वप्रथम ज्ञात प्रयास है। भारत में यह कोश-साहित्य के प्रारम्भ की सूचना देता है।" (१४।४-६) डॉ० लक्ष्मणसरूप कृत 'निघण्टु तथा निरुक्त' (२) द्रष्टव्य—यास्ककृत 'निरुक्त' ६।२० पर दुर्गाचार्य कृत भाष्य (३) द्रष्टव्य—'निरुक्तम्' द्वारा प्रो० उमाशंकर शर्मा (४) द्रष्टव्य—'यास्क का निरुक्त' (पृष्ठ २०५) सन् १६४० में पूना से प्रो० वी० के० राजवाडे द्वारा प्रकाशित (५) द्रष्टव्य—'बुदोह गा स यज्ञाय।' (ऋक्० २-२६) (६) "यह खंड 'सर्वपदसमाम्नाय' कहलाता है, एक वर्ग जिससे सभी प्रकार के पद संकलित किये गये हैं, फिर भी क्रिया रूपों का पूर्ण अभाव है। इस खंड मे समान अर्थ वाले शब्द नहीं संग्रहीत किये गए हैं; इसको 'नैघण्टुक काण्ड' में स्थान क्यों दिया गया, इसका कारण स्पष्ट नहीं होता है।" 'यास्ककृत निघण्टु और निरुक्त'—प्रो० राजवाडे (७) द्रष्टव्य वही (८) द्रष्टव्य—'निघण्टु' (देवराज यज्वा)—'निगमः अन्वेषणीयः।" (६) "निघण्टु नामक वैदिक शब्दों की सूची के चतुर्थ अध्याय को, जिस पर यास्क ने निरुक्त नामक व्याख्या लिखी है, ऐकपदिक कहते हैं क्योंकि इसमें अज्ञात या सन्दिग्ध मूलवाले २७८ शब्द गिनाये गए हैं।"—डा० वेलवलकर 'निरुक्त' (भाग १पृ० ३७०)।

(१०) "अथ यानि अनेकार्थानि एकशब्दानि तानि अतोऽनुक्रमिष्यामः।
अनवगतसंस्कारांश्च निगमात्। तत् ऐकपदिकम् इत्याचक्षते।"
—यास्क 'निरुक्त' (४।१)।

हिंदी में पारिभाषिक शब्द-निर्माण का इतिहास

•

हरिमोहन मालवीय

•

भारतीय संस्कृति की समृद्ध परंपरा हिंदी की पृष्ठभूमि में है अतएव प्राचीन विज्ञान, कला, दर्शन, ज्योतिष, स्थापत्य, समाजशास्त्र, धर्मशास्त्र, राजनीति, अर्थशास्त्र आदि से संबंधित प्रचुर शब्दावलियाँ हिंदी में हैं। केवल पाश्चात्य एवं आधुनिक विज्ञान, प्राविधि, मानवशास्त्र, एवं प्रशासनिक व्यवस्थाओं आदि से संबंधित शब्दावलियों का अभाव हिंदी में था। उस अभाव को दूर करने के लिए कई विद्वानों ने स्तुत्य प्रयास किए थे जिन्हें या तो महत्वहीन समझा गया या भुला दिया गया, क्योंकि हिंदी की शब्दावली एवं उसके साहित्य के संबंध में 'अभाव' के पूर्वग्रह से आज का भारतीय बुद्धिजीवी ग्रस्त है। वास्तव में हिंदी में जो कुछ है और जो नहीं है, दोनों के संबंध में स्पष्ट होना चाहिए।

हिंदी के संबंध में जो भी योजनाएं बनायी जाती है वे अनिश्चय में लटकती हैं, इसके साथ-साथ प्रायः निश्चित आयोजनों पर भी जिन्हें क्रियान्वित करना संविधान के संकल्प के अनुसार अनिवार्य एवं अपरिहार्य होता है उन पर भी विचार, पुनर्विचार का क्रम चलता रहता है, फलस्वरूप जब कार्य पूरा न होने पर संवैधानिक संकट उपस्थित होता है तब ऐसी व्यवस्थाएँ सम्मुख आती हैं जो कि हिंदी को और भी पीछे ढकेल देती हैं। इसी प्रकार की स्थिति के फलस्वरूप केंद्रीय शासन ने सन् १९६३ में संविधान की मान्यता के विपरीत अनिश्चित काल तक अँग्रेजी को चलाने वाले विधेयक को पारित किया था।

पारिभाषिक शब्दों के हिंदी पर्यायों पर बहुत कार्य हुआ और हो रहा है। आज हिंदी मे पारिभाषिक शब्दों की कमी नहीं है, कमी है उन शब्दों को व्यवहार द्वारा परखने और रूढ़ करने की। लाखों शब्दों के लिए हिंदी पर्यायों का निर्माण हो चुका है किंतु उन पर्यायों के लिए हिंदी के तथाकथित भक्त और विरोधी लगातार प्रश्नचिन्ह लगाकर बिना समझे-बूझे व्युत्पत्ति, संगति, अर्थ-बोध आदि पर अनाधिकारपूर्वक तर्क-कुतर्क करते हैं। हिंदी के जो पर्याय विशेषज्ञों की समितियों, उपसमितियों एवं आयोगों की मान्यता के बाद भी प्रकाश में आए हैं उनके औचित्य को झुठलाने का प्रयास हो रहा है जिसके कारण कई विद्वान अपने-अपने ढंग से नए पर्यायों को गढ़ने का अब भी यत्न करते हैं। फलस्वरूप नए पाठकों के सामने विचित्र-सी एवं दुरूहता की समस्या उत्पन्न हो जाती है जो लोग हिंदी के पर्यायों के लिए अपनी समस्त तर्कशक्ति का प्रयोग करते हैं वे कभी भी अंग्रेजी पर्यायों की व्युत्पत्ति एवं संगति

के लिए विचार या पुनर्विचार का साहस नहीं करते ! वरन् अँग्रेजी के पर्याय व्युत्पत्ति चाहे ग्रीक और लैटिन के ही हों, उनकी दुरूहता का प्रश्न कभी उत्पन्न नहीं होता, उन्हें भी हिन्दी में चलाने का उत्साह प्रकट किया जाता है। अँग्रेजी भाषा की महानता का जादू इस हद तक आज भी चढ़ा हुआ है कि अँग्रेजी का सब कुछ ठीक है और हिन्दी और भारतीय भाषाओं के विशेषज्ञों द्वारा किया हुआ हर कार्य अपूर्ण ही नहीं त्रुटिपूर्ण है। इसे मानसिक गुलामी के अलावा क्या कहा जाय ?

हिन्दी पर्यायों की निश्चितता के सम्बन्ध में जब तक हम आश्वस्त न होंगे, कभी भी उनके प्रयोग के लिए उत्साह का निर्माण नहीं हो सकता और न ही कोई भी कार्य आगे बढ़ाने की प्रेरणा ही प्राप्त होगी। आज आवश्यकता इस बात की है कि हिन्दी के पारिभाषिक शब्दों को तेजी से चलाया जाय जिससे कि वे शब्द शीघ्रातिशीघ्र अँग्रेजी पर्यायों के विकल्प बन कर हिन्दी में ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में कार्य करने वाले छात्रों और विद्वानों द्वारा हृदयंगम हो सकें।

यूरोपवासियों में से विशेष रूप से अँग्रेजों ने भी साम्राज्यवादी शिकंजे में इस महादेश को जकड़ने से पूर्व भारत का सांस्कृतिक-राजनैतिक अध्ययन करने के लिए आवश्यकतानुसार अनेक प्रकार के कोशों की रचना कराने का यत्न किया था। उनका इरादा चाहे जो भी रहा हो लेकिन उनके इस प्रकार के कार्यों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि वे यहाँ के जन-जीवन की वास्तविकता, वस्तुस्थिति तथा मनोवैज्ञानिक गुत्थियों को समझना चाहते थे। यही एक कारण था कि अपनी पूरी-सूझ बूझ के साथ योजनापूर्वक भारत की भाषाओं का सूक्ष्मतम अध्ययन उन्होंने किया था। वे यह अवश्य समझते थे कि भारत के जन-जीवन के साथ समरस होकर व्यापारिक एवं राजनीतिक लाभ तभी उठाया जा सकता है जबकि जनता की भाषा का माध्यम ग्रहण किया जाय। इसीलिए भारत में आने वाला यूरोपियन भारत के सन्दर्भ में बहुत कुछ जानकारियों से मंडित कर दिया जाता था, कम-से-कम उसे भारतीय भाषाओं का ही नहीं, बोलियों की भी प्रारंभिक जानकारी करा दी जाती थी। १८वीं-१९वीं शताब्दी की चालाक यूरोपीय जातियों ने स्थानीय भाषाओं के महत्व को समझ लिया था और आज हम हैं कि २०वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भी भारत की स्थानीय भाषाओं और बोलियों पर अँग्रेजी को लादे रहने के लिए कृतसंकल्प हैं। अँग्रेजी हिन्दी या हिन्दुस्तानी कोशों के प्रारम्भ का इतिहास जॉन फर्गुसन के सन् १७७३ ई० में प्रकाशित 'ए डिक्शनरी आफ हिन्दुस्तान' से प्रारम्भ होता है। सन् १८०५ में रोमन एवं अरबी लिपियों में लन्दन से डिक्शनरी आफ मोहमडन ला, बंगाल रेवेन्यू टर्म्स, हिन्दू ऐण्ड अदर वर्ड्स यूज्ड इन दि ईस्ट इंडीज विद एक्सप्लानेशन, प्रकाशित हुआ था। इसके बाद जोसेफ टेलर का कोश 'एन ऐंगलिश एन्ड हिंदुस्तानी नेवेल डिक्शनरी आफ टेक्निकल टर्म्स एन्ड सी फ्रेजेज-प्रकाशित हुआ। १८३५ में पीटर ब्रेटन (सर्जन) ने स्वास्थ्य विभाग के सदस्यों के लिए चिकित्सा (शरीर शास्त्र) के अँग्रेजी, अरबी, फारसी तथा संस्कृत का शब्द संग्रह प्रस्तुत किया। यह शब्द-संग्रह कलकत्ता के तत्कालीन 'गवर्नमेंट लीथोग्रेफिक प्रेस' से छपा था। इसी प्रकार 'कचेहरी टेक्निकैलिटीज आर वोकैबुलेरी आफ ला टर्म्स (१८५३) संपादक पैट्रिक कार्नेगी ए डिक्शनरी आफ कामर्सियल टर्म्स

विद देयर सिनोनिम्स इन वेरियस लैंग्वेजेज (१८५८) सम्पादक अलेक्जेंडर फाकनर, इंगलिश हिन्दुस्तानी ला एंड कामर्सियल डिक्शनरी आफ वर्ड्स एंड फ्रेजेज यूज्ड इन सिविल एंड क्रिमिनल रेवेन्यू एंड कामर्सियल एफेयर्स (१८५८ ई०) सं० एस० डब्ल्यू० फैलान तथा ए वोकैबुलरी इंगलिश हिन्दुस्तानी फार द यूज़ आफ मिलेटरी स्टूडेन्ट्स, आदि पारिभाषिक कोशों का निर्माण विदेशी विद्वानों ने किया था।

भारतीय बुद्धिजीवियों के एक वर्ग को हमेशा देशी भाषाओं में पारिभाषिक शब्दों की कमी खटकती रही। इसी कारण कई विद्वानों ने इस दिशा में कई कार्य संपन्न किये थे। १९१६ के पूर्व के इस दिशा में किए गए प्रयासों का उल्लेख अंग्रेजी-मराठी कोश के निर्माता श्री एन० बी० रानाडे ने अपने कोश की भूमिका में किया है। जिसके अनुसार तत्कालीन बंबई प्रेसीडेन्सी में पारिभाषिक शब्दों की दृष्टि से प्रथम प्रयास प्रारंभ हुआ था। तदनतर द्वितीय प्रयास बंगीय साहित्य परिषद् की ओर से हुआ। दोनों ही आयोजन असफल रहे। तृतीय प्रयास काशी नागरी प्रचारिणी सभा के तत्वावधान में विज्ञान की सात शाखाओं की शब्दावलियों के लिए हुआ था। इसके सम्पादकों में पंडित माधव राव सप्रे, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, महामहोपाध्याय पंडित सुधाकर द्विवेदी, बाबू श्यामसुंदर दास तथा बाबू ठाकुरप्रसाद थे। इस कार्य को प्रामाणिक बनाने के लिए सभा ने देश के प्रमुख विद्वानों का सहयोग लिया था। जिसमें प्रो० ए० सी० सान्याल, बाबू भगवान दास, बाबू भगवती सहाय, बाबू दुर्गा प्रसाद, बाबू गोविंद दास, लाला खुशीराम, प्रो० एन० बी० रानाडे, प्रो० रामवतार शर्मा, प्रो० टी० के० गज्जर, प्रो० बनमाली चक्रवर्ती तथा पंडित विनायक राव आदि थे। तत्कालीन बंगाल, पंजाब, संयुक्त प्रदेश (वर्तमान उत्तर प्रदेश) तथा मध्य प्रदेश के शिक्षा विभाग का भी सहयोग लिया गया था। इस योजना के अन्तर्गत सन् १९०१ में बाबू श्यामसुन्दर दास का हिंदी वैज्ञानिक कोश (गणित), सन् १९०२ में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का 'हिंदी-वैज्ञानिक कोश' (दर्शन) तथा ठाकुरप्रसाद खत्री का 'हिंदी वैज्ञानिक कोश' (भौतिकी) प्रकाशित हुए। इसी भाँति १९०२ मे ही अर्थशास्त्र आदि के भी पारिभाषिक शब्दों की सूची का प्रकाशन सभा ने किया था। सन् १९१२ मे ठाकुर प्रसाद खत्री का 'व्यापारिक पदार्थ कोश' प्रकाशित हुआ। स्वतः प्रो० रानाडे ने अपने महान कोश 'ट्वेन्टिएथ सेंचुरी इंगलिश-मराठी-डिक्शनरी' में वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली के अधिकांश सम्यक् पर्यायों को बड़े श्रमपूर्वक प्रस्तुत करते हुए लिखा था कि उनके इस प्रयास के पश्चात् कम से कम २५ वर्षों तक देशी भाषाओं के लिए नवीन वैज्ञानिक शब्द संग्रहों की आवश्यकता न होगी।

सुख संपत्तिराय भंडारी के महत् प्रयास की चर्चा यहाँ अत्यावश्यक है जिन्होंने 'ट्वेन्टिएथ सेन्चुरी इंगलिश हिंदी डिक्शनरी' के कार्य की रूपरेखा प्रथम महायुद्ध के पूर्व १९१४ ई० में ही बना ली थी और सन् १९२६ से कोश संपादन कार्य प्रारम्भ हुआ और बीस हजार पृष्ठों में कोश की पाण्डुलिपि तैयार हुई। श्री भंडारी का यह प्रयास स्वातंत्र्यपूर्व के महत्तम प्रयासों में से एक था। उनके इस अंग्रेजी हिंदी कोश की प्रशंसा रवींद्रनाथ ठाकुर पं० मदन मोहन मालवीय पं० जवाहर लाल नेहरू डॉ० राजेन्द्र प्रसाद पं० गोविंद वल्लभ पंत, श्री

कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी तथा महामहोपाध्याय डॉ० गंगानाथ झा आदि ने की थी इसका प्रकाशन तत्कालीन देशी रियासतों के नरेशों तथा धनपतियों के सहयोग से हुआ था। इसकी भूमिका में अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए भंडारी जी ने लिखा था, "हमारा यह प्रिय देश भारतवर्ष भी नवीन युग में प्रवेश कर रहा है। अन्य प्रगतिशील राष्ट्रों की तरह यह भी संसार में ज्ञान और विज्ञान की घुड़दौड़ में आगे रहने की चेष्टा करे। इसके लिए इस देश में विविध प्रकार के वैज्ञानिक विषयों में विकास की परम आवश्यकता है। पाश्चात्य जगत ने विभिन्न वैज्ञानिक विषयों में दक्षता प्राप्त की है, उसका हमें पूरा-पूरा लाभ लेना ही होगा। इसके अतिरिक्त हमें भी अपनी ओर से विज्ञान के क्षेत्र में कुछ ऐसी बहुमूल्य देन देनी होगी जिससे हम भी अपना मस्तक ऊँचा कर सकें। इनका यह कोश प्रायः एक दर्जन से अधिक जिल्दों में प्रकाशित हुआ, जिसमें न्याय, प्रशासन, मानवशास्त्र तथा विज्ञान की अधिकांश शब्दावलियों के पर्याय विषयानुसार प्रस्तुत किए गए हैं। विधि, प्रशासन, राजस्व, उद्योग, अभियंत्रण, युद्ध, बीमा, श्रम, खनिज, न्याय एवं राजनीतिशास्त्र संबंधी शब्दावलियों की व्याख्या देकर विद्वान् ने कार्य को और भी प्रामाणिक बनाया था। वास्तव में हिंदी-भाषी क्षेत्रों में यदि जागरूकता होती तो इतना बड़ा कार्य यों ही पुस्तकालयों की मात्र शोभा न बढ़ाता वरन् इसका उपयोग करके हिंदी के ज्ञान-विज्ञान के भंडार की अभिवृद्धि की गई होती और हिंदी की विपन्नता का झूठा नारा मखौल बनकर रह जाता।

विज्ञान संबंधी शब्दावली प्रस्तुत करने का कार्य अनेकों विद्वानों ने किया है। डॉ० सत्यप्रकाश जी का 'वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्द' सन् १९३० में प्रकाशित हुआ था। वैज्ञानिक शब्दावली के लिए हिंदी साहित्य सम्मेलन ने भी ए० सी० सेनगुप्त के सहयोग से समय-समय पर 'प्रत्यक्ष शरीर कोश' (१९५१) 'भूतत्त्व विज्ञान कोश' (१९५२) तथा 'चिकित्सा-विज्ञान कोश' (१९५५) का प्रकाशन किया था। सम्मेलन के ही तत्वावधान में व्रजकिशोर मालवीय का 'जीवरसायन कोश' (सं० २००९) प्रकाशित हुआ था। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि हिंदी साहित्य सम्मेलन ने इस योजना के अंतर्गत चालीस शब्द कोशों की योजना बनाई थी जिसकी सूची सम्मेलन द्वारा प्रकाशित 'शासन शब्दकोश' की भूमिका में उपलब्ध है। इनके अतिरिक्त विज्ञान परिषद् द्वारा श्री व्रजमोहन के संपादकत्व में प्रकाशित 'अँग्रेजी हिंदी वैज्ञानिक कोश' आदि महत्वपूर्ण कोशों का प्रकाशन समय-समय पर हुआ। केशव प्रसाद मिश्र कृत 'वैद्युत-शब्दावली' तथा व्रजमोहन कृत 'गणितीय कोश' (१९५४) में भी विज्ञान की एक-एक शाखा की हिंदी शब्दावलियाँ प्रस्तुत की गईं। इसी प्रकार 'जंतु विज्ञान शब्द कोश' में डॉ० महेश्वर सिंह सूद ने १२ वर्ष के कठोर श्रमोपरांत बीस हजार शब्दों के पर्याय स्थिर किए, जिसमें अन्य संबंधित विज्ञानों के भी शब्दों को स्थान मिला है। इसी प्रकार तकनीकी शब्दों के लिए राजकमल प्रकाशन ने 'टेकनिकल इंगलिश हिंदी ग्लासिरी' का प्रकाशन किया। विज्ञान के छात्रों के लिए विज्ञान की प्रशाखाओं का साहित्य प्रस्तुत करते समय भी वैज्ञानिक हिंदी पर्यायों पर विद्वानों ने कार्य किया था जिसका उपयोग वे स्वरचित पुस्तकों में ही कर सके। श्री चंचल स्वरूप गुप्त ने जंतु विज्ञान की शब्दावली की समस्या पर एक लेखक के रूप में विचार किया है। उनके द्रष्टव्य निष्कर्ष जंतु विज्ञान पुस्तक के अंत में संगृहीत हैं

अन्य मानवशास्त्रों के लिए भी कई कोशकारों ने प्रयास किए थे। 'व्यापारिक कोश' (सं० व्रजवल्लभ) १६०८ में ही छपा था। १६२७ में भगवानदास केला ने 'राजनीति शब्दावली' तथा (१६३२) में 'अर्थशास्त्र शब्दावली' का प्रकाशन किया। 'अर्थशास्त्र शब्दावली' का पुनर्प्रकाशन सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री स्व० पं० दयाशंकर दुबे के सहयोग से १६४६ में हुआ था। श्री रामनारायण मिश्र की 'भूगोल शब्दावली', कांतानाथ गर्ग का 'वाणिज्य शब्दकोश' (१६५४) डॉ० सत्यप्रकाश का 'समाचार शब्दकोश' तथा गदाधर प्रसाद का 'अर्थशास्त्र शब्दावली' (१६३२) में प्रकाशित मानवशास्त्र संबंधी पारिभाषिक शब्द-संग्रहों के कारण हिंदी पर्याप्त सम्पन्न हो चुकी है।

आचार्य डॉ० रघुवीर के स्तुत्य प्रयास को कौन भूल सकता है जिन्होंने सन् १६४ -४६ के मध्यावधि में लाहौर से देवनागरी, बंगाली, तमिल तथा कन्नड़ लिपियों में बृहत-आंगल-भारतीय कोश ग्रेट इंगलिश इंडियन डिक्शनरी) का प्रकाशन किया था। आचार्य जी का 'वाणिज्य शब्द कोश' संवत् २००४ में छपा था। इसके पश्चात् १६५० मे 'दि कन्सालिडेटेड ग्रेट इंगलिश इंडियन डिक्शनरी ऑफ टेकनिकल टर्म्स' का प्रकाशन 'द इंटरनेशनल एकेडमी आफ इंडियन कल्चर' नागपुर से हुआ जिसमें भारत के वैज्ञानिकों एवं मानवशास्त्र के पंडितो का सहयोग लिया गया था। इस कार्य के उपरांत भाषाविद् डॉ० रघुवीर तथा डॉ० लोकेशचंद्र द्वारा संपादित महान कोश 'ए कम्प्रेहैंसिव इंगलिश हिंदी डिक्शनरी आफ गवर्नमेंट एंड एजुकेशन वर्ड्स एंड फ्रेजेज' का प्रकाशन १६५५ में हुआ। डेढ़ लाख शब्दों के इस महान कोश को देखकर ही हिंदी शब्द-भंडार की व्यापकता का अंदाज लगाया जा सकता है। इन सभी कार्यो मे डॉ० रघुवीर ने सर्वमान्य भारतीय विद्वानों का निःसंकोच सहयोग प्राप्त किया था। दुर्भाग्य यह रहा कि डॉ० रघुवीर के इस कार्य के प्रति शासन ने उत्साह नहीं प्रकट किया और 'रघुवीरी हिंदी' का आन्दोलन खड़ा करके हिंदी के इस महान सेवी की साधना को यद्यपि झुठलाने का प्रयास किया गया, किंतु अनेक अवरोधो के बाद भी विद्वानों के बहुत बड़े वर्ग ने डॉ० रघुवीर के बहुत से पर्यायों को निःसंकोच अपनाया। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि संविधान के हिंदी प्रारूप के लिए स्व० डॉ० राजेंद्रप्रसाद जी ने १६४८ में संविधान सभा के निर्णय के अनुसार अन्य विद्वानों के साथ डॉ० रघुवीर को भी संविधान की शब्दावली के पर्यायों के लिए नियुक्त किया था। अपने कोश निर्माण क्रम में ही आचार्य जी ने जो० एस० गुप्त के साथ १६५८ मे 'इंगलिश हिंदी डिक्शनरी आफ एडमिनिस्ट्रेशन' का भी संपादन किया था।

जिन देशी-राज्यों में भारतीय भाषाओं में शासन का काम-काज चलता था उन्होंने भी शासन संबंधी प्रचुर शब्दावलियों का निर्माण कर लिया था। इस प्रकार के कार्यों में बडौदा सरकार द्वारा १६३२ में प्रकाशित 'सयाजी राव शासन शब्द-कल्पतरू' का विशेष महत्व है। सन् १६४० में श्री हरिहर निवास द्विवेदी का 'शासन शब्द संग्रह' प्रकाशित हुआ था। दो खंडों में विभाजित इस शब्द-संग्रह का महत्व इसी से प्रतिपादित होता है कि सन् १६५२ तक इसके ६ संस्करण निकल चुके थे। न्यायालयों के लिए 'हिंदी सभा सीतापुर' ने सन् १६४८ मे न्यायालय शब्द कोश' तैयार कराया। इसी भाँति उसी वर्ष बरेली से श्री जगदीश शरण अग्रवाल का 'न्यायालय शब्द संग्रह १६५१ में जे० एन० बाघरे तथा द्वारा

संपादित न्याय शब्द कोश प्रकाशित हुआ था प्रसिद्ध कोशकार श्री रामचंद्र वर्मा एवं श्री गोपालचंद्र सिंह द्वारा संपादित आरक्षिक (पुलिस) शब्दावली सं० २००५ एवं स्थानिक शब्दावली' (१६४८), महापंडित राहुल सांकृत्यायन, पं० विद्यानिवास मिश्र और श्री प्रभाकर माचवे द्वारा संपादित तथा हिंदी साहित्य सम्मेलन द्वारा (सं० २००५) में प्रकाशित 'शासन शब्द कोश', गोरखनाथ चौबे का 'राजकीय कोश', (१६५० में सोमनाथ उपाध्याय द्वारा संपादित हिंदी, अँग्रेजी और उर्दू का त्रिभाषी राजकाज शब्दकोश', (१६५८) में विराज द्वारा संपादित 'प्रशासन शब्दावली' तथा लखनलाल श्रीवास्तव की 'पारिभाषिक शब्दों की सूची सामान्य प्रशासन' आदि का प्रकाशन समय-समय पर हुआ। ज्ञानमंडल द्वारा प्रकाशित 'पारिभाषिक शब्द कोश' में राजकीय कार्यों में प्रयुक्त होने वाले पाँच हजार अँग्रेजी शब्दों की परिभाषा तथा हिंदी पर्याय हैं। इसी भाँति केंद्रीय सचिवालय हिंदी परिषद् ने भी संक्षिप्त 'प्रशासनिक शब्दावली हिंदी अँग्रेजी' का प्रकाशन किया है।

स्वतंत्रता के उपरांत हिंदी भाषी क्षेत्रों मे हिंदी में कार्य करने का निश्चय क्रियान्वित करने के लिए हिंदी के पारिभाषिक शब्दों के निर्माण का कार्य प्रारंभ हुआ था और उसी आधार पर १६४८ में उत्तर प्रदेश के तत्कालीन शिक्षा-मंत्री डॉ० संपूर्णानंद की अध्यक्षता मे प्रशासन तथा विधि संबंधी अँग्रेजी शब्दों के हिंदी पर्याय स्थिर करने के लिए समिति की स्थापना हुई थी। इस समिति का पुनर्गठन भी १६५४ में हुआ और समिति ने शासन और विधि संबंधी पारिभाषिक शब्दों एवं पदनामों के हिंदी पर्यायों के चयन, निर्माण और स्थिरीकरण का कार्य भी प्रारंभ किया था। सन् १६५४ के पूर्व ही संविधान का हिंदी संस्करण अपनी शब्दावली के साथ प्रकाशित हुआ। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि भारत सरकार ने भी शिक्षा मंत्रालय के अधीनस्थ १६५०-५१ में देश भर के लिए समान वैज्ञानिक शब्दावली बनाने और सभी आधुनिक भारतीय भाषाओं के लिए इन शब्दों का एक कोश तैयार करने के लिए सामान्य सिद्धांत निश्चित करने के उद्देश्य से भाषाशास्त्रियों और वैज्ञानिकों के लिए 'बोर्ड आफ साइंटिफिक टर्मिनालोजी' नाम से एक बोर्ड की स्थापना की थी। इस बोर्ड ने भी पर्यायों के स्थिरीकरण के संबंध में कुछ सिद्धांत और कार्य प्रणाली स्थिर की थी। सरकार द्वारा प्रसारित शब्द-सूचियों के प्रकाशन के पूर्व उनको मान्य करने के लिए किस प्रक्रिया का अनुगमन होता था, उसकी झलक शिक्षा मंत्रालय के १६५६ के सचिव श्री ख्वाजा गुलामुस्सैयिदैन द्वारा लिखित 'लिस्ट आफ टेक्निकल टर्म्स इन हिंदी', के प्राक्कथन में प्रत्येक विषय के विशेषज्ञ समितियों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि 'ये समितियाँ जिन शब्दों को स्वीकृत करती हैं उन्हें पारिभाषिक शब्दों की अन्तिम सूचियों के रूप में प्रकाशित किया जाता है। फिर इन्हें सुझाव और टिप्पणी के लिये देश भर में भेज दिया जाता है। इस कार्य से लोगों में बहुत दिलचस्पी पैदा हुई और विभिन्न भाषा क्षेत्रों से इन शब्दावलियों पर बहुमूल्य सुझाव और टिप्पणियाँ प्राप्त हुई हैं। इन सबको विभिन्न विशेषज्ञ समितियाँ जाँचती और परखती हैं और तब उसके अनुसार अन्तिम सूचियों की पुनरीक्षण करके उनमें संशोधन किये जाते हैं। इसके बाद संशोधित सूचियों को पारिभाषिक शब्दावली बोर्ड के सामने रखा जाता है और बोर्ड के अनुमोदन के बाद अंतिम स्वीकृति के लिए उन्हें भारत सरकार को भेज

दिया जाता है इसके बाद उन्हें मानक और प्रामाणिक शब्द सूचियों के रूप में प्रकाशित कर दिया जाता है। प्रत्येक विषयों के कोश निर्माण के लिए अलग-अलग समितियों की नियुक्तियाँ की गई थीं। पारिभाषिक शब्दों की एकरूपता लाने के लिए उत्तर प्रदेश सरकार ने अपने शब्द निर्माण कार्य को थोड़ा ही आगे बढ़ाया, फिर भी उत्तर प्रदेश प्रशासन शब्दावली सबंधी पुस्तिकाएँ भाषा-विभाग की ओर से प्रकाशित हुईं और उन्हें सुझाव और सम्मतियों के लिए प्रसारित भी किया गया था। इसी प्रकार अन्य प्रादेशिक शासनों ने भी शब्दावलियों के निर्माण का कार्य प्रारंभ किया था। १९४८ में ही मध्य प्रदेश शासन के विधान सभा के तत्कालीन अध्यक्ष श्री घनश्याम सिंह गुप्त के सम्पादकत्व में 'वर्ड्स आफ जनरल यूज इन दी लेजिस्लेटिव रडर्ड इंटू हिंदी' शब्द संग्रह बना था।

हिंदी का शब्द भंडार बड़ी तेजी से बढ़ता जा रहा है। इसके कई कारण हैं। नए ज्ञान-विज्ञान के नवीन क्षेत्रों में हिंदी में काम करने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। भारत की राजभाषा का पद पाने के बाद शासन का ही यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह संविधान के संकल्प के अनुसार हिंदी को सक्षम और समर्थ बनाए। भारत शासन यद्यपि पूरी शक्ति से क्रियाशील नहीं है फिर भी संवैधानिक व्यवस्थाओं के दबाव अथवा राष्ट्रभाषा के प्रेमियों के सतत आग्रह के कारण वह कुछ काम करती दिखाई देती है। फिलहाल भारत सरकार ने आयोगों और समितियों के माध्यम से पारिभाषिक एवं तकनीकी शब्दावलियों के बहुत बड़े अभाव को दूर करने का पुनर्प्रयास किया है। पुनर्प्रयास इसलिए कि इसके पूर्व भी हिंदी के विद्वानों ने इस दृष्टि से बहुत-सा कार्य निजी प्रयास से पूर्ण कर लिया है। केंद्रीय सरकार के तत्वावधान में राजभाषा विधायी आयोग, हिंदी निदेशालय तथा शिक्षा मंत्रालय के अंतर्गत वैज्ञानिक एवं तकनीकी पारिभाषिक शब्दावली आयोग—तीन प्रतिष्ठान काम कर रहे हैं।

केंद्रीय शासन ने इस दिशा में मंथर गति से ही क्यों न हो, अब तक कुछ महत्वपूर्ण कार्य किये हैं। १९६२ में भारत सरकार के शिक्षा विभाग के अंतर्गत केंद्रीय हिंदी निदेशालय से 'पारिभाषिक शब्द संग्रह अँग्रेजी-हिंदी' प्रकाशित हुआ। १९६१ के मध्य तक २६ विशेषज्ञ-उपसमितियों ने लगभग ३ लाख शब्दों का निर्माण किया था। उन्हीं में से १३७० पृष्ठों का यह बृहद् शब्द-संग्रह प्रकाशित हुआ। भारत सरकार के इस प्रकाशन से अनुवादकों आदि को कुछ सहारा मिला। यद्यपि यह शब्द-संग्रह पूर्ण प्रामाणिक नहीं बन पाया किंतु पर्यायों का प्रयोग करके उनकी सुप्रयुक्तता आदि पर विचार करने का अवसर भाषा-शास्त्रियों को अवश्य प्राप्त हुआ है। इसके प्रकाशन से व्यक्तिगत स्तर पर पारिभाषिक शब्दों के गढ़ने की प्रक्रिया मंद हुई, जिसके कारण वैज्ञानिक ग्रंथों के हिंदी पर्यायों के संबंध में जो मनमानी चल रही थी उस पर अंकुश लगा है। अनेक अभावों एवं त्रुटियों के बाद भी हिंदी में काम करने के इच्छुक व्यक्तियों के द्वारा इस शब्द संग्रह से पर्याप्त सहायता ली जा सकती है। सन् १९६४ में वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली के स्थायी आयोग, जो कि अक्तूबर ६३ में नियुक्त हुआ था, द्वारा स्वीकृत 'विज्ञान शब्दावली' १ का प्रकाशन केंद्रीय हिंदी निदेशालय से हुआ है। इसके ५३४ पृष्ठों में वनस्पति विज्ञान रसायन भूगाल, भूगर्भ विज्ञान गणित भौतिकी तथा प्राणि-विज्ञान के ४०००० शब्दों का सग्रह है। इसमें पर्व प्रकाशित शब्द सग्रह' के अनेक

पर्यायों को अस्वीकार करके उनको निश्चयात्मक रूप प्रदान किया गया है। इसी प्रकार सरकारी कार्यालयों के लिए आयोग ने १९६४ में 'पदनाम शब्दावली' तथा जनवरी १९६५ में 'प्रशासन शब्दावली' का प्रकाशन किया है। इन सूचियों में शब्दों के पर्याय केंद्रीय सरकार तथा राज्य सरकारों के प्रतिदिन के प्रशासनिक कार्यों में प्रयोग के लिए संग्रहीत किए गए हैं। विज्ञान एवं प्रशासन के अतिरिक्त हाल ही में विधि मंत्रालय के अंतर्गत सन् १९६१ में गठित 'राजभाषा विधायी आयोग' के विधायी विभाग की ओर से मानक 'विधि शब्दावली' का प्रकाशन हुआ है जिसमें भारतीय दंड संहिता १८६०, भारतीय साक्ष्य अधिनियम १८७२ और संपत्ति अंतरण अधिनियम १८८२ के प्रामाणिक हिंदी पाठ में प्रयुक्त विधि शब्दावली प्रस्तुत की गई है। यह महत्वपूर्ण शब्द संग्रह ३११ पृष्ठों का है। यदि 'विधायी आयोग' पर्यायों की अंग्रेजी व्याख्या के बजाय हिंदी में व्याख्या प्रस्तुत कर देता तो इसकी उपयोगिता और भी बढ़ जाती। फिर भी जो लोग विधि के क्षेत्र में हिंदी में काम करना चाहते हैं उनके लिए यह संग्रह विशेष उपयोगी है।

इन पारिभाषिक शब्द-संग्रहों के अतिरिक्त भी अनेक महत्वपूर्ण कोशों एवं शब्द-संग्रहों का प्रकाशन सरकारी स्तर पर हो रहा है। विद्वान तथा हिन्दी सेवी संस्थाएँ भी इस दिशा में प्रयत्नशील हैं। सव्याख्या पारिभाषिक कोशों की रचना की ओर भी विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुआ है। इस दृष्टि से चन्द्रराज भंडारी का वनस्पति शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ 'वनौषधि चन्द्रोदय' दस भागों में प्रकाशित हुआ था। जिसमें भारतीय भाषाओं के अतिरिक्त लैटिन पर्यायों की सूचियाँ भी ग्रन्थ में सम्मिलित की गई हैं। यह काम भी आगे बढ़ रहा है। डॉ० नगेन्द्र के सम्पादकत्व में मानविकी पारिभाषिक कोश के दर्शन साहित्य आदि के कुछ खण्ड प्रकाश में आए हैं। नई पीढ़ी के कोशकार बदरीनाथ कपूर का सव्याख्या 'वैज्ञानिक पारिभाषिक कोश' भी एक नया कीर्तिमान स्थापित कर चुका है। मानवशास्त्र एवं विज्ञान के लेखकों ने भी बहुत बड़ी संख्या में विचारपूर्वक हिन्दी पर्यायों को अपने-अपने ग्रन्थों में अनुक्रमणिका के रूप में प्रस्तुत किया है। इनके अतिरिक्त भी अनेकों कार्य हिन्दी में हो रहे हैं या सम्पन्न हो चुके हैं, जिन्हें देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि आज भी हिन्दी में पारिभाषिक शब्दों की वैसी समस्या है, जैसी १९५० के पूर्व थी। हिन्दी के प्रकाशित शब्द-संग्रह इतने पर्याप्त हैं कि उनके सहारे ज्ञान-विज्ञान, प्रशासन, न्याय और जीवन के विविध क्षेत्रों में हिन्दी में काम किया जा सकता है।

नयी शब्दावली और उसके उपयोग की समस्या

हिंदी तथा भारतीय भाषाओं की प्रकृति को देखते हुए नये पर्यायों का निर्माण किया गया है। इन पर्यायों को देखकर अनजाने ही लोग उसकी जटिलता की चर्चा कर बैठते हैं। साथ ही अब भी कई बार आग्रह किया जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक और तकनीकी पर्यायों को ज्यों का त्यों ले लिया जाय। इन प्रश्नों पर बहुत अधिक चर्चा हो चुकी है। विशिष्ट ज्ञान जिस प्रकार सरल नहीं होता उसी प्रकार विशेष प्रयोजनों के लिये प्रयुक्त पर्याय भी प्रायः सुगम नहीं होते। स्वयं अंग्रेजी के अधिकांश पर्याय लैटिन और ग्रीक से सीधे लिए

गए हैं। वे सरल पर्याय नहीं हैं। उसी भाँति हिन्दी के पर्याय मुख्य रूप से संस्कृत स्रोतों से लिए गए हैं, जिनके कारण प्रारम्भ में वे पर्याय व्यवहार के अभाव में खटकने वाले हो सकते है, किन्तु निरंतर व्यवहार से वे सुगम और ग्राह्य हो जाएँगे। रही अंतर्राष्ट्रीय पर्यायों की बात, इस सम्बन्ध में भी सरकारी आयोगों ने कुछ मध्यम मार्ग का अनुसरण किया है और तदनुसार कुछ अन्तर्राष्ट्रीय पर्यायों को भी स्वीकार किया गया है। यहाँ एक बात और भी द्रष्टव्य है कि जो वैज्ञानिक और तकनीकी पर्याय हिन्दी के लिए बनाए गए हैं, उनका ही उपयोग प्रादेशिक भाषाओं की प्रकृति को देखते हुए उनमें भी होगा, जिससे कि समस्त भारत की वैज्ञानिक एवं प्राविधिक शब्दावली में समानता हो। भारत की भावी सामासिक संस्कृत के संदर्भ में कुछ अति क्लिष्ट पर्यायों को स्वीकार करना ही पड़ेगा। हमें व्यक्तिगत रुचि, आंचलिक आग्रह एवं संकीर्ण दृष्टि का परित्याग कर शब्दावली की समस्या पर एक ओर अखिल भारतीय दृष्टि रखनी होगी, दूसरी ओर विषयगत जटिलताओं को समझ कर एकांगी चिन्तन, विश्लेषण, अपरिपक्व भाषा-ज्ञान और सही वैचारिकता के अभाव से मुक्त होना पड़ेगा।

जैसा ऊपर विवरण प्रस्तुत किया जा चुका है, अनेक प्रयास अंग्रेजी-हिन्दी पर्यायों को लेकर हो चुके हैं। इसके कारण एक ही शब्द के कई-कई पर्याय विभिन्न लेखकों की कृतियों मे मिलते है। शासन ने इस दिशा में अपने कोशों को ही मानक माना है और वह आयोगों द्वारा मान्य शब्दावली का उपयोग करवाने के लिए कटिबद्ध है। इस दृष्टि से आज यह परमावश्यक प्रतीत होता है कि व्यवहार द्वारा स्वीकृत करते हुए नए पर्यायों को शीघ्रातिशीघ्र रूढ़ कर लेना चाहिए। व्यक्तिगत अलजता और भावुकता के आधार पर नए-नए पर्यायों को गढ़ कर पूर्वस्वीकृत पर्यायों की अवहेलना करना हिन्दी के सार्वदेशिक स्वरूप की दृष्टि से घातक है। समितियों, आयोगों और हिन्दी के वरिष्ठ लेखकों के कार्यों पर भरोसा रखकर नयी शब्दावली को व्यवहार में लाना ही उपयोगी है।

वास्तव में अब उपभाषाओं सहित हिन्दी का शब्द-भंडार विश्व की किसी भी भाषा से कम नहीं है। आवश्यकता है कि प्रयासपूर्वक उसकी नयी शब्दावली का व्यापक प्रचार और व्यवहार करके हम उन्हें अपना लें। बिना अपनाए हुए कोई भी शब्द सरल नहीं हो सकता और न उसकी अर्थवत्ता का परीक्षण ही हो सकता है। निरंतर रट-रटकर हमने अंग्रेजी से अपना सम्पर्क स्थापित कर लिया है। फिर हम यह कैसे समझते है कि हिन्दी के लिए पर्यायों का परिचय अनायास ही हो जायगा। हिन्दी आज दुनिया की सर्वाधुनिक भाषाओं मे से एक है, जिसमें हजारों शोधार्थी विश्वविद्यालयों, शोध-प्रतिष्ठानों में देश में ही नहीं, विदेशो मे भी अनुसंधान का कार्य व्यक्तिगत रूप से अथवा उपाधि के लिए कर रहे हैं। इतनी तीव्र गति से प्रगति करने वाली भाषा के सम्बन्ध में कूपमंडूक की भाँति चिंतन करने से काम न चलेगा। इसके लिए आवश्यकता यह है कि हम अपने मस्तिष्क को खोलें और हिन्दी संसार की गति-विधियो को नए उत्साह और नये वायुमंडल में देखें। तभी हम वह उत्साह भर सकेंगे जिससे कि हिन्दी राष्ट्रव्यापी हो सकेगी अतिरिक्त अंग्रेजी प्रेम के कारण भारत का बुद्धिजीवी भारतीय भाषाओं से प्रेम नहीं करता इसी कारण उसके पूर्ण कृतित्व से भारतीय भाषाएँ अभी भी

लाभान्वित नहीं हो पा रही हैं। भारत के बुद्धिजीवी अब यह समझ लें कि हिन्दी एवं भारतीय भाषाओं में आधुनिक ज्ञान-विज्ञान देकर ही इस विशाल देश की जनता के साथ ही नहीं, अपने 'व्यक्ति' के साथ भी वे न्याय कर पायेंगे। अंग्रेजी के धुंधले ज्ञान की अपरिपक्वता और पिछड़ेपन के सुख से अधिक यथार्थ है कि हम हिन्दी को अपना कर मौलिक प्रतिभा का विकास और सर्जनात्मक वातावरण की सृष्टि करें।

●

भारतीय ऋषियों की लोकोन्मुखी विचारधारा

●

नर्मदेश्वर चतुर्वेदी

●

संसार का सब कुछ काल-सापेक्ष है तो भी उनमें से कुछ युगातीत भी हो सकते हैं, ऐसा मानने वालों की संख्या कदाचित् अधिक नहीं है। यद्यपि सत्य-निरूपण के लिए मत-संख्या का बल अपेक्षित नहीं है। ऐसे लोग, जो युगातीत नहीं मानते, या तो उसे स्वीकार करने में हिचकते हैं अथवा उसे सहसा अस्वीकार कर बैठते हैं। इस हिचक अथवा अस्वीकृति का मूल कारण कदाचित् यह है कि वे अतीत की संगति वर्तमान के साथ नहीं बैठा पाते। मानो काल-प्रवाह को खण्ड-खण्ड देखने की भाँति समझा भी जा सकता है। फिर किसी वस्तु को जितना हम देख पाते है क्या उसकी इयत्ता मात्र उतनी ही होती है ? यदि नहीं, तो वस्तु की भाँति सूक्ष्म-गहन विचारों की सीमा को भी युगातीत मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए। भारतीय ऋषियों को त्रिकाल-द्रष्टा अथवा त्रिकालज्ञ कदाचित् इसीलिए कहा गया है कि वे काल-प्रवाह के संदर्भ में युग-सापेक्ष के साथ-साथ भूत और भविष्य को भी देख-समझ सकने में समर्थ थे।

गणित की भाँति दो और दो मिलकर चार करके यह निष्कर्ष निकालने का यत्न किया गया है कि भारतीय ऋषियों ने इहलोक की अपेक्षा परलोक की चिन्ता अधिक की है। फलस्वरूप उनकी विचारधारा का प्रधान स्वर लौकिक की अपेक्षा अलौकिक अथवा पारलौकिक का है। परन्तु तथ्य इसके विपरीत जाते दिखायी पड़ते हैं ऐसी दशा में उनके प्रति इनके विचार यदि सर्वथा मिथ्या अथवा निराधार नहीं तो कम-से कम भ्रान्त अथवा एकांगी अवश्य हैं

वेदादि का अध्ययन तथा अनुशीलन करने वाले विद्वानों ने समय-समय पर यह स्पष्ट संकेत किया है कि उक्त ऋषियों की उक्तियों में लोकोन्मुखी विचारधारा आकस्मिक न होकर एक व्यापक-दृष्टि-प्रसूत चिन्तन का परिणाम है जिसमें संगति और सातत्य दोनों का ही समावेश है।

उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह कदापि नहीं कि भारतीय ऋषियों की उक्तियों की पुनर्परीक्षा न की जाय, आवश्यक होने पर भी उनमें काट-छाँट न की जाय। निश्चय ही उनकी सम्यक् परीक्षा तथा यथातथ्य विवेचन कर उन्हें ग्राह्य अथवा अग्राह्य ठहराया जाय। यहाँ पर अभिप्राय केवल इतना है कि मात्र प्राचीनता के नाम पर उसे ग्राह्य अथवा अग्राह्य न ठहराया जाय।

यह सच है कि समय-समय पर लोक' शब्द के अर्थ का संकोच अथवा विस्तार होता आया है, किन्तु प्रस्तुत संदर्भ में इस शब्द का प्रयोग आधुनिक अर्थ में ही किया गया है। इस प्रकार 'लोक' शब्द का प्रयोग यहाँ व्यापक अर्थ में ही किया गया है, संकुचित अर्थ मे नहीं। यहाँ पर लोक शब्द का अभिप्राय मानव-मात्र से है, समाज से है। इसलिए इसी अर्थ में इसे ग्राह्य किया जाना चाहिए। उक्त विषय अपने आप में रोचक तथा कौतूहलवर्धक होने के साथ-साथ ज्ञानवर्धक भी है, जिस कारण इसकी चर्चा यहाँ करना समीचीन प्रतीत होता है।

"महाभारत" के शान्ति पर्व (१८०।१२) में[1] मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ पद पर प्रतिष्ठित किया गया है। इसी उक्ति को मध्यकालीन बँगला भक्त-कवि चंडीदास ने 'सबार ऊपर मनुष्य आहेनार ऊपर नाई" कह कर अपनी भाषा में दुहराया है। इस धारणा के मूल में "ईश्वर अंश जीव अविनाशी" जैसी उक्तियों की प्रेरणा भी संभव है। इस संदर्भ में "श्वेताश्वतरोपनिषद्" (६।११) का "एको देव: सर्वभूतेषु गूढ़:" द्रष्टव्य है। वेदान्त का "तत्वम् असि" और 'जीवो ब्रह्मैव नापरा' भी ध्यान देने योग्य है। इसी प्रकार प्रत्यभिज्ञादर्शन का 'स्वात्मैव सर्वजन्तु-नाम एक इव महेश्वरा:' भी विचारणीय है। कदाचित् इसी कारण 'ऋग्वेद' (२।१०।५) में कहा गया है कि 'कोई भी छोटा अथवा बड़ा नहीं, सभी भ्रातृवत् हैं, जो ऐश्वर्य वृद्धि के लिए समान भाव से यत्नशील हैं।[2] इसे और भी स्पष्ट करते हुए एक अन्य मंत्र (५।५६।६) में[3] यहां तक बतलाया गया है कि 'वे सभी न तो बड़े हैं न छोटे और न मध्यम। सभी उदीयमान है। अतएव उत्साहपूर्वक रीतिविशेष से बढ़ने का यत्न करते हैं। 'ये दिव्य मनुष्य हैं (जो) हमारे निकट आ जांय' अथर्ववेद' (५।३०।७)[4] में जीवन का लक्ष्य 'ऊपर उठना और आगे बढ़ना' सूचित किया गया है। 'शतपथ ब्राह्मण' ।२।४। से[5] तो यहाँ तक संकेत मिलता है कि आर्य ऋषि प्रारंभकाल से ही लोक-कल्याण में ही आत्म-हित मानते आये हैं। कदाचित् तभी अथर्ववेद (३।२४।५) में[6] 'सैकड़ों हाथों से अर्जन करके सहस्रों हाथों में वितरण करने' की कामना की गई है। क्योंकि अथर्ववेद (१२।१।१२) के अनुसार[7] हम सभी पृथ्वी-पुत्र हैं।

फिर भी प्राचीन मनीषियों पर स्पष्टत: आततताइयों के प्रति व्यक्त किये गए इतस्तत: बिखरे कतिपय उद्गार के आधार पर एक विशेष वर्ग के लोगों द्वारा यह आक्षेप किया जाता है कि वे ऋषि रक्त तथा वर्ण विशेष के प्रति पक्षपात का भाव रखते थे परन्तु

ब उनके सार्वभौम तथा सार्वजनीन विचारों का हम विश्लेषण अथवा विवेचन करने लगते , तो उक्त आक्षेप अथवा आरोप हमें निरर्थक तथा निराधार तक लगने लगते हैं। कभी-कभी तो ऐसा भी प्रतीत होता है कि कहीं उक्त आक्षेप अथवा आरोप किसी पक्षपात अथवा पूर्वग्रह के परिणाम स्वरूप तो नहीं हैं। इसलिए हमें एक बार फिर सावधान होकर वस्तुस्थिति से अवगत होने का यत्न कर लेना चाहिए।

ऋग्वेद (१०।१०१।१)[८] में जागरण का संदेश देते हुए कहा गया है कि 'हे मित्रो, समानमना होकर उठो, जागो।' क्योंकि शिव-संकल्प-युक्त होकर उत्थान और विकास की ओर अग्रसर होना है। श्रेष्ठत्व लाभार्जन के लिए सम्मिलित होकर प्रसन्न भाव से दायित्व का भार वहन करना है।[९] यह तभी संभव है जब कि हमारे आचरण की मूल प्रेरणा समानता की भावना से स्पन्दित हो।[१०] यही नहीं, उसके सभी अवयव सबल तथा समर्थ हों।[११]

परन्तु जब तक लक्ष्य अथवा गंतव्य-स्थल का पता न हो, उद्देश्य स्पष्ट न हो, संकल्प दृढ न हो, तब तक मात्र क्रिया की सार्थकता संदिग्ध बनी रहती है। इस प्रसंग में यह सदा ध्यान में रखने की बात है कि ऋषियों ने अपने सिद्धान्तों का निरूपण करते समय मूलतः एकता का नहीं, अभिन्नता का भाव रखा है, मित्रता का नहीं, आत्मीयता का विचार रखा है। इस प्रकार आधुनिक कसौटी उनकी कसौटी से भिन्न ठहरती है। इस मूलाधार के विस्मृत हो जाने से उनकी उक्तियों का भाव-बोध अथवा अर्थ-बोध हृदयंगम करना सब समय संभव नहीं हो पाता। आत्मा और परमात्मा के स्वीकृत संबंध के आलोक में व्यक्ति की अहं भावना की स्थिति स्पष्ट होते देर नहीं लगती और आत्म-चेतना द्वारा वह अपने को निर्द्वन्द्व तक अनुभव करने लगता है। व्यक्ति नहीं, व्यक्तिवाद द्वारा उत्पन्न कलुष-कल्मष के दूर होने का उपाय भी सूझने लगता है। यह उस समाज-व्यवस्था से भी भिन्न दीखने लगता है, जिसमें व्यक्ति के विकास की संभावना तक क्षीण दिखायी देती है। यह मूलाधार ऐसा नहीं है जो घटना अथवा परिस्थिति विशेष के कारण मूलतः परिवर्तित हो जाय। घटना अथवा परिस्थिति का प्रभाव उसकी परिधि अथवा उसके क्षेत्र के विस्तार अथवा संकोच तक भले ही लक्षित हो जाय, उससे प्रवृत्त अवस्था न बदलेगी। मनुष्य अपने को यजुर्वेद।३४।१। के 'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' से अभिभूत पायेगा। उसका ज्ञान उसके कर्म में विभ्रम उत्पन्न कर बाधक न बन सकेगा, हीन-भावना अथवा संकीर्णता का लोप हो जायेगा। ऐसी दशा में न तो कर्महीन ज्ञान कोरा बकवास बनकर रह जायेगा, न ज्ञानहीन कर्म पशु कर्म की कोटि का कहला सकेगा। सभी क्रियाओं की दिशा लक्ष्य विशेष की ओर उन्मुख हो जायेगी और अधिकार, उपभोग तथा उपयोग का प्रश्न जटिल न रह कर सरल हो जायेगा।[१२] भाषा-भेद और धर्म-भेद के कारण उत्पन्न समस्या का समाधान निकल जायेगा। केन्द्र-बिन्दु का पता चलते ही परिधि के आयाम स्पष्ट हो जायेंगे।[१३] फिर मुक्ति का मार्ग स्पष्ट हो जायेगा। 'स्व-पर' की विभाजक रेखाएं मात्र काल्पनिक ठहरेंगी और समानता का भाव उदय होते ही भौतिक बँटवारे की उलझन दूर करना असाध्य न रह जायेगा। उपनिषद्-वाक्य[१४] की सार्थकता जीवन में चरितार्थ होने लगेगी। फिर तो, तू मुझे दे और मैं तुझे दूँ[१५] का व्यवहार सहज हो जाएगा

ऐसा ही जन समुदाय वास्तव में राष्ट्र का निर्माण करता है। इसीलिए राष्ट्र को प्रजा का पुत्र कहा गया है।[16] वह उसे धारण कर जन्म देती है और उसकी रक्षा भी करती है। राष्ट्र बाहर का बनने के पहले भीतर का होता है। उसी समय से ऋग्वेद ।५।६६।६ की यह वाणी गुंजायमान हो जाती है कि हे व्यापक दृष्टि वालों, हे मित्रो, हम विद्वान् आपके साथ मिलकर विस्तृत तथा बहुपालित स्वराज्य में सम्पूर्ण भाव से यत्नशील रहेंगे।[17] इस प्रतिज्ञा द्वारा कृतसंकल्प होकर एक ऐसे स्वराज्य की कामना की गई है जो अलौकिक अथवा पारलौकिक न होकर इसी धरती का है और जो अब तक स्वराज्य न होकर मनोराज्य बना हुआ है।

जब ऐसा स्वराज्य स्थापित हो जायेगा तब शिव-संकल्प होकर अथर्ववेद ।१६।१०।१। की यह मंगलमय वाणी हम दुहरा सकेंगे कि 'हम शान्ति-पथ पर अग्रसर हो सकें। स्वर्ग और पृथ्वी हमारे लिए शान्तिप्रद हों और हमारे लिए कहीं शत्रु न रह जायँ ताकि हम निर्भय होकर विचरण कर सकें।'[18]

भारतीय ऋषियों की लोकोन्मुखी विचारधारा का केन्द्र वस्तुतः सर्वात्मवादी सिद्धान्त है, जिसके अनुसार, 'अखिल ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी जड़-चेतन स्वरूप जगत् है, यह समस्त ईश्वर से व्याप्त है। उस ईश्वर को साथ रखते हुए त्यागपूर्वक भोगते रहो, इसमें आसक्त मत होओ, क्योंकि भोग्य पदार्थ किसका है अर्थात् किसी का भी नहीं है।[19]'

परन्तु किसी भी सिद्धान्त की सच्ची सार्थकता उसके व्यावहारिक होने में निहित है और वह तभी संभव है जबकि कर्म की मर्यादा गौरवपूर्ण समझी जाय। कदाचित् पुराणकारों ने इसीलिए सहस्र फणों वाले शेषनाग के मस्तक पर पृथ्वी को आधारित बतलाया है।

संदर्भ-संकेत

(१) गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि। नहि मनुषात् श्रेष्ठतरंहि किंचित्॥

(२) अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते, सं भ्रातारो वावृधुः सौभगाय।

(३) ते अज्येष्ठास अकनिष्ठास उद्भिदोऽमध्यमासो महसा विवावृधुः,
सुजाता सो जनुषा पृश्निमातरो दिवो मर्या आनो अच्छा जिगातन॥

(४) आरोहणमाक्रमणं जीवतो जीवतोऽयनम्।

(५) उरु प्रथस्व।

(६) शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर।

(७) माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।

(८) उद्बुध्यध्वं समनसः सखायः।

(९) ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वियौष्ट संराधयन्तः सधुरा श्चरन्तः।
अन्योन्यस्मै वल्गु वदन्तो यात समग्रास्थ सध्रीचीनान्।॥— पिप्पलादसंहिता ५।१९

(१०) समानो मंत्रः समितिः समानी समानं मनः सहचित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि

समाना व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ।। ऋग्वेद १०।१९१।३-४ ।

(११) सध्रीचीनान् वः समनसः कृणोम्येकश्नुष्टीन् संवनेन सहृदः ।
देवा इवेदममृतं रक्षमाणा सायं प्रातः सुसमितिर्वो अस्तु ।।

—पिप्लाद संहिता, ७।१९

(१२) जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम् ।।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती ।।

—अथर्ववेद, १२।१।४५

(१३) वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय ।।

—यजुर्वेद ३१।१८।

(१४) ॐ पूर्णमिदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।—बृहदारण्यक, ५।१।१।।

(१५) देहि मे ददामि ते नि मे धेहिनि ते दधे । - यजुर्वेद, ३।५०।।

(१६) राष्ट्राणि वैविशः ।—ऐतरेय ब्राह्मण ८.२६।।

(१७) आ यद्वामीयचक्षसा मित्र वयं च सूरयः ।
व्यचिष्ठे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये ।।

(१८) यदमुच्छ्रयोऽवसानमागां शिवे मे द्यावापृथिवी अभूताम् ।
असपत्नाः प्रदिशो मे भवन्तु न वैत्वा द्विष्मो अभयं नो अस्तु ।।

(१९) ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधःकस्यस्विद् धनम् ।।—ईशोपनिषद् १ ।



भारतीय प्रसाधन परंपरा और सूरदास

•

हरिहरप्रसाद गुप्त

•

अमरकोश के मनुष्यवर्ग में शृंगार के निम्न पर्याय आए हैं—

आकल्पवेषौ नेपथ्यं प्रतिकर्म प्रसाधनम् ॥

अर्थात् आकल्प, वेष, नेपथ्य, प्रतिकर्म और प्रसाधन। ये सभी शब्द संस्कृत साहित्य मे प्रयुक्त हुए हैं। रामायण में सीता को 'प्रतिकर्मनित्या' कहा गया है अर्थात् वे नियमित रूप से शृंगार कर्म करती थीं। अनुसूया ने सौन्दर्य को सुरक्षित और सदा नवीन बनाए रखने के लिए सीता को उत्तम अनुलेपन और अंगराग दिए थे, जो नित्य उपयोग में आने पर भी विकारयुक्त नहीं हुए—

अंगरागं च वैदेहि महार्हमनुलेपनम्
मया दत्तमिदं सीते तव गात्राणि शोभयेत् ॥

लंका-युद्ध की समाप्ति पर वह सतैल स्नान एवं शृंगार करके तथा बहुमूल्य वस्त्राभरण धारण करके राम के समक्ष उपस्थित हुई थी—

ततः सीतां शिरःस्नातां संयुक्तां प्रतिकर्मणा
महार्हाभरणोपेतां महार्हाम्बर धारिणीम् ॥

सीता का मुख और श्वास सुगन्धपूर्ण बताया गया है, जिससे मुख के सुवासित करने वाले पदार्थों के प्रयोग का ज्ञान होता है। सुश्रुत में मुख सुगंधित करने वाले द्रव्यों में पूग, ककोल, कर्पूर, लवंग, ताम्बूल का नाम आया है।

वेणी प्रसाधन :

राम से बिछुड़ जाने पर सीता ने अपनी वेणी नहीं खोली विरह के दिनों में यही प्रथा थी। हनुमान लंका में सीता को आश्वासन देते हुए कहते हैं :—

'जघनों तक लटकती हुई और महीनों से बँधी हुई तुम्हारी इस एक वेणी को, हे देवि, महाबली राम शीघ्र ही आकर खोलेंगे।' ६।२२।२१

बिना सँवारे रूखे बाल विरह और चिंता के सूचक थे इसीलिए बाल्मीकि ने 'एक वेणी धरा दीना के रूप म विरहिणी का वर्णन किया है बंधी हुई वेणी को न सवारने का

निश्चय स्त्री के दृढ़निश्चय का परिचायक था। रावण द्वारा अपहरण किए जाने के पूर्व सीता शृंगार करती थीं। अपहृत किए जाने पर उनका तिलक-विशेषक छूट गया था--'विप्रभ्रष्ट विशेषकाम्।' अमरकोश में स्तन-कपोल पर की जाने वाली चित्रकारी के लिए पत्रलेखा तथा पत्रांगुली और माथे पर किए जाने वाले शृंगार के लिए चार शब्द आए हैं—तमालपत्र, तिलक, चित्रक एवं विशेषक। सीता को अपने प्रसाधन या प्रतिकर्म के निमित्त अर्जुन, तिलक और कर्णिकार के पुष्प अत्यंत प्रिय थे, उन्हें 'प्रियपंकजा' भी कहा गया है। जब रावण उन्हें बलपूर्वक हरकर चला तब उनके सिर में गुंथे पुष्प तथा सुगंधित लाल कमल-पत्र गिरकर बिखर गए थे। ३.५२।१६,२६।

सूरदास की राधा के प्रसाधन या शृंगार में उपर्युक्त सभी उपकरण मिलते हैं—

'गिरत कुसुम कबरी केसनि तें। १७५४

तथा,

'कबरी केस सुमन गति राखे सो क्यों जटा बनावे।'

डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार कबरी एक विशेष प्रकार का केश-विन्यास था। सूरदास ने इसीलिए कबरी के साथ सुमन की चर्चा की है। सूरदास ने धम्मिल (धम्मिल्ल) का भी वर्णन किया है। धम्मिल्ल भी एक विशेष केश-विन्यास का नाम था, इसमें मोती आदि गुँथे रहते थे। अमरकोश में 'धम्मिल्लः संयताः कचाः' कहा गया है। कबरी में सुमन आदि गूँथे जाते होंगे, यह सूर के 'कबरि ग्रथित' (२७३५) प्रयोग से निश्चित होता है। राधा की वेणी का शृंगार और जावक या महावर लगाने का काम कभी-कभी कृष्ण करते थे—

प्यारी अंग सिंगार कियौ।।
बेनी रची सुभग कर अपनें टीका भाल दियौ।

× ×

मोहन मोहिनि अंग सिंगारत।
बेनी ललित ललित कर गूँथत, सुन्दर माँग संवारत।।

× ×

तथा— बेनी सुभग गुही अपने कर चरननि जावक दीन्हों।

बेनी को आम्रमंजरी से सुशोभित करने की बात सूर ने लिखी है—

गूँथे सुमन रसालहिं। १६७३

कृष्ण के विरह में इसीलिए तो गोपियाँ कहती हैं कि जिन बालों का शृंगार पुष्पों से हुआ था, उनको भस्म लगाकर जटा बनाने की बात कही जा रही है—

जिहिं सिर केस कुसुम भरि गूँथे, कैसे भस्म चढ़ाऊँ।

नायक द्वारा प्रेयसी के प्रसाधन की परंपरा अति प्राचीन है। महादेव जी ने पार्वती का फूलों से शृंगार किया था। शृंगार रस के देवता विष्णु लक्ष्मी का शृंगार करते थे। 'कुमार संभव' में काम के भस्म होने पर रति विलाप करती हुई काम के द्वारा किए गए कुसुम प्रसाधनों का

स्मरण करती हुई कहती है—'हे काम ! रति में कुशल काम ! तुम स्वयं कुसुमों से मेरे अंगांग को सजाया करते थे, पर अब तुम कहाँ हो ? (देवताओं के कार्य के लिए काम रति का प्रसाधन कार्य छोड़ कर गया था, उसी को स्मरण करती है) तुम तो बाएं पैर का प्रसाधन ही छोड़कर चले गए—तुमने तो केवल दाहिने पैर का ही शृंगार किया था—केवल उसे ही आलते से रंगा था, बायाँ पैर तो ज्यों-का-त्यों नंगा है, क्यों नहीं आकर उसका भी प्रसाधन करते ?

अलता :

कालिदास ने अलता के लिए कई शब्दों का प्रयोग किया है जैसे—रागलेखा, पादराग, लाक्षारस, आलक्तक, रागरेखा विन्यास, चरणराग, द्रवराग, निर्मित राग। 'रागरेखा विन्यास' से स्पष्ट है कि पैरों में जावक, महावर या अलता लगाना एक कला थी। लाक्षारस (लाख का रस) लाल होने से पैरों में सुंदर लगता है। इसकी लालिमा का चित्रण किरातार्जुनीयम् में इस प्रकार हुआ है—

'अर्जुन के प्रति नर्तकियों के मन में जो अनुराग था, वही अनुराग पैरों में लगाए गाढ़े महावर की गरमी से पिघलकर लाल रंग के रूप में उनके पैरों से निकलने लगा था।'[१०।४३]

कादम्बरी में चाण्डाल कन्यावर्णन प्रसंग में भी इसका सुंदर वर्णन है—

'गाढ़े और बहुत अधिक लगाए आलते की लाली से चाण्डाल-कन्या के चरण कमल नूतन पल्लव के समान रक्तवर्ण हो गए थे, इससे वह तत्काल मारे महिषासुर के रक्त से शोभित दुर्गा के समान लग रही थी।'

तथा 'आलता लगे चरण कमलों के पड़ने से सारी भूमि मानो पल्लवमय हो गई थी। (कादम्बरी चन्द्रपीडावलोकन)

स्त्रियाँ तो इस कला में प्रवीण होती ही थीं, पुरुष भी प्रवीण होते थे। रघुवंशी राजा अग्निवर्ण अपने विलासीपन में स्वयं रानियों को महावर लगाने बैठ जाया करता था। 'मालविकाग्निमित्र' में बकुलावालिका मालविका के चरण महावर से अतिकौशल से रंगती है। यह पूछे जाने पर कि उसने इस कला को किससे सीखा, वह परिहास करती हुई कहती है—महाराज से। विशेष अवसरों पर पुरुष स्वयं अपने पैरों में महावर लगाते थे या प्रसाधिका लगाती थी। 'कादम्बरी' में तरलिका का वर्णन प्रसाधिका रूप में है।

द्रौपदी ने विराट भवन में प्रवेश करते समय अपना परिचय सैरन्ध्री कहकर दिया था। अमरकोश के अनुसार 'सैरन्ध्री शिल्पकारिका' पर्याय है। द्रौपदी ने कहा था—मैं वेणी बाँधने में बहुत कुशल हूँ।

प्रसाधन प्रथा का परिचय सौन्दरानन्द के निम्न वर्णन से भी मिलता है—

'कोई स्त्री विलेपन पीस रही थी, कोई वस्त्रों को सुगंधित कर रही थी, कोई स्नान की तैयारी कर रही थी और कोई माला गूंथ रही थी'

मुद्राराक्षस में भी इसी प्रकार का वर्णन है

'पीसत कोउ सुगंध, कोउ जल भरि लावत।
कोऊ बैठिकै रंग रंग की माल बनावत॥

सूरदास ने जावक और महावर दोनों शब्दों का प्रयोग किया है—

'नखनि रंग जावक की सोभा'
'नाइन बोलाइ नवरंगी (हों) ल्याउ महावर वेग।'

जातक के अनुसार प्रसाधन कार्य के निमित्त 'मंगल नापित' होता था।

उबटन :

उबटन (उद्वर्तन) प्रसाधन का एक प्रमुख अंग था। स्नान के पूर्व मैल छुड़ाने के लिए इसका प्रयोग होता था। सूरदास ने लिखा है—

'तन उबटन तेल लगाए।'
तथा 'तेल उबटनैं लै आगे धरि।'

पाणिनि ने उद्वर्तक (गन्धचूर्ण या उबटन मलने वाला), परिषेचक (स्नान करानेवाला), उत्सादक (शरीर मंडन में सहायक) तथा प्रलेपिका, विलेपिका (अगुरु कुंकुम चन्दनादि लगाने वाली परिचारिका) का उल्लेख किया है।

सूरदास केसरमिश्रित उबटन का उल्लेख करते हैं—

'कुमकुम उबटि कनक तन गोरी।
अंग अंग सुगंध चढ़ाइ किसोरी।'
तथा 'उबटि केसर अंग।'
अथवा
केसरि को उबटनो बनाऊँ, रलि रलि मैल छुड़ाऊँ। ७१

बालपन में उबटन तो नियमित रूप से लगता ही था—

'उबटि कान्ह अन्हवाइ अमोल।'

मुरली ध्वनि सुनकर बेसुध गोपियाँ बिना उबटन ही शरीर मर्दन करने लगीं :

'अंग मरदन करिबे को लागीं, उबटन तेल धरी। (१६१८)

कादंबरी में शूद्रक के स्नान के वर्णन में एक स्त्री का वर्णन है जो उद्वर्तन चूर्ण के पात्र को लेकर खड़ी थी—'अन्याय करने वाले के समान किसी ने हाथों में उद्वर्तन चूर्ण का पात्र ऊँचा उठा रखा था।'

रामायण में भारद्वाज आश्रम में अतिथियों के लिए विविध प्रकार के उबटन, चूर्ण, तेल, उष्ण जल, घिसा हुआ चंदन, काजल की डिब्बियाँ (आँजनी) कंघे आदि का उल्लेख है।

डॉ० वासुदेवशरण के अनुसार राजा के उपभोग-परिभोग का क्रम इस प्रकार था

अभ्यंग (तैल मर्दन), उद्वर्तन (गंधमिले आटे के साथ), मज्जन (स्नान), वस्त्रविधि, विलेपन, पुष्पविधि, आभरणविधि, धूपनविधि तथा भोजनविधि। 'स्नानानुलिप्त' से यह स्पष्ट है कि स्नान के अनन्तर चंदन आदि का अनुलेपन किया जाता था।

अनुलेपन :

सूरदास ने अनुलेपन की भी चर्चा की है, जिसमें चंदन, अगुरु, कुंकुम (केसर) कपूर का मिश्रण रहता था—

'चंदन अगरु कुमकुमा मिश्रित।' २२२६
'चन्दन अरगजा सूर केसरि धरि लेऊँ'
तथा गंधिनि ह्वै जाऊँ निरखि नैननि सुख देऊँ।

स्त्रियों के शरीर पर मृगमद (कस्तूरी) और चन्दन के मिश्रण के लेप का भी उल्लेख है—

'यह मृगमद चंदन चर्चित तन।' २७३५

जल-क्रीडा के समय ये अनुलेप छूट जाते थे, जिससे यमुना का रङ्ग ही बदल जाता था—

'स्याम अंग चंदन की आभा, नागरि केसरि अंग।
मलयज पंक कुंकुमा मिलिकै, जल जमुना इक रंग।'

तथा

जदुपति जल क्रीडति जुवति संग।
मृगमद मलयज केसरि कपूर कुमकुमा कलित अगरुचूर। ३५२०

कालिदास ने निम्न अंगरागों का नाम दिया है—सितांगराग, कालीयक अंगराग, नीपरजांगराग। चंदन में कस्तूरी मिलाकर लेप करते थे, ऐसा भी रघुवंश में आता है। प्रियगु, कालीय, कस्तूरी और कुंकुम में मिलाकर सुगंधित अवलेप बनते थे। (ऋतुसंहार १४)। काला अगरु में चन्दन मिलाकर भी अवलेप बनता था।

पार्वती के प्रसाधन में कहा गया है कि शरीर में शुक्ल अगुरु का लेपकर उसे लाल गोरोचन से चिह्नित कर दिया है।

अगुरु, सुश्रुत संहिता के अनुसार एलादिगण के अन्तर्गत है, जिसमें सभी सुगंधित द्रवों की गणना है। चरक में अगुरु को शीत प्रशमन करने वाली कहा गया है। शीत काल में इसका लेप होता था। शीत काल के निवारण के लिए चरक संहिता में इस प्रकार लिखा गया है, 'इस काल में ऐसी स्त्री का आलिंगन सुखद होता है जो परिपुष्ट स्तनों वाली हो तथा जिसने अपने अंगों पर अगुरु का लेप किया हो—ऐसी प्रमदा का आलिंगन करके सो जाय।' वसंत ऋतु में चन्दन और अगुरु का लेप अनुकूल कहा गया है।

सूरदास ने सुगंधित प्रसाधन द्रवों में अरगजा और चोक की चर्चा और की है इन द्रवों को घोलकर होली भी खेलते थे

घसि मृगमद चन्दन अरु गुलाल रङ्ग भीने अरगजा अरु माल

तथा : चोवा चन्दन अगरु कुमकुमा सोहैं पाट भरे। ३२१९

'आइने अकबरी' के अनुसार एक सेर अगर से दो से पन्द्रह तोले तक चोवा निकलता । अरगजा भेद (अगरु), चोवा, बनफशा, गेहला, गुलाब, चन्दन, कपूर आदि के मिश्रण से बनता था।

चन्दन के कई भेद सुश्रुत में हैं, चन्दन, रक्त चन्दन, कालीयक। हेमन्त और शिशिर को छोड़कर सभी ऋतुओं में चन्दन के लेप का विधान है। चरक संहिता में चन्दन को दाह-प्रशमक द्रवों की श्रेणी में गिना गया है। तृष्णा विग्रहण के लिए भी चन्दन का प्रयोग है। चन्दन को विषघ्न भी बतलाया गया है। चन्दन वर्ण्यगण में आता है—इसी में पद्माख्व, खस, मुलहठी, श्वेत दूब, प्रियंगु, की भी गणना है। चरक के अनुसार श्वेत चन्दन लोध, खस गन्ध वाला और तेजबल के लेप से शरीर की दुर्गन्धि दूर होती है। रामायण में चन्दन के अनुलेपन का निर्देश संध्या की लालिमा से रंजित आकाश की उपमा राम ऐसे कामातुर पुरुष से देते हैं, जिसने चन्दन का अनुलेपन कर रखा हो। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में तो चन्दन के कई भेद बताए गए हैं, यथा, सातन, गोशीर्षक, ग्रामेरुक, जाके, मालेयक, चन्दन आदि।

कादंबरी में शूद्रक के नित्यकर्म वर्णन में अनुलेपन का सुन्दर वर्णन है—जिसमें कपूर,केसर, मृगमद का प्रयोग है—

'देव मन्दिर में जाकर शंकर की उपासना करके वहाँ से विलेपन स्थान में जाकर कस्तूरी, कपूर, केसर की सुगंधि से अतिशय सुगन्धित चन्दन द्वारा सारे शरीर को लिप्त किया। उस समय भ्रमरगण सुगंधि के लोभ से उस चन्दन का अनुसरण करने लगे। उसके बाद सिर पर सुगंधित मालती पुष्प को धारण किया।'

इसी प्रकार चन्द्रापीड को देवता की पूजा के बाद अंगराग भूमि में आकर बैठा हुआ बतलाया गया है।

कस्तूरी का चूर्ण रघुवंश के अनुसार केश को सुगन्धित करने के लिए लगाया जाता था।

'ऋतुसंहार' में अनुलेपन के कई सुन्दर चित्रण हैं—

'स्त्रियाँ कालीयक और केसर के घोल में कस्तूरी मिलाकर अपने गोरे-गोरे स्तनों पर चन्दन का लेप कर रही हैं।'

सूर ने एक ही पंक्ति में सभी सुगन्धित द्रवों की चर्चा कर दी है—

मृगमद मलय कपूर कुमकुमा केसर मलिए साख। ४५५५

तिलक :

तिलक में चन्दन कस्तूरी और कुंकुम के प्रयोग का सूर ने उल्लेख किया है—

'भाल लाल सिंदूर बिंदु पर मृगमद दियौ सुधारि '

अथवा 'भाल मृगमद मलय कपूर माथे तिलक किए।'

अथवा कुमकुम आड़ लसत स्रम जल मिलि'
अथवा 'केसरि आड़ ललाट (हो) बिच सेन्दुर को बिन्दु।'

कश्मीर के पंडित अभी भी केसर का ही तिलक लगाते हैं।

कुसुम-मण्डन :

सूर ने 'गूँथे सुमन रसालहिं' तथा 'कबरी केस सुमन गहि राखे' से पुष्पश्रृंगार का परिचय दिया है। कुसुम मण्डन का ऋतुसंहार से अच्छा परिचय मिलता है। जिस ऋतु में जो पुष्प उपलब्ध होते हैं, उनसे ही श्रृंगार किया जाता था; यथा, वर्षा में कदम्ब, बकुल, केतकी और अर्जुन की मंजरी। स्त्रियाँ चूडापाश में कुरबक के फूल तथा कानों पर सिरस के कोमल फूलों से प्रसाधन करती थीं। बसंत में कानों में नए कर्णिकार कुसुम तथा हिलती हुई काली अलकों में अशोक और नवमल्लिका के फूल धारण करती थीं। रामायण के अनुसार अभिसार गमन के समय रंभा ने मंदार कुसुमों से अपने केशों का तथा दिव्य कुसुमों से अपने शरीर का श्रृंगार किया था (७।२६ ।१५)। रावण की रानियाँ बालों में पुष्प-मालाएं गूँथती थीं। अमरावती की प्रस्तर-कला (दूसरी शताब्दी ई०) में राजकीय नारियों के पुष्पमंडित केश-कलाप का अंकन है।

वनमाल :

सूरदास ने कृष्ण के ऊपर मंदार हार (२००२) तुलसीमाला (१०४५) गुंजावन-माल (१०६७), बनमाला (१८८०) का उल्लेख किया है। बनमाला में जंगली फूल ही रहते थे—

'केसर की खौर किए गुंजा बनमाल हिये।'

अथवा 'उर गुंजा वनमाल मुकुट सिर बेनु रसाल बजावत।'
अथवा 'केसर की खोरि, कुसुम की दाम अभिराम'

बनमाल उस माला का भी नाम है जिसमें तुलसी, कुंद, मंदार, पारिजात और कमल ये पाँच पुष्प हों। सूर ने 'बनधातु' का प्रयोग किया है—

तन बनधातु विचित्र विराजति,
बंसी अधरनि धरे ललित गति॥

यह बनधातु स्वयं उत्पन्न वृक्षों के पुष्पों से बनी माला होती थी। तुलसी ने भी गीतावली में इसका वर्णन किया है—

'मोर चंदा चारु सिर मंजु गुंजापुञ्ज धरे बन'
बनधातु तन ओढ़े पीतपट हैं।'

मुक्तामाल :

कृष्ण के हृदय पर मोतियों की माला भी रहती थी—'स्याम हृदय बर मोतिन माला।'

कालिदास ने मुक्तामाल का अनेक स्थलों पर वर्णन किया है– पुरुष और स्त्री दोनों ही इसे धारण करते थे। वाल्मीकीय रामायण में राम सोने की माला धारण करते थे, ऐसा उल्लेख किया गया है।

अपने ढंग का अनूठा काव्य है। उदाहरण मनोरम और सरस हैं। भाषा में शब्दाडंबर नहीं है। न ये शब्द चमत्कार पर टूटे है, न दूर की सूझ के लिये व्याकुल हुये है। इनकी रचना कला-पक्ष में संयत और भाव पक्ष में रंजनकारिणी है। विशुद्ध काव्य के अतिरिक्त इन्होंने नीति की सूक्तियाँ भी बहुत सी कही हैं, जिनमें उक्ति वैचित्र्य अपेक्षित होता है। जिस बात को ये जिस ढंग से कहना चाहते थे उस बात को उस ढंग से कहने की पूरी सामर्थ्य इनमें थी। दास जी ऊँचे दर्जे के कवि थे।' इनका परिचय देते हुये शुक्ल जी ने लिखा है—'ये प्रतापगढ़ (अवध) के पास ट्योंगा गाँव के रहने वाले श्रीवास्तव कायस्थ थे। इन्होंने अपना वंश परिचय पूरा दिया है। इनके पिता कृपालदास, पितामह वीरभानु, प्रपितामह राय रामदास और वृद्ध प्रपितामह राय नरोत्तम दास थे। दास जी के पुत्र अवधेश लाल और पौत्र गौरी शंकर थे, जिनके अपुत्र मर जाने से वंश परम्परा खण्डित हो गई। दास जी के इतने ग्रन्थों का पता लग चुका है—

रस सारांश संवत् १७९९, छन्दार्णव पिंगल सं० १७९९, काव्य निर्णय सं० १८०३, श्रृंगार निर्णय सं० १८०७, नाम प्रकाश सं० १७९५, विष्णु पुराण भाषा (दोहे चौपाई में) छन्द प्रकाश, शतरंज शतिका, अमर प्रकाश (अमर कोश भाषा पद्य)। काव्य निर्णय में दास जी ने प्रतापगढ़ के सोमवंशीय राजा पृथ्वीपति सिंह के भाई बाबू हिन्दू पति सिंह को अपना आश्रयदाता लिखा है। संवत् १८०७ के बाद इन्होंने कोई ग्रन्थ नहीं लिखा। अतः इनका कविता काल संवत् १७८५ से लेकर संवत् १८०७ तक माना जा सकता है। काव्यांगो के निरूपण में दास जी को सर्वप्रथम स्थान दिया जाता है। इनकी विषय प्रतिपादन शैली उत्तम है और आलोचना शक्ति भी इनमें कुछ पाई जाती है।'

कवि भिखारीदास के 'रस सारांश' का रचना काल शुक्ल जी ने संवत् १७९९ दिया है जो वास्तव में ठीक नहीं है। कवि ने स्वयं ग्रन्थ के अन्त में लिखा है :

"सत्रह सै इक्यानबे नभ सुदि छठि बुधवार।
अरवर देस प्रतापगढ़ भयो ग्रन्थ-अवतार॥८८४॥

शुक्लजी द्वारा सूचित छन्द प्रकाश और अमर कोश भाषा वास्तव में स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है। प्रतापगढ़ के राजाओं की प्रशस्ति में लिखी प्रताप सोम वंशावली में भिखारीदास के ७ ग्रन्थों का उल्लेख इस प्रकार है :

"प्रथम काव्यनिर्नय को जानो, पुनि सिंगार निर्नय तहं मानो।
छंदोर्नव अरु बिष्णु पुराना, रस सारांश ग्रन्थ जग जाना।
अमरकोस अरु सतरंजसतिका, रच्यो लहन हित मोद सुमतिका।
नृपति अजीतसिंह सुखदाई, संचित कियो अमित सुख पाई॥

इनमें से रस सारांश, श्रृंगार निर्णय, और छन्दोर्णव नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित 'भिखारीदास ग्रन्थावली' के प्रथम खण्ड में और 'काव्य निर्णय' द्वितीय खंड में प्रकाशित हो चुके हैं अन्य तीन ग्रन्थों के सम्बन्ध में ग्रन्थावली के विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने

लिखा है कि "नाम प्रकाश, विष्णु पुराण और शतरंजशतिका का संग्रह प्रस्तुत भिखारीदास ग्रन्थावली में नहीं किया गया है। प्रथम दो तो अनुवाद मात्र हैं। तीसरी यदि अनुवाद न भी हो तो उसका साहित्यिक महत्व नहीं, फिर भी उसे प्रकाशित किया जा सकता था यदि कोई पूरा हस्तलेख मिल जाता।" शतरंजशतिका की दो अपूर्ण प्रतियां उन्हें प्राप्त हुई, उनका जो कुछ विवरण उन्होंने दिया है, वह आगे दिया जा रहा है—

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, यह ग्रन्थ शतरंज के खेल संबंधी है। प्राचीन हिन्दी साहित्य में शतरंज के खेल संबंधी दो ही ग्रन्थ मुझे ज्ञात हैं, जिनमें से प्रथम 'शतरंजनी' मकरन्द कवि रचित एक अपूर्ण प्रति बीकानेर की अनूप संस्कृत लायब्रेरी में है। इस प्रति के प्रारम्भ के २४ पत्र नहीं हैं और ५२ के बाद के भी पत्र उपलब्ध नहीं है अर्थात् आदि अन्त अपूर्ण है। वास्तव में प्राप्त पत्र पुरानी रद्दी पुस्तकों में से निकाल कर एकत्र किये गये हैं। २५वें पत्र के हाशिये में बाईं ओर इसका स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि "ये पत्र पुरानी रद्दी पुस्तकों में से मिले शतरंजनी के।" इस अपूर्ण प्राप्त ग्रन्थ का परिचय मैंने 'युग प्रभात' में गतवर्ष प्रकाशित कर दिया था। मकरन्द नाम के कई कवि हो गये हैं इसलिये ये कौन थे? कब और कहाँ हुये? इत्यादि बातों की जानकारी तो इस ग्रन्थ की पूरी प्रति मिलने पर ही मिल सकती है।

कविवर भिखारीदास की 'शतरंज शतिका' का सर्वप्रथम विवरण सन् १९०९ से १९११ की खोज रिपोर्ट के पृष्ठ ५२ में प्रकाशित हुआ था, जिसके अनुसार इसकी ५ पत्रों की प्रति राजा साहब बहादुर प्रतापगढ़ (अवध) के संग्रह में थी। पता नहीं क्यों इस ग्रन्थ के दूसरे अध्याय के ९वें श्लोक का आधा पाठ लिखकर ही इस प्रति के अन्त में 'सम्पूर्ण' शब्द लिख दिया गया है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र को इसकी दूसरी प्रति श्री उदयशंकर शास्त्री से मिली। वह भी बहुत त्रुटित और अन्त में अपूर्ण थी, इसलिये मिश्रजी ने इस ग्रन्थ के 'शतिका' शब्द से यह अनुमान किया था कि 'यह ग्रन्थ सौ छोटे-बड़े अध्यायों में रहा होगा। शतिका शब्द का अर्थ सौ अध्यायों की पुस्तक ही जान पड़ता है।' पर वास्तव मे उनका यह अनुमान ठीक नहीं है। सन् १९०९ की खोज रिपोर्ट में तो शतिका की जगह शतका लिखा गया था। उसके आधार पर बाबू श्यामसुन्दर दास सम्पादित 'हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों का संक्षिप्त विवरण' ग्रन्थ के पृष्ठ १९५ में शतक लिख दिया गया था।

कई वर्ष पूर्व मुझे इस ग्रन्थ की पूर्ण हस्तलिखित प्रति दिल्ली के पंचायती दिगम्बर जैन मंदिर से देखने को प्राप्त हुई थी। उस समय मैंने इस ग्रन्थ का रचनाकाल नोट करके प्रति वापस कर दी थी। जब भिखारीदास ग्रन्थावली में मिश्र जी का दिया हुआ विवरण पढ़ा कि उन्हें प्राप्त दोनों प्रतियाँ अपूर्ण एवं त्रुटित हैं, तब दिल्ली वाली प्रति का स्मरण हो आया और गत वर्ष से ही कई बार प्रयत्न किया पर वह प्रति पुनः प्राप्त नहीं हो सकी। मैंने सौजन्यमूर्ति और साहित्य कार्य में परमसहायक श्री पन्नालाल जैन अगरवाल को जोर देकर लिखा कि आपने लिखा है कि प्रति का पता सूची आदि से नहीं लगता। पर जब मैं इसे एक बार मंगाकर देख चुका हूँ तो वहाँ मिलेगी निश्चित। अन्त में उन्होंने खोज जारी रखी और उनका पत्र मिला कि प्रति मिल गई है, भेज रहा हूँ प्रति प्राप्त होते ही यह निबन्ध तैयार कर

दिया। ग्रन्थ ६ अध्यायों में है, जिसकी रचना संवत् १८०२ की चैत सुदी ६ को प्रतापगढ़ में हुई। संवत् १८८७ की लिखी हुई इस प्रति के अन्त में सप्तम् अध्याय का उल्लेख है पर वास्तव में वह भ्रमपूर्ण है, अध्याय ६ है।

यहाँ यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि हस्तलिखित प्रतियों की जितनी सुरक्षा और सार-सम्हाल जैनों ने की है, उतनी अन्यों ने नहीं की। इसीलिये जैन ज्ञान-भण्डारों में जैनो की ही नहीं, जैनेतर ऐसी अनेक रचनायें प्राप्त होती हैं जिनकी अन्य प्रति किसी भी जैनेतर संग्रहालय में प्राप्त नहीं होती। उदाहरणार्थ, संदेशरासक, वीसलदेवरास की अब तक जितनी भी प्रतियाँ मिली हैं वे सभी जैन विद्वानों व लेखकों की लिखी हुई हैं। कविवर भिखारीदास की शतरंजशतिका की पूरी प्रति भी जैन शास्त्र भंडार में प्राप्त होना, जैनों की संग्रह व संरक्षणवृत्ति की परिचायक है।

शतरंजशतिका की प्राप्त प्रति पुस्तकाकार ५२ पत्रों की है। ग्रन्थ के बीच-बीच में अनेक कोष्टक दिये हुये हैं, जिनमें से कुछ खाली भी हैं। ग्रन्थ के ६ अध्यायों में से एक-दो की पद्य संख्या नहीं दी गई है। अध्यायों के नाम और पद्य संख्या इस प्रकार हैं—

(१) इति श्री भिखारीदास कायस्थ कृते शतरंजशतिकायाम् मंगलाचरण वर्णनो नाम प्रथमोध्याय, पद्य ४६।

(२) इति श्री शतरंजशतिकायाम् सुख विजय वर्णनम् नाम द्वयविंशति विधान द्वितीयो अध्याय, पद्य ३६।

(३) इति श्री शतरंजशतिकायाम् संकट विजय साधारण सप्त विधान वर्णनोनाम् तृतीय अध्याय, पद्य १३।

(४) इति श्री शतरंजशतिकायाम् संकट विजयरथापित द्वादस विधान, चतुर्थ अध्याय, पद्य १३।

(५) इति श्री वाजि शक्ति प्यावा जी अष्ट विधान पंचम अध्याय, पद्य १३।

(६) इति श्री अष्ट विधान वाजिरथापित षष्टमोध्याय, पद्य १५।

(७) इति श्री संकलित विजय वर्णनो सप्तमोध्याय, पद्य संख्या नहीं।

(८) इति श्री सामर्थि खंडित विजयवर्णनम् नाम अष्टमोध्याय, पद्य १७।

(६) इतिश्री सप्तदस विधान आधिक्य विजयादि अनेकगति वर्णनम् (नवमोध्याय) पद्य २२।

ग्रन्थ का रचनाकाल सूचक अंतिम पद्य इस प्रकार है—

यह सतरंज शतिका सुवंश जो करि है सज्ञान।
राज काज में होईगो, सो अति बुद्धिनिधान।
अठारह सै द्विवर्ष, कवि नौमि सित चैत।
भयो अरोर प्रतापगढ़, सतरंजशतिका हेत ॥२२॥

अब १६०६ की खोज रिपोर्ट का विवरण दिया जा रहा है—

No 27 Bhikhari Das alias Das (See No 40 in the body of the Report

(a Name of Book Sataranja Satika Name of author—Bhikhari Dasa. Substance—Country-made paper.

Leaves—5. Size—$13\frac{1}{2} \times 5\frac{1}{2}$ inches—Lines per page—8. Extent—130 Slokas—Appearance—old. Character—Nagari. Date of composition—Nil, Date of manuscript—Nil, Place of deposite—Raja Sahab Bahadur, Partapgarh, Oudh.

Beginning—श्री गणेशाय नम: । अथ पोथी सतरंज सतका लिख्यते । राजन्ह श्रीप्रद मंत्रिन्ह मंत्रद सूर सुबुद्धन को जु सहायक । उंदुर अस्व अरूढ़ ह्वै प्यादे हू दौरि कै दास मनोरथ दायक ॥ चौसठ चारू कल्यान को लाभ बिसातिन बूझिये वंदि विनायक ॥ सिंधुर आनन सकर मानन ध्यान सदा सतरंजन लायक ॥ दोहा—परम पुरुष के पाय परि पाय सुमति सानंद । दास रचै सतरंज की सतिका आनदकंद ॥ अथ बिसाति संज्ञा विधान ॥ आठ-आठ चौंसठ सदन मय आसन सुख पुंज ॥ सोरह-सोरह सदन तहं चारि चौक के कुंज ॥

End—उत्तर गीता छन्द ॥ रहु यौ विहूरो राज पौरि जु जुरी रोबघूपो सीघू ॥ पवन सिधाव सुना सिठानत्र थान सोझहि लीघु ॥ इति श्री भिखारीदास कायस्थकृते सतरंजसतका सम्पूर्ण शुभमस्तु ॥ श्री राधाकृष्णाय ।

भिखारीदास ग्रन्थावली, प्रथम खण्ड में विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का दिया शतरंज-शतिका काव्य का विवरण इस प्रकार है—

शतरंज शतिका—

यह शतरंज के खेल पर लिखी पुस्तक है । इसके आरम्भ में यह गणेश स्तुति है—

राजन्ह श्रीप्रद मंत्रिन्ह मंत्रद सूर सुबुध्यनि को जु सहायक ।
उंदुर-अस्व अरूढ़ ह्वै प्यावहू दौरिकै दास मनोरथदायक ।
चौसठि चारू कलानि को लाभु बिसातिन बूझिये बंस विनायक ।
सिंधुर आनन संकटमानन ध्यान सदा सतरंजन्ह लायक ।१।

फिर परमपुरुष की वंदना यों है—

परम पुरुष के पाय परि, पाय सुमति सानंद ।
दास रचै सतरंज को, सतिका आनंदकंद ।।२।

इसके अनंतर ग्रन्थ का आरम्भ हो जाता है । खोज में जिस शतरंजशतिका का विवरण दिया गया है, वह केवल ५ पन्ने की पुस्तक है । उसका परिमाण १३० श्लोक है । ग्रन्थ की पुष्पिका यों है—

इति श्रीभिखारीदास कायस्थकृते सतरंजसतिका संपूर्णम् । शुभमस्तु । श्रीराधाकृष्णाय ।

इस प्रति की पूरी प्रतिलिपि मेरे पास है । ४९ छंदों के अनन्तर एक अध्याय समाप्त होता है, जिसकी पुष्पिका इस प्रकार है ।

इति कायस्थकृते र्णनो नाम प्रथमोध्याय ।१।

इसके अनन्तर जो दूसरा अध्याय चला, वह १० छन्दों के अनन्तर ही एकाएक समाप्त हो गया और 'लिपक' ने 'सम्पूर्णम्' लिख दिया। इस प्रकार इस प्रति में ५६ छन्द है। इसलिए यदि 'शतिका' का अर्थ 'सौ छन्द' हो तो अभी कम-से-कम ४० छन्दों की कमी रह जाती है।

भिखारीदास जी की ग्रन्थावली का सम्पादन करने के बीच श्री उदयशंकर शास्त्री ने शतरंजशतिका की एक खंडित प्रति मेरे पास देखने को भेजी। यह बीच-बीच में खंडित है। पर पूर्ण फिर भी नहीं हुई है। प्रथम अध्याय के पाँचवें छन्द का अंतिम अंश इसके आरंभ मे है। प्रथम अध्याय पूर्वोक्त प्रति से मिलता है। इसमें प्रथम अध्याय की पुष्पिका यों है—

इति श्रीसतरंजसतिकायां ग्रंथारंभवर्णनं नाम प्रथमोध्याय: ।

इसके अनंतर दूसरा अध्याय आरंभ होता है। इसके नवें छन्द के आधे पर ही पहली प्रति समाप्त कर दी गई है। इसमें इस अध्याय के केवल ३७।। छन्द मिलते हैं। इसके बाद प्रति खंडित है। इसलिए यह नही कहा जा सकता कि दूसरे अध्याय में ठीक-ठीक कितने छन्द है। तीसरे अध्याय का आरम्भ नहीं है। अन्त १३ छन्दों पर होता है। इसकी पुष्पिका यों है—

इति सतरंजसतिकायां संकट विजयरथापित एकादस प्रकार वर्ननं नाम अष्टमो अध्याय: ।।८।।

इसमें १७ छन्द हैं। नवें अध्याय के छन्द ६ तक प्रति है। यदि इस खंडित प्रति मे ५,६,७, अध्यायों की कोई छन्द संख्या न मानी जाय तो भी १३५।। छन्द हो जाते है। इसलिए स्पष्ट है कि 'शतिका' का अर्थ 'सौ छन्द' कथमपि नहीं है। चार पाँच सौ छन्द से कम का कोई ग्रन्थ दास का नहीं है। अनुमान से यह ग्रन्थ भी बड़ा होगा। मेरी धारणा है कि शतरंज पर दास का यह ग्रन्थ सौ छोटे-बड़े अध्यायों में रहा होगा। 'शतिका' का अर्थ सौ अध्यायों की पुस्तक ही जान पड़ता है।

इस पुस्तक में जैसी बारीकी मुंशी जी ने दिखाई है उससे यह भी अनुमान होता है कि इस विद्या की कोई पोथी उन्होंने फारसी या संस्कृत में देखी होगी, उसी के आधार पर इसका निर्माण किया होगा। अपने अनुभव की बातें भी रखी होंगी। इसलिए इसका निर्माण-काल भी विष्णुपुराण और नामप्रकाश के आसपास माना जाना चाहिए।

५७ वर्ष पहले इस ग्रन्थ की केवल ५ पत्रों की अपूर्ण प्रति मिली। इस ग्रन्थ की अन्य प्रति का सन् १९४७ से और १९४९ की खोज रिपोर्ट में (२६१) में विवरण होने का उल्लेख श्री मिश्र जी ने हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण द्वितीय खण्ड मे किया है। पर इस प्रति का पूरा विवरण अद्यावधि अप्रकाशित है। संवत् २०१३ मे भिखारीदास ग्रन्थावली प्रकाशित हुई। उसमें उदयशंकर शास्त्री से प्राप्त त्रुटित प्रति का विवरण दिया गया है। अभी तक पूरी प्रति किसी को भी नहीं मिलने से इस ग्रन्थ का रचनाकाल भी अज्ञात था। प्रस्तुत लेख द्वारा इस संबंध में सर्वप्रथम प्रकाश डाला गया है। आचार्य कवि भिखारीदास की यह रचना प्रकाशित हो जानी चाहिये।

नये प्रकाशन

समीक्षकों की दृष्टि में

अमृत और विष
अमृत लाल नागर का उपन्यास

प्रकाशक : लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद
मूल्य : पन्द्रह रुपये
संस्करण : प्रथम

लखनवी मुहावरेदार भाषा और मौलिक कथानकों के कारण श्री अमृत लाल नागर का हिन्दी के कहानी-उपन्यास लेखकों में आरम्भ से ही एक विशिष्ट स्थान बना हुआ है। प्रतिभा और परिश्रम एक साथ कम ही मिलते हैं। श्री नागर में इन दोनों का एक साथ समावेश है। उन्होंने जो भी कार्य किया, एक योजनाबद्ध रीति से और पूर्ण मनोवेग के साथ किया, फलस्वरूप उनकी लेखनकला उत्तरोत्तर विकसित ही होती गयी। यों तो उनके सभी उपन्यासों की हिन्दी जगत में काफी चर्चा हुई परन्तु जिस उपन्यास ने उन्हें सफल उपन्यासकार के रूप में हिन्दी-साहित्य में प्रतिष्ठित कर दिया वह 'बूँद और समुद्र' था। महाकाल, सुहाग के नूपुर और शतरंज के मोहरे तीनों ही अपने-अपने ढंग के रोचक उपन्यास हैं, लेकिन 'बूँद और समुद्र' में नागर जी की कला को सर्वांगीण विकास का अवसर मिला। इस उपन्यास की पृष्ठभूमि लखनऊ की है। उपन्यास के अधिकांश पात्र चौक मोहल्ले के रहने वाले थे। इस क्षेत्र के कण-कण से नागर जी का परिचय है और इनकी बोली-बानी उनके कानों ही नहीं, रोम-रोम में बसी हुई है। बूँद और समुद्र की हिन्दी जगत में ही नहीं, बाहर भी काफी चर्चा हुई है। इस उपन्यास की अनेक उपलब्धियों में ताई का चरित्र एक ऐसी सृष्टि थी, जिसे कभी भी भुलाया न जा सकेगा।

'अमृत और विष' में श्री नागर ने एक बार फिर लखनऊ की पृष्ठभूमि पर एक पृहृद [illegible] की रचना की इस [illegible] के अधिकांश पात्र लखनऊ विशेषत चौक की

गलियों और टोले-मोहल्ले के निवासी हैं। खत्री, बनिये, क्षत्रिय, ब्राह्मण पात्र ही अधिक है, दो कतिपय मुसलमान भी इसमें आते हैं। नागर जी की विशेषता यह है कि जिस सूत्र को भी वे ग्रहण करते हैं उसका आदि से अन्त तक अपने पाठकों से ऐसा घनिष्ठ परिचय करवाते हैं, अपनी वर्ण्य-वस्तु का चाहे वह व्यक्ति हो चाहे स्थान और चाहे दृश्य, वह इतना सूक्ष्म चित्रण करते हैं कि पाठक को उसकी यथार्थता में कोई सन्देह नहीं रह जाता।

अमृत और विष में एक बड़ा ही साहसपूर्ण कदम लेखक ने उपन्यास की टेकनीक के संबंध में उठाया है। उपन्यास का आरम्भ एक लेखक अरविंद शंकर की आत्मकथा के रूप में होता है। अरविन्द शंकर एक जाने माने लेखक हैं जिनकी षष्ठिपूर्ति का समारोह होने जा रहा है। अपने पिछले जीवन पर दृष्टिपात करते हुए उनका विचार यह होता है कि "मैंने अपने जीवन में न जाने कितनी कथा कहानियाँ लिखीं, क्यों न एक अपनी भी आत्मकथा लिख डालूँ।" उसी समय यह ध्यान आता है कि दो वर्ष से एक उपन्यास लिखने का नैतिक-भार भी सिर पर लदा है। निश्चय यह करते हैं कि दोनों ही लिखेंगे। लेखक अरविन्द शंकर की आत्मकथा ही आरम्भ होती है। साथ ही अरविन्द शंकर अपने इस निश्चय को भी कार्यरूप मे परिणत करना चाहते हैं कि उन्हें एक उपन्यास लिखना है। अपनी मानसिक तथा कायिक दृष्टि के सामने से गुजरने वाले पात्रों की वह विवेचना करते है। नगर में अथवा देश मे होने वाली घटनाओं पर विचार करते हैं। दूसरे शब्दों में इसे इस प्रकार कहा जा सकता है कि जिस कच्चे माल से उपन्यास की कथावस्तु तैयार की गयी है, पहले वह पाठकों के सामने फैला देते हैं, उसका विवेचन करते हैं और फिर आगामी अध्यायों में उसी से तैयार सुगठित तराशे हुए पात्र तथा उनका क्रिया-कलाप कथानक के रूप में प्रस्तुत करते हैं। यह निश्चय ही एक साहसपूर्ण कदम है और जहाँ तक मैं जानता हूँ, अनुपम भी है। मैंने अब तक ऐसा कोई उपन्यास नहीं पढ़ा जिसके लेखक ने इस प्रकार पाठकों को अपना विश्वासपात्र समझकर उन्हें पहले उस सामग्री को उलट-पलट कर ही नहीं दिखला दिया हो बल्कि उसका सूक्ष्म विवेचन भी कर डाला हो। अब तक लेखक और पाठक के बीच में एक पर्दा सदा से रहा है। जहाँ तक कहानी उपन्यास का प्रश्न है, लेखक ने कभी भी अपने पाठक के साथ इस सम्बन्ध में साझेदारी स्थापित नहीं की थी कि वह उसे यह बतला दें कि जो कहानी वह पाठक के सामने प्रस्तुत कर रहा है उसमें कितना उसने यथार्थ जीवन से लिया है और कितना अपनी कल्पना से रंगा है। उपन्यासकार पाठकों के सम्मुख सदैव कील-काँटो से दुरुस्त एक कथा इस संभ्रम के साथ प्रस्तुत करता था कि जो कुछ उसके सामने रखा गया है वह बिल्कुल यथार्थ तथा स्वाभाविक है। इस सम्बन्ध में सतर्क भी रहता था कि वह ऐसी कोई गुंजायश न छोड़े जिससे कि पाठक को उसके कल्पित होने का कहीं सन्देह भी हो। नागर जी ने लेखक और पाठक के बीच एक नयी साझेदारी स्थापित की। इसका श्रेय उन्हें मिलना ही चाहिए। आरम्भ में यह लगता भी बहुत अच्छा है। अपने प्रेरक के रूप में लेखक अरविन्द शंकर हेमिंग्वे के बूढ़े को लेते हैं, जो दूसरे जवान सफल मछेरों के बीच में अभागेपन का प्रतीक है जिसकी नाव झंझरी है और जिसके पैवन्द टँके पुराने जाल स्थायी पराजय के झण्डे की तरह फरफरा रहे हैं बूढ़ा मछेरा बाहरी परिस्थितियों से दूर तरह टूटा और हारा लेकिन अप

भीतर से न वह टूटा है न हारा है। हेमिंग्वे का यह मछेरा अरविन्द शंकर को बराबर अनुप्राणित करता रहा है। अपनी बाह्य परिस्थितियों में अरविन्द शंकर भी बूढ़े मछेरे की भाँति पीड़ित, त्रस्त और साधनहीन है पर वह निराश नहीं होते, अपना कर्म करने में जुटे रहते है। आरम्भ में अरविन्द शंकर का अपने जीवन की परिस्थितियों का वर्णन करने के पश्चात किसी विशेष पात्र घटना या विचारधारा का जिक्र करना और फिर उसकी के अनुसार नया अध्याय लिखना बहुत अच्छा लगता है :

"मैं सावधान होकर बैठ गया। स्फूर्ति ने सारी मानसिक गिरावट चमत्कारी रूप से सम्भाल ली। अपनी मेज के पास पहुँच गया। दराज से सादे कागज निकाले। अपार्थिवता पार्थिव होने लगी, अव्यक्त व्यक्त होने लगा। मैं बरात का दृश्य लिखने जा रहा हूँ। उस दृश्य के साथ ही मेरे पास ही दूकान के पास साइकिलें लिये दो युवक पैसे वालों की शान और अपनी परेशानियों पर भुँभलाते हुए। बस इन्हीं दो नवयुवकों को लेकर उपन्यास का श्री गणेश करूंगा। इन दोनों में से एक को भंगड़ पाधा का बेटा बनाऊँगा—भंगड़ पाधा मेरे पड़ोसी। उनके नाम से ही हँसी आ गयी और प्लाट ? नहीं, अभी प्लाट आदि की चिन्ता मे न पड़ूँगा। मेरे जीवन भर के अनुभवसिद्ध औपन्यासिक संस्कारों को इन नवयुवक पात्रों के सहारे अपने आप युग कथा में प्रवेश पाने दो।"

लेखक अरविन्द शंकर जब बार-बार अपनी मन:स्थिति का वर्णन करते हैं और लिखने न लिखने की बात करते है तो कुछ अच्छा नहीं लगता, ऐसा लगता है जैसे लेखक व्यर्थ ही एक नाटक कर रहा है :—

"होगा जी अरविन्द शंकर। अब तुम फिर सुचित्त होकर अपने उपन्यास ही पर डटो। तुम्हारा एक मोर्चा अभी शेष है।"

जहाँ तक उपन्यास के कथानक का प्रश्न है, इसमें भी एक नयापन है। पहले के उपन्यासों की भाँति इसमें आदि से अन्त तक एक सुसम्बद्ध कथावस्तु नहीं है, बल्कि पूरा उपन्यास अनेक कथाओं से मिलकर बना हुआ है। उपन्यास का मुख्य पात्र मोहल्ले के पुरोहित पुत्तो गुरु का पुत्र रमेश है। रमेश का प्रेम कुँवर रद्धू सिंह की बाल-विधवा पुत्री रानी से हो जाता है। पूरे उपन्यास में कथा इतनी ही बढ़ती है कि सारी कठिनाइयों के बावजूद रानी और रमेश का विवाह हो जाता है और वे अपनी गृहस्थी अलग बनाकर रहने लगते हैं। पहले के उपन्यासों और अब के उपन्यासों में यही अन्तर है। इसी परिस्थिति को लेकर यदि पहले उपन्यास लिखा गया होता तो लेखक अपनी सारी शक्ति अथवा कला उन कठिनाइयों अथवा बाधाओं का चित्रण करने में लगा देता जो रमेश और रानी का विवाह होने में पड़तीं और विवाह होते ही उपन्यास समाप्त हो जाता। अब उपन्यास में किसी घटना विशेष की प्रधानता नहीं रहती। लेखक का उद्देश्य जीवन का यथार्थ चित्र उपस्थित करना होता है और वह इसी मे दत्तचित्त रहता है। रानी और रमेश की कथा के अतिरिक्त इस उपन्यास में लच्छू, कुँवर रद्धू सिंह और लाल साहब की कथाएँ हैं। आदि से अन्त तक एक कथा अरविन्द शंकर और उनके परिवार की भी चलती है। पहले उपन्यास में यह आवश्यक समझा जाता था कि उपन्यास की केन्द्रीय कथा के साथ अन्य कथाओं का भी कुछ न कुछ सम्बन्ध हो चाहे उन्हें एक

दूसरे से सम्बद्ध करने वाले तन्तु क्षीण ही क्यों न हों परन्तु धीरे धीरे ये सब बंधन टूट गये हैं अब यदि हम इस उपन्यास की विभिन्न कथाओं के एक दूसरे के सम्बन्ध पर विचार करें तो हम यह पाते हैं कि रमेश, रद्धू सिंह और लच्छू तो एक दूसरे से कुछ सम्बन्धित भी हैं पर लाल साहब की कथा अत्यन्त मनोरंजक होते हुए भी अलग से एक पैबन्द मालूम होती है। जहाँ तक अरविन्द शंकर की कथा का सम्बन्ध है, उसका तो इन कथाओं से जुड़ने का प्रश्न ही नहीं उठता, चूँकि वह तो स्वयं इन कथाओं के विधाता की कथा है। वैसे यदि उन कथाओं का सम्बन्ध हम अरविन्द शंकर की कथा से जोड़ना ही चाहें तो यह कह सकते हैं कि वे सब अरविन्द शंकर की मानस-पुत्रियाँ होने के कारण उससे सम्बद्ध हैं।

अरविन्द शंकर की कथा पर विचार करते समय सबसे पहला प्रश्न हमारे मन में यह उठता है कि क्या अरविन्द शंकर की आत्मकथा श्री अमृत लाल नागर की आत्मकथा है? मेरी समझ में अरविन्द शंकर में श्री नागर हैं भी और नहीं भी हैं। दूसरे शब्दों में इसी बात को इस प्रकार कहा जा सकता है कि अरविन्द शंकर की आत्मकथा लिखते समय नागर जी ने बहुत कुछ अपने जीवन से लिया है परन्तु आवश्यकतानुसार उन्होंने इसमें अपनी कल्पना का भी प्रयोग किया है। उदाहरण के लिये, मुझे ऐसा लगा है कि अरविन्द शंकर के पूर्वजों की कहानी लिखने में नागर जी ने अपने पूर्वजों के इतिहास का बहुत कुछ प्रयोग किया है। जहाँ तक लेखक अरविन्द शंकर के चरित्र का प्रश्न है, उसका बहुत बड़ा प्रतिशत उन्होंने अपने जीवन से लिया है। अरविन्द शंकर के विचार तो मूलतः नागर जी के प्रतीत होते हैं। अरविन्द शंकर के बच्चों का अधिकांश चित्रण मुझे कल्पित प्रतीत हुआ। इधर बराबर लखनऊ से बाहर रहने के कारण नागर जी के वर्तमान परिवार के सम्बन्ध में मेरी व्यक्तिगत जानकारी बहुत थोड़ी है अतः यह मूल्यांकन बहुत कुछ उपन्यास के चित्रण को परख कर करने की चेष्टा की गयी है।

जहाँ तक उपन्यास में कथानक के गठन का प्रश्न है, यह स्वीकार करना पड़ेगा कि हिन्दी के उपन्यासकारों में इतनी अच्छी सिचुएशन अथवा परिस्थितियों का चित्रण बहुत कम लोग कर पाते हैं। परिस्थितियों की नाटकीयता अथवा विषम परिस्थितियों का चित्रण भी वह बहुत कुशलतापूर्वक करते हैं। इस उपन्यास की एक परिस्थिति, जो चाहे नाटकीयता की दृष्टि से परखी जाय चाहे इस दृष्टि से कि वह हमारे समाज में बदलते हुए मूल्यों का ज्वलन्त उदाहरण है, अनुपम और अनोखी है। घटना इस प्रकार है—

अच्छे खासे तालुकेदार और रईस होते हुए भी घर की दशा बिगड़ जाने के कारण लाल साहब घरजमाई होकर ससुराल में बस गये। उनकी पत्नी हिण्डोले वाली अवध की बड़ी रियासत बद्रीपुर की बेटी है। मिजाज और जुबान दोनों तेज हैं। उनकी और लाल साहब की कभी पटी नहीं, फिर भी पाँच सन्तानों को तो उन्होंने जन्म दिया ही। ससुराल को लाल साहब कभी अपना घर न समझ सके। उसकी दौलत को बेदर्दी से लुटाते हुए उन्हें बड़ा आनन्द आता था। पत्नी से प्यार न पाकर वह तवायफों के चक्कर में पड़े और इस चक्कर में उन्हें यह भी ख्याल न रहा कि वह अपने बच्चों का हक मार रहे हैं उनके गले पर छुरी फेर रहे है। फलस्वरूप उनकी पत्नी और लड़कों ने उनके विरुद्ध मोर्चा बनाया मुख्तार आम के पद से हटाकर

रियासत का स्याह्-सफेद करने का अधिकार उनसे छीन लिया, उनके ऊपर मुकदमा दायर करने की तैयारी होने लगी। लाल साहब को यह मालूम हुआ तो वह आपे से बाहर हो गये, कहनी-अनकहनी पर उतर आये। धन-दौलत न केवल सम्बन्धों की पवित्रता और माधुर्य को खाक कर देती है, वह भयानक कटुता और शत्रुता को जन्म देती है। अपने से विमुख होने वाले पुत्रों और पत्नी को उन्होंने एक ही बार में धराशायी कर दिया :—

"हमहूँ भरी कचहरी माँ ई साबित कइके दिखाय देब कि हम कौनों जालसाजी नहीं किया बल्कि राजा लखपतराय की बिटिया के तीनों बड़े बरखुरदार एक कहार की औलाद हैं साले।"

नतीजा यह हुआ कि बेटे को बाप की पिस्तौल के जोर से घर से निकालने पर विवश होना पड़ा और जब चलते वक्त लाल साहब ने अपनी उपर्युक्त बात फिर दोहरायी तो हिंडोलेवाली गरजी —

"बबुआ पाँच जूते मारो सारे को। यह हरामी के पिल्ले की अम्मा कहार की रहे। मारो हरामी के। पती-पत्नी हम अब न समझबई का। ...... यू अँगूठी दूनौ तीनौ उतार के धरे जाओ। जंजीर पहने रहौ, सोना तो मुर्दन के साथै जाते हैं। अपने लेखे हम आज से राँड़ हुई गयीं।" यह कहकर उन्होंने जीने के शीशमी रेलिंग पर अपने हाथ दे मारे। उसी तेहे में माथे का टीका भी हाथ से मिटा दिया।

अब से कुछ वर्ष पहले तक अपने इस देश में सब प्रकार से असमर्थ और दुर्गुण से भरे हुए पति का अपमान करने वाली पत्नी का नरक की हजारों यातनाएँ भोगना निश्चित समझा जाता था। समय ने पलटा खाया, जीवन के यथार्थ के सम्मुख आदर्श के झण्डे झुक गये, मूल्य बदल गये। जीवन के सुख और वैभव के सम्मुख हिंडोलेवाली को आदर्श की तस्वीर बदरंग और अनाकर्षक लगी। इस दृश्य का चित्रण करके नागर जी ने न केवल साहस का परिचय दिया बल्कि उन्होंने हमारे समाज के बदलते हुए मापदण्डों का एक ज्वलन्त उदाहरण हमारे सामने प्रस्तुत कर दिया। यह स्वीकार करना पड़ेगा कि समाज बहुत तेजी से बदल रहा है और आज अक्सर ऐसी घटनाएँ सामने आ रही हैं जब स्त्री दूसरे पुरुष के चक्कर में अपने पति के प्राण भी ले लेती है। बदलते युग के ये दृश्य हमारे कथा-साहित्य में स्थान पाकर उसे यथार्थ के निकट लाते हुए एक नया रूप दे रहे हैं। आदर्श की कमर दिन पर दिन टूटती ही जा रही है और ऐसा लग रहा है जैसे वह साहित्य-संसार में थोड़े ही दिन का मेहमान है।

उपन्यास के सम्पूर्ण कथानक पर एक विहंगम दृष्टि डालने पर मुझे ऐसा लगा कि कथानक का उत्तरार्द्ध यथार्थ की दृष्टि से उतना स्वाभाविक नहीं है जितना कि पूर्वार्द्ध। लच्छू और खोखा मियाँ को लेकर नागर जी ने कल्पना की कुछ ऐसी उड़ानें भरी हैं जो अद्भुत अधिक कही जा सकती है, स्वाभाविक कम। उपन्यास का अन्त बहुत ही थ्रिलिंग परिस्थिति मे होता है और पत्रकार रमेश अपने पेशे को चरम सीमा पर पहुँचा हुआ जासूस के साहस और सतर्कता का परिचय देता है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से नागर जी न केवल इस उपन्यास में बल्कि 'बूँद और समुद्र' में भी बहुत सफल रहे हैं। उन्होंने हिन्दी कथा-साहित्य को कुछ ऐसे पात्र दिये हैं जो की कसौटी पर इतने खरे उतर रहे हैं कि उन्हें पाठक जीते जागते व्यक्ति के रूप

मे ही लेता है। वे पात्र नागर जी की मानसिक सृष्टि होंगे, यह उसका मन किसी तरह मानने को तैयार नहीं होता। यह तो मानना पड़ेगा कि इस उपन्यास में कोई पात्र उतना स्वाभाविक और सजीव नहीं बन पाया जितना 'बूँद और समुद्र' की ताई, परन्तु रमेश, पुत्ती गुरू, कुँवर रद्घूसिंह, लाल साहब, अरविन्द शंकर, माया इत्यादि के चरित्र अत्यन्त जीवन्त हैं।

रमेश को हम इस उपन्यास का नायक कह सकते हैं। लेखक ने उसे होनहार नवयुवक के रूप में चित्रित किया है। उपन्यास के आरम्भ में वह विश्वविद्यालय का छात्र है और मोहल्ले की छात्र मण्डली का नेता है। स्वभाव से वह आदर्शवादी है और समाज सेवा के कार्यों में उसे रुचि है। जिसे वह उचित समझ लेता है उस पर बिल्कुल अटल ही हो जाता है, किसी के विरोध की चिन्ता नहीं करता। राजा केशोराम की बारहदरी के तरुण छात्र-संघ का प्रमुख कार्यकर्ता वही है। बारहदरी की जमीन पर जब लाला रूपचंद मन्दिर बनवाने की योजना चालू करते हैं तो उनसे मोर्चा लेने को सबसे पहले रमेश ही प्रस्तुत होता है। अपने पिता पुत्ती गुरु के समझाने या बिगड़ने की भी वह परवाह नहीं करता। उसके और रानी के प्रेम को लेखक ने सिद्धहस्त उपन्यासकार की भाँति चित्रित किया है। रमेश जानता है कि उसके रूढ़िवादी पिता विधवा-विवाह के लिए किसी भी प्रकार स्वीकृति न देंगे परन्तु अपने निश्चय पर वह दृढ़ रहता है। आरम्भ से अन्त तक लेखक ने एक-एक रग-रेशे से रमेश को एक आदर्श पात्र के रूप में चित्रित किया है। पूरे उपन्यास में केवल एक घटना गैहाबानों वाली ऐसी है, जहाँ यह कहा जा सकता है कि रमेश विचलित हो जाता है। स्त्री का आकर्षण अत्यन्त प्रबल है और वह बड़े बड़ों के पैर उखाड़ देता है। जो रमेश रानी के लिए एक अर्से तक पागल रहा है वही उसके मित्र के चन्द दिनों बाद ही गैहाबानों की चाहत का शिकार हो जाता है। रमेश के उस समय के मानसिक द्वन्द्व का लेखक ने बड़ी सफलतापूर्वक चित्रण किया है। रमेश की इस कमजोरी का चित्रण करके लेखक ने उसे अधिक स्वाभाविक बना दिया है।

उपन्यास का दूसरा महत्वपूर्ण पात्र है लच्छू—लक्ष्मी नारायण खन्ना। हम उसे वर्तमान युग का प्रतिनिधि नवयुवक कह सकते हैं। एक ऐसा व्यक्ति जो अपने उद्देश्य की प्राप्ति में आदर्श के रोड़ों को बाधक नहीं बनने देता। वह स्वभाव से बहुत ही मिलनसार और महत्वाकांक्षी है। उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व का विकास तब होता है जब वह सारस लेक जाता है और डाक्टर आत्माराम के सहायकों की राजनीति में पैंतरेबाजी सीखता है रूस की यात्रा उसके व्यक्तित्व में और भी निखार लाती है। लखनऊ लौटने पर जब उसे अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करना पड़ता है तो अपने ध्येय की प्राप्ति के लिए वह सभी प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों की उपादेयता का कायल हो जाता है। रेवतीरमन से काम निकालने के लिए गोपी मनसुखानी को जुटाना और अपनी गोद में बिठाने के लिए मिसेज चौधरी को पटा लेना उसकी अचूक कार्य प्रणाली के प्रमाण हैं। लच्छू बड़ा ही जीवन्त और स्वाभाविक पात्र है।

मुझे इस उपन्यास का सबसे रोचक, स्वाभाविक और अपने ढंग का निराला पात्र पुत्ती गुरू प्रतीत हुआ सीधी सरल प्रकृति के पुत्ती गुरू पुरोहिताई का धन्धा करते हैं और अपने जजमानों की कुशल क्षेम के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते हैं नये जमाने की हवा

उनको जरा भी नहीं छू पायी है। उन्हीं का पुत्र रमेश विधवा-विवाह और वह भी एक क्षत्रिय की पुत्री के साथ, करने का निश्चय कर लेता है। पहले-पहल जब पुत्ती गुरू को इसका पता लगता है जो उन पर जैसे वज्रपात हो जाता है। धीरे-धीरे वह इस परिस्थिति से समझौता कर लेते हैं। पुत्ती गुरु के इस मानसिक द्वन्द्व का लेखक ने बड़ा ही सफल चित्रण किया है। पुत्ती गुरू के संन्यास लेने और रमेश और रानी के प्रस्तावित विवाह सम्बन्ध की बात जान लेने के बाद मन्दिर में श्री रामचन्द्र जी को मनाने के दृश्य अत्यन्त रोचक, सजीव तथा अनूठे हैं। पुत्ती गुरू की सबसे बड़ी विशेषता है उनका भाँग का शौक और यह भाँग उनके पूरे व्यक्तित्व पर छायी हुई है। इस शौक का, उसकी तरंग में उठने वाले विचारों का, नागर जी ने जैसा चित्रण किया है, वैसा वही कर सकते थे यह स्वीकार करना पड़ेगा। पुत्ती गुरू के व्यक्तित्व का परिचायक निम्नलिखित वाक्य है, जो उन्होंने एक विशेष परिस्थिति में कहा है। पुत्ती गुरू एक जजमान के यहाँ वास्तु शान्ति के लिए गये और वहाँ बाढ़ से घिर गये। दो दिन बाद लौटकर आये तो उनकी पत्नी ने दूधिया भाँग छान कर तैयार कर रखी थी। भाँग चढ़ाते हुए पुत्ती गुरु बोले—"हरिओम बोम शंकर, आ हा। आज तुम्हारे हाथ की भाँग में अष्टसिद्धि नवनिधियों का रस उतर आया हैगा साला। अरे आज मैं तुम्हें सपने में नौलखा हार पहनाऊँगा रमेश की अम्मा, ऐसा चित्त प्रसन्न भया है तुमसे। हरिओमः। गुसाईं जी का वचन प्रमाण है कि नारि पतिव्रत जेहि घर माहीं, तेहि प्रताप से अमर डराहीं।" यह सपने में नौलखा हार पहनाने की बात नागर जी की मौलिक सूझ है। वह जहाँ पुत्ती गुरू के मौजी स्वभाव का परिचय देती है वहीं उनकी आर्थिक विपन्नता की बात भी प्रकट कर देती है। इतने उस समय प्रसन्न थे पुत्ती गुरू कि यदि सम्पन्न होते तो अपनी पत्नी को उसी समय असली नौलखा हार पहना देते। आर्थिक स्थिति बिलकुल खस्ता है सो वह मनोवांछित पुरस्कार सपने मे देने का वादा कर देते हैं।

जैसा कि पहले भी उल्लेख किया जा चुका है, नागर जी के चरित्र चित्रण की टेकनीक ऐसी है कि वह जिस पात्र का भी चित्रण करते हैं उसका इतना विस्तृत विवरण प्रस्तुत करते है और वह भी इतने प्रामाणिक ढंग से कि पाठक को उनके पात्र बिलकुल सजीव प्रतीत होते है। कुँवर रद्धूसिंह अथवा उनकी माता का चित्र स्वाभाविक होने के साथ-साथ बहुत ही मार्मिक है। जिसने अच्छे दिन देख रखे है, अच्छा खाया पिया पहना ओढ़ा है, उसे जब दुर्दिन घेर लेते हैं तो उसकी दशा कैसी दयनीय हो जाती है, इसका नागर जी ने बहुत ही सुन्दर चित्रण किया है। कुँवर रद्धूसिंह की बेबसी और मानसिक स्थिति का वर्णन करने में उन्हें बहुत ही सफलता मिली है। लाल साहब, हिण्डोलेवाली, वहीदन, हाजी साहब, डाक्टर आत्माराम, आनन्दमोहन खन्ना, श्रीमती खन्ना, उमेशी इत्यादि जिस भी पात्र को नागर जी ने लिया है, उसे जानदार बनाकर ही छोड़ा है।

कथोपकथन अथवा वार्तालाप लिखने में हिंदी के उपन्यास लेखकों में नागर जी बेजोड़ है। बोलचाल की भाषा पर उनका अधिकार अनुपम है। बोलियों की उनकी जानकारी बहुत ही अच्छी है और उनके बोलचाल के प्रयोगों में शायद कोई बहुत बड़ा भाषाविद् ही कोई

त्रुटि निकाल पावे । लखनऊ की शुस्ता जबान पर उनका अधिकार है । नवाबी मसनद और शतरंज के मोहरे में वह इसका जबर्दस्त सबूत दे चुके हैं । जहाँ भी उन्हें वैसे पात्र मिल जाते है, इस बोली का वह बड़ी सफलतापूर्वक प्रयोग करते है :

मुआफ फरमाइयेगा गौड़ साहब, मुसलमान के घर में किरायेदार बनने की वजह से तो आपके वालिदे बुजुर्गवार खुदकशी करने पर आमाद हो गये थे और जब आप सूरत से भी हमारे ही जैसे नजर आएँगे तो खुदा जाने को क्या कहर बरपा न कर डाले ।

अथवा

जर्रानवाजी है आपकी वर्ना खाकसार किस काबिल है ।

लखनऊ की खत्रानियों द्वारा बोली जाने वाली बोली बड़े ही स्वाभाविक रूप में उनके उपन्यासों में आती है । परिस्थितियों के अनुसार उस बोली का रङ्ग और तेवर बदलता है—

"हाँ चाची, ई बात तो सच्ची है । बाढ़ के पानी में हमने सुना है कि ऐसी जोर की भौंवरे पड़त हैंगी की उम्मे जो कोई फँस गया ऊ बस सीधे रसातले में पहुँचत है जायके ।"

बोली का एक दूसरा रंग देखिये, इसमें थोड़ी सी खड़ी बोली मिश्रित है—

भाभी देवर की बातचीत हो रही है ।

"लच्छू भैये, पीके आयेंगे तो मै तुम्हाए भाई को घुसने नहीं दूँगी । अभी से बताए देती हूँ । मैंने सुन लिया हैगा ।"

"अरे आज तुम्हें भी पिलाऊँगी ।"

"पिलाइये अपनी होती-सोतियों को । आप अलग घर ले लीजिए । आप हमाए इनको भी बिगाड़ देंगे । हमने सब सुन लिया हैगा । उड़ेंगी मजे में । देखती हूँ कैसे साम को घर से निकलत होगे तुम ।"

अवध के अँग्रेजी पढ़े लिखे जमींदार जैसी अवधी, उर्दू और अँग्रेजी मिलाकर बोलते हैं, उसकी निम्नलिखित बानगी बहुत ही रोचक है :

"यू सब 'सन्टीमेन्टस' आपके यूजलस आयँ । हम आप ते यहै प्रार्थना करै आये है कि 'फमिली मम्बर्स' के विरोध करै माँ आप बड़े 'डिसएडवान्टेज' मां रहिहौ । हम जौन नाहीं करै चाहित रहन वहै हमका करैका पड़ी । सतयुग मा पिता की आज्ञा से परशुराम आपन महतारी का 'मर्डर' कीन रहैं और कलियुग मा माँ की आज्ञा से हम पिता का ।"

नागर जी के इस उपन्यास की उपलब्धियों और कमियों पर यदि हम विचार करें तो यह हमें स्वीकार करना ही पड़ेगा कि उनका यह उपन्यास भी हिंदी उपन्यास साहित्य की एक महत्वपूर्ण कृति है । अभी कुछ दिन पहले जब उनके इस उपन्यास पर साहित्य एकादमी का पुरस्कार दिया गया था तो दो एक व्यक्तियों ने कुछ इस प्रकार का विचार प्रकट किया था कि एक बार फिर सामर्थ्यवान लेखक को कमजोर कृति पर पुरस्कार दिया गया । उनका इंगित यह था कि 'बूँद और समुद्र' नागर जी की अधिक सफल कृति है । यदि पुरस्कार दिय ही जाना था तो नागर जी की उस कृति पर मिलना चाहिए था । इस विचार से मैं सहमत नहीं हूँ यह बात और है कि कुछ अर्थों में बुद और समुद्र 'अमृत और विष से अच्छा

हो परन्तु हर क्षेत्र में यह बात नहीं कही जा सकती। नागर जी की कला का विकास इस उपन्यास में पहले की अपेक्षा हुआ है, यह निर्विवाद है।

लखनऊ की बाढ़ का चित्रण जैसे विस्तार से नागर जी ने किया है उसे देखकर ऐसा लगता है जैसे उन्होंने उस पूरी परिस्थिति को पूर्णतया भोगा हो। संभव है यह कहा जाय कि बाढ़ का इतना विस्तृत चित्र, वह अपने में चाहे कितना ही सांगोपांग और कलात्मक हो, उपन्यास पर कुछ भारी पड़ता है। इस सम्बन्ध में मैं यही कहना चाहूँगा कि नागर जी का यह उपन्यास उस कोटि में आयेगा जिसे अंग्रेजी में 'लूज टाइप' कहते हैं, जिसमें लेखक पर 'रिजिड टाइप' के उपन्यास की भाँति अधिक बन्धन नहीं रहता और वह अपने विचारों को अधिक स्वतंत्रतापूर्वक व्यक्त कर सकता है। इस उपन्यास में लेखक ने कुछ साहसपूर्ण कदम उठाये हैं, उनमें सबसे बड़ा, जैसा मैं पहले ही उल्लेख कर चुका हूँ, लेखक और पाठक के बीच उपन्यास के कच्चे माल और निर्मित रूप के बीच की विचार प्रक्रिया में साझेदारी है। दूसरा अरविन्द शंकर के पुत्र भवानी शंकर का चित्र है जो एक सम्पन्न अध्यापिका के रखैल होकर अपना जीवन यापन करते हैं। एक और साहसपूर्ण चित्रण है नरवेश्या बुलाकी का। यह स्वीकार करना पड़ेगा कि अब तक हिन्दी के किसी जाने माने उपन्यास में इस प्रकार के पात्रों का चित्रण नहीं हुआ था। बुलाकी का बड़ा सटीक चित्रण लेखक ने किया है और काफी दुर्गत करवा के उसे इस उपन्यास के कैनवस पर से निर्वासित किया है।

इस उपन्यास के वातावरण में मैं डाकू बूटासिंह काण्ड को किसी प्रकार भी एकरस न कर पाया। वह पूरी घटना एक बेमेल पैबन्द-सा उपन्यास के कलेवर पर झलकती है। इसी प्रकार उपन्यास के अन्त में होने वाला हिंदू-मुस्लिम दंगा और खोखा मियाँ द्वारा करवाये हुए आगजनी इत्यादि के काम भी, ऐसा लगता है जैसे उपन्यास में कोई महत्वपूर्ण या थ्रिलिंग घटना देने के लिए लेखक ने गढ़ लिए हों। उपन्यास की अन्य घटनाओं की भाँति यह घटनाएँ सहज स्वाभाविक रूप से नहीं आती। इतने बड़े उपन्यास में ये कतिपय कमजोरियाँ (मेरी दृष्टि में) आ जाना आश्चर्यजनक नहीं है।

'अमृत और विष' के सम्बन्ध में इतना लिखने पर भी मैं यह नहीं कह सकता कि मैं उस पर सभी पहलुओं से विचार प्रकट कर सका हूँ। लेख के कलेवर की सीमाओं को देखते हुए जितना कुछ भी मेरे लिए संभव था, मैंने किया है। फिर भी इस विशाल उपन्यास की बहुत सी ऐसी उपलब्धियाँ हैं जिन पर मैं अति विस्तार के भय से कुछ नहीं लिख सका हूँ। जहाँ तक उपन्यास के दोषों का प्रश्न है, मुझे वह कम ही लगे और जो नुमाया थे उन्हें मैंने स्पष्ट लिख दिया है।

'अमृत और विष' हिंदी उपन्यास साहित्य की एक महत्वपूर्ण कृति है और निश्चित रूप से पठनीय है। संसार के उपन्यास साहित्य में उसका क्या स्थान होगा यह विचारणीय प्रश्न है। विश्व के उपन्यास साहित्य में स्थान पाने के उसके अधिकार को सहसा झुठलाया नहीं जा सकता।

गंगा प्रसाद मिश्र

चार महत्वपूर्ण पुस्तकें
एक प्रतिक्रिया

'क्या भूलूं क्या याद करूं' हिन्दी के लोकप्रिय और सशक्त कवि डॉ० हरिवंशराय बच्चन की अपनी कलम से लिखी हुई आत्मकथा है। बच्चन जी की आत्मकथा लिखने की अपनी योजना का यह पहला और तिहाई भाग है। 'अपने पाठकों से' नामक भूमिका मे बच्चन जी ने इसका स्पष्टीकरण भी किया है। "क्या भूलूं क्या याद करूं" मेरी पूरी योजना का एक तिहाई भाग है। इतने ही बड़े दो और भाग यथासमय आपके सामने आयेंगे, 'नीड़ का निर्माण फिर' और 'जीवन की आपाधापी में' यदि समय और स्वास्थ्य ने साथ दिया।" इस आत्मकथा में कवि बच्चन ने एक ओर अपने परिवार, परम्परा का विस्तृत विवरण दिया है, तो दूसरी ओर अपने जीवन की उस समय तक की घटनाओं का चित्रण किया है, जब कि उनकी पहली पत्नी श्यामा की मृत्यु हुई। इस प्रकार इस पुस्तक में उस समय से पूर्व की घटनाओं का वर्णन दिया गया है जब कि विवश कवि को दोबारा अपने नीड़ का निर्माण करना पड़ा अर्थात् दूसरी शादी करनी पड़ी। कवि बच्चन की यह आत्मकथा कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण कही जा सकती है। अपने इस आत्म-चित्रण में लेखक ने अपनी मनोवृत्ति को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि प्रसिद्ध फ्रांसीसी लेखक मानतेन से उसे प्रेरणा मिली है। इसीलिये मानतेन की एतद्विषयक उक्ति को भी लेखक ने अपनी पुस्तक के फ्लैप पर उद्धृत किया है साथ ही अपने पाठकों से उसे पढ़ने का आग्रह भी किया है। मानतेन ने कहा है, 'मैं चाहता हूँ कि लोग मुझे मेरे सरल, स्वाभाविक और साधारण रूप में देख सकें। बच्चन ने भी वस्तुतः अपने आपको सरल, स्वाभाविक और साधारण रूप में प्रस्तुत किया है। यही उनकी इस आत्मकथा की शायद सबसे बड़ी विशेषता है। स्वामी रामतीर्थ के इस कथन से भी लेखक प्रभावित है—"In every little experience of our's is folded the whole of History." अर्थात् छोटे से छोटे अनुभव में मानवता का सारा इतिहास छिपा रहता है। इसी से प्रेरित होकर लेखक ने अपने जीवन की छोटी से छोटी घटनाओं का आलेखन इस पुस्तक में किया है। इससे निश्चित रूप से कवि के जीवन और व्यक्तित्व पर अच्छा प्रकाश पड़ा है, किन्तु एक दो स्थलों पर कुछ घटनायें कवि से ज्यादा दूर जा पड़ती है, जैसे कि अपने गोत्र के कायस्थों की परम्परा को वह अनावश्यक विस्तार दे देता है। फिर भी पुस्तक की रोचकता कम नहीं हो पाती। तीसरी बात यह है कि कवि की इस मर्मभेदी आत्मकथा को पढ़कर पाठक कवि बच्चन के प्रति गहरी सहानुभूति रखने लगता है। जब वह देखता है कि ऋण के बोझ के कारण उनके पुर्वजों का मकान नीलाम होने लगता है. पहली पत्नी श्याम क्षयरोग से ग्रस्त है किन्तु उसका इलाज कराने के लिये कवि के पास रुपया नहीं है और व

नौकरी की खोज में भटकता है, एक के बाद दूसरी नौकरी छूटती चली जाती है, वह स्वय भी क्षय-रोग का शिकार हो जाता है। पति और पत्नी दोनों ही क्षय के रोगी और इलाज के लिए रुपया नहीं। परिणामतः ज्वर-ग्रस्त बच्चन जी को नौकरी और ट्यूशनों पर जाना पड़ता है। कवि की इस समय की मनोवृत्ति उसके इस कथन से व्यक्त होती है, 'न भी सुन सकूँगा तो क्या, कविता जाये तो जाये, सजीव कविता घर में रोगी पड़ी है—प्रतिदिन क्षीण होती, पीली पड़ती। तनख्वाह इस नौकरी मे अच्छी मिलेगी, श्यामा का माकूल इलाज हो सकेगा।'' हृदय को बेधने वाली इस मार्मिक कहानी की चरम परिणति होती है बच्चन की पत्नी श्यामा की मृत्यु में। श्यामा का कवि के चेतन और अचेतन मस्तिष्क पर, उसके व्यक्तित्व और कृतित्व पर उतना गहरा प्रभाव पड़ा, जितना कि संसार के किसी भी एक व्यक्ति का एक कलाकार पर अधिक से अधिक पड़ सकता है। बच्चन जी का कथन इसका प्रमाण है— 'श्यामा का बुखार चार महीने तक न उतरा। तब मैंने यह न जाना था कि यह बुखार तो वह तपेदिक में बीमार अपनी माँ की सेवा के लिए मिले संक्रामक उपहार के रूप में लाई है। यह संक्रामक रोग समय-समय पर उभरता और यही अन्त में अंत्रक्षय को रूप लेकर उसकी मृत्यु का कारण बना। श्यामा मेरे शरीर की संगिनी नही बन सकती थी और मेरे मन का कुछ भी ऐसा न था जो मैंने उसके मन में न उतार दिया हो।' कवि के कृतित्व पर भी श्यामा का गहरा प्रभाव पड़ा। बच्चन जी ने यह स्वीकार भी किया है। पृष्ठ २५६ पर वे लिखते हैं—'स्वस्थ पति-पत्नी के बीच शारीरिक संबंध स्वाभाविक, आवश्यक और अनिवार्य है। पर श्यामा के शरीर की जैसी स्थिति थी, उसमें शरीर को दीवार मानकर प्राण-प्राणों के मिलन पर ही प्रायः संतोष करना था। कवि की वासना में जो मैंने लिखा था :—

"वासना जब तीव्रतम थी, बन गया था संयमी मैं।
है रही मेरी क्षुधा ही, सर्वदा आहार मेरा।"
या "हलाहल" में कि "वासना" मेरा विकराल,
अधिक पर अपने पर विश्वास।"

यह मेरी उन दिनों की तीव्र, तीक्ष्ण और तनावपूर्ण अनुभूति ही थी जो शब्दों में मुखरित हुई थी। हर संयम का कहीं न कहीं विस्फोट होता है और उसके लिए न मैं लज्जित हूँ, न अपने को दोषी ठहराता हूँ। यह मैं बड़ी सचाई के साथ कहता हूँ कि उसका अधिकतम विस्फोट निश्चय ही मेरे काव्य में हुआ है।' एक अन्य स्थल पर भी बच्चन जी ने श्यामा के प्रभाव को स्वीकार किया है, 'मेरी विगत स्मृतियों, मेरे पूर्व इतिहास, मेरे वर्तमान के श्रम संघर्ष को जैसा उसने जाना था, जैसी मेरी स्थिति थी निकट भविष्य में, कम से कम अपने जीवन काल में कल्पना की थी, उससे उसने मेरा नाम 'सफरिंग' रख दिया था। शायद कोई नहीं जानता था कि वह मुझे इसी नाम से पुकारती है। जब हम अकेले होते वह मुझे इसी नाम से संबोधित करती और मैं उसे 'जॉय' कहता। मुझे 'सफरिंग' नाम देने में शायद श्यामा ने मेरे स्वभाव मेरी प्रकृति मेरे जीवन मेरे व्यक्तित्व में बीज को पढ़ लिये मेरे कवि को भी पहचाना था शायद उसने समझ लिया था कि कवि तो साकार

वेदना ही है। मैं जिस वेदना से गुजरा हूँ या गुजर रहा हूँ उससे कविता के बीज के लिए भूमि ही तो अपने अन्दर तैयार कर रहा हूँ।'

अपनी इस जीवन गाथा में बच्चन ने अपने पुरखे मनसा से लेकर अपने समय तक की पीढ़ियों, अपने गाँव के कायस्थों की परम्परा, प्रमुख घटनाओं आदि का चित्रण किया है। रानी, ककल, कृष्ण, प्रकाशो आदि का भी उन पर प्रभाव पड़ा। वे प्रारम्भ में कहानी और कविता दोनों ही क्षेत्रों की ओर मुड़े, किन्तु अन्ततः एक सफल कवि सिद्ध हुए और वे अब भी सृजनरत है। वास्तव में कोई भी कलाकार अपनी कला में जाने या अनजाने रूप में अपने व्यक्तित्व का प्रक्षेप करता है और व्यक्तित्व का निर्माण विशेष प्रकार की परम्परा, वातावरण, परिस्थितियाँ, घटनाओं, व्यक्तियों के सम्पर्क के फलस्वरूप होता है। बच्चन के व्यक्तित्व का निर्माण जिस परम्परा, वातावरण, परिस्थितियों, घटनाओं और व्यक्तियों के सम्पर्क के फलस्वरूप हुआ है, उन सभी का आलेखन उन्होंने अपनी इस आत्म-कथा में किया है। वास्तव मे बच्चन के कवि रूप को समझने के लिए यह पुस्तक अत्यधिक उपयोगी है। पुस्तक का प्रकाशन और साज-सज्जा सुन्दर है। साहित्य अकादमी, नई दिल्ली भारतीय साहित्य के निर्माण में महत्वपूर्ण योग देने वाले प्राचीन एवं अर्वाचीन साहित्यकारों का परिचय देने के उद्देश्य से एक पुस्तकमाला का आयोजन कर रही है। उपन्यास-सम्राट् प्रेमचन्द के जीवन, व्यक्तित्व एवं कला पर प्रकाश डालने वाली 'प्रेमचंद' नामक पुस्तक भी इसी शृंखला की एक कड़ी है। यह पुस्तक प्रगतिशील आलोचक प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त की 'प्रेमचन्द' नामक अंग्रेजी पुस्तक का उन्हीं के द्वारा किया गया हिन्दी अनुवाद है।

प्रस्तुत पुस्तक प्रेमचन्द के जीवन की अन्तरंग झाँकी प्रस्तुत करने के साथ ही उनके साहित्य के विषय में भी कुछ जानकारी हमें देती है। यद्यपि इसे लिखने मे अमृतराय की पुस्तक 'कलम का सिपाही', मदन गोपाल की पुस्तक 'कलम का मजदूर' और श्रीमती शिवरानी प्रेमचन्द की पुस्तक 'प्रेमचन्द घर में' से लेखक को सहायता मिली है, फिर भी प्रो० गुप्त की तटस्थ दृष्टि, मौलिकता और सूक्ष्म विशलेषण शक्ति का पूर्ण परिचय इस पुस्तक से हमें मिलता है। विद्वान् लेखक ने केवल प्रेमचन्द के जीवन की महत्वपूर्ण घटनाओं और मार्मिक प्रसंगों का ही वर्णन नहीं किया है, अपितु कहीं-कहीं संक्षिप्त रूप मे उनके साहित्य पर भी विचार किया है और अपने निष्कर्ष दिये हैं, तथा युगीन संदर्भों में भी प्रेमचन्द के जीवन को देखा है।

प्रस्तुत पुस्तक प्रेमचन्द के जीवन और साहित्य से परिचित होने के लिए, छोटी होने के बावजूद, महत्वपूर्ण जानकारी हमें देती है और अपने उद्देश्य में सफल है।

'टालस्टाय और भारत' नामक पुस्तक मूल रूप से रूसी भाषा में एलेक्जेन्डर शिफमैन द्वारा लिखी गई है, जिसका अँग्रेजी में अनुवाद श्री एसाउलोव ने किया है। इसी अँग्रेजी पुस्तक का 'टालस्टाय और भारत' नाम से अनुवाद डॉ० प्रभाकर माचवे ने किया है, बल्कि कहना चाहिए कि यह अनुवाद साहित्य अकादमी ने विशेष रूप से कराया है क्योंकि अभी तक पुस्तक अंग्रेजी भाषा में भी नहीं छपी और उसका हिन्दी अनुवाद पहले ही हमारे सामने आ गया इस पुस्तक के प्रकाशन से रूस और भारत को एक दूसरे के

और भी अधिक निकट से समझने का अवसर मिलेगा। इसके मूल लेखक ने रोम्या रोलाँ के एक कथन को अपनी भूमिका में उद्धृत किया है, "वृद्ध महर्षि टालस्टाय ने अपनी आत्मा मे जो ज्योति जागृत कर रखी थी, वह तरुण भारतीय गांधी को दी। यह ज्योति उन्होने अपने स्नेह से सिंचित की, अपने दुख में भी संजोये रखी और इस ज्योति से वह मशाल गाधी ने जलायी, जिसके प्रकाश ने भारत को दीप्त कर दिया। उस प्रकाश के प्रतिबिंब दुनिया के हर हिस्से में पहुँचे।" शिफमैन ने आगे लिखा है—"यह सत्य है कि भारत वह देश है, जहाँ टालस्टाय के कलात्मक उत्तराधिकार और मानवतावादी विचारों को विशेष रूप से चाहा जाता है।" टालस्टाय की भारतीय दर्शन और साहित्य में तथा यहाँ की जनता की आज़ादी की लड़ाई में बड़ी रुचि थी और भारतीयों को भी उनसे बहुत अधिक प्रेरणा मिली है। भारत और टालस्टाय नामक प्रस्तुत पुस्तक में भारत के लेखकों, दार्शनिकों और राजनीतिज्ञों के साथ टालस्टाय के सम्बन्धों और पत्र-व्यवहार का विवेचन है। गाँधी जी, प्रसिद्ध विचारक बाबू भारती, तारकनाथ दास, प्रो० रामदेव तथा प्रेमचन्द भारती आदि से टालस्टाय का पत्र व्यवहार था।

गांधी जी भी अपने आपको रूसी संत टालस्टाय का विनम्र अनुयायी और शिष्य मानते थे। गांधी जी के एक पत्र के उत्तर में टालस्टाय ने लिखा था, 'बुराई का विरोध मत करो, परन्तु इसमें हिस्सा भी न लो। शासन, न्यायालय, कर वसूली आदि के हिंसात्मक कार्यों में भाग मत लो और सबसे बड़ी बात यह है कि सेना में भाग मत लो और दुनिया मे कोई ताकत तुम्हें गुलाम नहीं बना सकती।' अपने एक दूसरे पत्र में टालस्टाय ने गाधी जी के अहिंसा के सिद्धान्त को भारत ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण मानवता के लिये महत्वपूर्ण बताया।

उनका विचार था कि भारतीय संस्कृति की जानकारी देने के लिए केवल किताबों का प्रकाशन ही आवश्यक नहीं था, सार्वजनिक व्याख्यान आयोजित करने की भी आवश्यकता थी। इस दिशा में उन्होने बहुत कुछ काम किया था।

टालस्टाय ने वेदान्त दर्शन, रामायण, महाभारत, गीता तथा रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द के विचारों का अध्ययन किया था। बौद्ध धर्म के विषय में १९०५ 'Book for Reading' में एक लेख लिखा, एक अन्य लेख तथा 'कर्म' नामक कहानी भी उन्होंने बौद्ध-धर्म से प्रभावित होकर लिखी। उन्होंने बहुत-सा काम भारतीय लोक-साहित्य पर भी किया। इस महत्वपूर्ण पुस्तक का अनुवाद डॉ० माचवे ने सुन्दर ढंग से किया है और वे तथा साहित्य अकादमी दोनों ही इसे हिन्दी में प्रकाशित करने के लिए बधाई के पात्र हैं।

ग्रीक के महान् नाटककार इस्खिलुस के प्रसिद्ध नाटक 'अगमेम्नन' का हिन्दी मे अनुवाद किया है हिन्दी के प्रसिद्ध कवि श्री बालकृष्ण राव ने और इसे प्रकाशित किया है साहित्य अकादमी ने। ग्रीक नाटकों का विश्व-साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान है और उसके तीन प्रमुख आधार-स्तम्भ हैं—इस्खिलुस, सोफोक्लीज और यूरिपिडीज। और इन तीनों नाटककारों में भी इस्खिलुस का सर्वप्रथम स्थान है। श्री बालकृष्णराव ने अपने अनुवाद की भूमिका मे लिखा है, 'अग्मेम्नन उन तीनों नाटकों की शृंखला की पहली कड़ी है जिनमें अर्गास के

अभिशप्त राजवंश की प्रतीकात्मक पौराणिक कहानी कही गई है। कथावस्तु होमर के इलियड से ली गई है पर इस्खिलुस ने उसे बहुत निखारा-संवारा है। कवि केवल इतिहास या पुराण ही नहीं दुहरा रहा है, उसकी दृष्टि सांप्रतिक स्थितियों और समस्याओं पर गयी है और उनमें अन्तर्निहित शाश्वत प्रश्नों को वह बड़ी सूक्ष्मता से उभारता चलता है। वास्तव में इस्खिलुस एक महान नाटककार थे। मौलिकता उनमें कूट-कूट कर भरी है। वह मानव प्रकृति के बड़े पारखी थे। अग्मेम्नन उनकी महान कला का अप्रतिम उदाहरण है। हिन्दी में ऐसी महत्वपूर्ण कृति का अनुवाद होना अनिवार्य था। श्री बालकृष्ण राव का अनुवाद बड़ा ही सुन्दर है और इसमें मूल कृति का आनन्द और रस हमें मिलता है। भाषा में भी सहजता और स्पष्टता है। समग्रतः प्रस्तुत अनुवाद सफल है।

—डॉ० बुद्धसेन नीहार
हिन्दी विभाग
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय
अलीगढ़।

डंगवैकथा तथा चक्रव्यूह कथा डॉ० शिवगोपाल मिश्र द्वारा सम्पादित

प्रकाशक : हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग
मूल्य : छ रुपये पच्चीस पैसे
संस्करण : प्रथम

डॉ० शिवगोपाल मिश्र के नाम से अवधी साहित्य के अनुसंधित्सु परिचित हैं। उन्होंने पुरानी अवधी की कई रचनाओं का उद्धार किया है। एकडला से प्राप्त प्रति के आधार पर उन्होंने ईश्वरदास की 'सत्यवती कथा' तथा अन्य रचनाओं का सम्पादन किया था। कुछ दिनों बाद उन्होंने प्रसिद्ध सूफी काव्य 'मिरगावत' का भी प्रकाशन कराया और अब प्राचीन अवधी के कवि भीम की दो रचनायें 'डंगवैकथा' तथा 'चक्रव्यूह कथा' उनके द्वारा सम्पादित होकर सामने आई हैं।

भीम कवि का उल्लेख नागरी प्रचारिणी पत्रिका की खोज रिपोर्टों में ही मिलता है। खोज रिपोर्टों में जो विवरण मिलता था उससे इतना तो पता चल जाता था कि डंगवै कथा की रचना सं० १५५० में हुई थी, कवि जाति का कायस्थ था और वह अमरपुर (?) नामक स्थान का रहने वाला था, लेकिन काव्य के विषय में यह सूचना अपर्याप्त थी। प्रसन्नता की बात है कि डा० मिश्र के परिश्रम और लगन से प्राचीन अवधी का एक और कवि और उसकी दो रचनाएँ प्रकाशित हो गई हैं। अवधी भाषा और साहित्य के विद्वान् इस तथ्य से

परिचित है कि १४वीं और १५वीं शताब्दी की रचनाएँ कितनी दुर्लभ हैं इन दुर्लभ रचनाओं में से किसी भी रचना का प्रकाशन महत्वपूर्ण माना जाना चाहिए।

वस्तुतः इस समय की रचनाओं का महत्व साहित्य के इतिहास की दृष्टि से अधिक है, साहित्यिक दृष्टि से उतना नहीं। अवधी भाषा का सर्वप्रथम उल्लेख अमीर खुसरो ने अपनी 'नुह सिपेहर' नामक रचना में किया है। इस उल्लेख के बाद जो अवधी काव्य मिलता है वह मुल्ला दाऊद का चन्दायन है (रचनाकाल सन् १३७९ ई०)। इसके बाद सूफी रचनाओं की परम्परा शुरू होती है, जो कई शताब्दियों तक चलती रही है।

लेकिन अवधी मे एक समानान्तर धारा हिन्दू-वैष्णव रचनाओं की भी मिलती है। आज से कुछ वर्ष पूर्व तक इस धारा का हमें सम्यक् ज्ञान नहीं था। लेकिन अब विद्वान इस स्थिति में हैं कि अवधी में रचित सभी काव्यों की इस समानान्तर वैष्णव धारा को विशेषताओं और उसकी परम्परा का आकलन कर सकें। इस धारा के अन्तर्गत जो रचनायें आती हैं, उनमें से कुछ ये हैं: ईश्वरदास की (१) सत्यवती कथा (२) स्वर्गारोहिणी कथा (३) भरतविलाप (?) सूरजदास कृत (४) रामजन्म, लालचदास कृत (५) हरिचरित, भीम कवि कृत (६) डंगवैकथा (७) चक्रव्यूह कथा। इसके अतिरिक्त लखनसेनि के 'विराट पर्व' और पुरुषोत्तम के 'जैमिन पुराण' की सूचना उपलब्ध है। इनमे से क्रमांक १, २, ३, ६, ७ रचनाओं को प्रकाशित कराने का श्रेय डॉ० मिश्र को है, रामजन्म का प्रकाशन श्री गोविन्द जी ने 'हिन्दुस्तानी' में कराया था और हरिचरित, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् से स्वर्गीय श्री नलिन विलोचन शर्मा और श्री रामनारायण शास्त्री द्वारा संपादित होकर प्रकाशित हुआ है।

डंगवै कथा और चक्रव्यूह कथा दोनों के कथानक महाभारत से लिए गए हैं। पाण्डव और कृष्ण दोनों कथाओं के प्रमुख पात्र हैं। डंगवै की कथा लोकप्रचलित कथा रही है और अनेक कवियों ने इसे अपनी काव्य-रचना का आधार बनाया है। प्रचलित लोक-कथाओं को आधार बनाकर काव्य रचना करना भारतीय आर्य भाषा साहित्य की बहुत पुरानी परम्परा है। कवि अपने उद्देश्य के अनुसार कथानक में जगह-जगह मोड़ देकर पूरी कथा को प्रतीकात्मक बना देता था।

जैन साहित्य और सूफ़ी साहित्य इस तरह की रचनाओं का मुख्य रूप से प्रतिनिधित्व करते हैं। 'भविसयत कहा' और पद्मावत के कथानकों पर गौर करने से यह बात समझी जा सकती है। 'भविसयत कहा' मे लोक प्रचलित कथा को जैन धर्म के साँचे में ढाला गया है और पद्मावत की कथा को सूफी सिद्धान्तों में। एक ऐसी धारा भी है जिसमें कथा को वैष्णव विश्वासों के अनुसार प्रस्तुत किया गया है। इसमें ज्यादातर रामायण और महाभारत की कथाओं को लिया गया है। इसी धारा के अन्तर्गत उन रचनाओं को भी समझना चाहिए जो व्रत, उपवास, इत्यादि का महात्म्य प्रकट करने के लिए लिखी गई हैं। अपभ्रंश साहित्य मे 'नागकुमार चरित' जैसी रचनाएँ भी इसी तरह की हैं। अन्तर केवल यह है कि अपभ्रंश की रचनाओं की प्रेरणा जैन धर्म है जब कि हिन्दी की रचनायें वैष्णव या स्मार्त विश्वासों का प्रचार करती हैं। तुलसीदास का रामचरित मानस सम्भवतः इसी धारा का श्रेष्ठ काव्य है।

सत्यवती कथा स्वर्गारोहण कथा, भरत विलाप, , हरिचरित, तथा डगवै कथा, इत्यादि

काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से उत्तम नहीं कहे जा सकते, लेकिन हिन्दी साहित्य की भक्ति धारा के पूर्वरूप को समझने की दृष्टि से इनका प्रकाशन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। भक्ति आन्दोलन के पूर्व वैष्णव साहित्य को इनके रचयिताओं ने सुरक्षित रखा था। ये पूर्ण रूप से जन-काव्य है। जन-काव्य यानी वैष्णव धर्मभीरु जनता के काव्य। यह बात अवश्य कह देनी चाहिए कि जनता के बीच ये कथायें जिस रूप में प्रचलित थीं, इन्हें कवियों ने प्राय: ज्यों का त्यों छन्दोबद्ध कर दिया है। इनमें भक्ति-काव्य जैसा काव्यत्व नहीं है।

लेकिन जैसा कि अभी कहा गया है, ये रचनायें अपने आप में एक विशिष्ट और अभी तक अपर्याप्त चर्चित साहित्यधारा का रूप प्रस्तुत करती हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कहीं लिखा है कि तुलसीदास ने "कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लागि पछताना" लिखकर सूफी कवियों को ही डाँटा था। कहीं तुलसीदास सूफी कवियों को आड़े हाथों लेते हुए इन वैष्णव कवियों की पैरवी भी तो नहीं कर रहे थे?

'डंगवै कथा' में कई कथानक और काव्य-रूढ़ियों का प्रयोग किया गया है। कथा ही दुर्वासा द्वारा उर्वशी को दिये गए शाप से प्रारम्भ होती है। ऋषि का अप्सरा को शाप भारतीय साहित्य में बहुप्राप्त कथानक-रूढ़ि है। फिर उर्वशी घोड़ी बन जाती है। इस तरह की कथानक रूढ़ि का भी काफी प्रयोग मिलता है। नाम परिगणन की जो रूढ़ि संदेशरासक और पद्मावत इत्यादि में मिलती है, वह इसमें भी है।

इस काव्य की भाषा का अवधी भाषा के इतिहास के अध्ययन की दृष्टि से बहुत अधिक महत्व है। अवधी की इतनी प्राचीन रचनाएँ बहुत कम मिलती हैं। डॉ० मिश्र ने भूमिका में इस पुस्तक का जो भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया है वह काम-चलाऊ ही कहा जाएगा। लेकिन यह एक अलग काम था, जिसे कोई अन्य व्यक्ति स्वतंत्र रूप से कर सकता था। पुरानी अवधी में मुझे अब तक 'भवौ' (वस्तुत: भवउ) रूप अन्यत्र नही मिला है। भौ, भा, 'भयउ' 'भवा' रूप तो मिल जाते हैं :—

करिहैं कुटिल नीच की सेवा। भवौ बिहुन तीरथ अरु देवा।

'रहलेउँ', 'लेलेउँ' जैसे रूप भी विचारणीय हैं। इनका अर्थ 'रहता' या 'लेता' (अपूर्ण कृदंत) नहीं है। इनका अर्थ 'रहता था', 'लेता था' है। और ये भूत निश्चयार्थ रूप हैं। ऐसे रूप चन्दायन, मिरगावत और मधुमालती में मिलते हैं। इन पर विशेष विचार करने की आवश्यकता है। 'डंगवै कथा' तथा 'चक्रव्यूह कथा' दोनों बोली के मुहावरे में लिखे गए हैं। उस समय अरबी फारसी के शब्द जनता की बोली में घुल-मिल गए थे। इनमें सौख (शौक) । ६ डं०, गुनाह। १७ डं दुआ। ५८ डं०, तस्लीम। ५८ डं० फरहद। ३४ च० जैसे शब्द अवधी भाषा में मिल गए हैं।

'चक्रव्यूह कथा' में अभिमन्यु के मारे जाने और अर्जुन द्वारा जयद्रथ वध की कथा को आधार बनाया गया है। ऊपर जिस वैष्णव या स्मार्त काव्य-धारा की चर्चा की गई है, उसमे नख-शिख वर्णन केवल इसी काव्य में मिलता है नख शिख वर्णन लगभग उतना ही सुंदर है जितना कि सूफी काव्यों में मिलता है

ऐसे काव्यों का गद्यानुवाद भी सम्पादक को दे देना चाहिए था। डॉ० मिश्र ने कई दुर्लभ ग्रन्थों का उद्धार करके पर्याप्त ख्याति अर्जित कर ली है। अब वे परिश्रम और धैर्यपूर्वक किसी ग्रन्थ का सम्यक् सम्पादन करके उसे प्रकाशित करें तो हिन्दी के पाठक उनके और अधिक आभारी होंगे।

—विश्वनाथ त्रिपाठी
किरोड़ीमल कालेज
दिल्ली।

बालचन्द बत्तीसी श्री हरिमोहन मालवीय द्वारा संपादित

प्रकाशक : हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग
मूल्य : दो रुपये
संस्करण : प्रथम

प्रथम ग्रंथ की ही भाँति इस ग्रंथ का उद्देश्य भी हिन्दी के लुप्त प्राचीन वाङ्मय को प्रकाश में लाना है। इस ग्रंथ की रचना संवत् १६८५ में अहमदाबाद में हुई थी। इसकी पद रचना दण्डक शैली की है। जहाँ तक इस ग्रंथ की उपादेयता का प्रश्न है, वह निस्सन्देह असंदिग्ध है। हिन्दी साहित्य के विद्वानों का एक ऐसा भी वर्ग है जो ऐसे काव्यों को शुद्ध काव्य कोटि में नहीं रखता। साथ ही, जैन साहित्य की अपभ्रंशमूलक भाषा को लेकर, अन्य दूसरे ऐसे ग्रन्थों को हिन्दी साहित्य की सम्पत्ति ही नहीं स्वीकार करते। किन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ इन दोनों सम्भावनाओं की निमूर्लता का साक्ष्य प्रस्तुत करता है। इस ग्रन्थ में हिन्दी तथा गुजराती-राजस्थानी मिश्रित जैन अपभ्रंश के भाषागत संक्रमणकालीन प्रयोग तथा उसका हिन्दी की ओर झुका होना सिद्ध करता है कि मध्यकाल में हिन्दी व्यापक स्तर पर प्रयुक्त थी। वर्णिक दण्डक छन्द को गेय पदावली के रूप में रखने की सम्पूर्ण सचेष्टता इस ग्रन्थ में मिलती है। सम्पूर्ण दण्डकों में "भणै मुनि बालचंद सुणो हो भवीकवृन्द' टेक के रूप में मिलता है। सम्पूर्ण मध्यकालीन पद परम्परा में पद-बनाने की एक ऐसी भी विशिष्ट पद्धति थी जो मात्रिक तथा वर्णिक छन्दों में टेक जोड़कर नवीनता उत्पन्न कर देती थी। दण्डक, कुंडल, सार, सरसी, रूपमाला. उल्लाला. रोला, सवैया, चौपाई आदि अनेक छन्दों पर इस प्रकार के प्रयोग प्राप्त होते हैं इन दृष्टियों से इस कृति का प्रकाशन अपने आप में अधिक महत्वपूर्ण

की विविधता का विवेचन करते हुए, सम्पूर्ण कृतित्व की स्वतन्त्र रचनात्मकता पर प्रकाश डाला है। इस दृष्टि से उसका सम्पूर्ण श्रम सराहनीय कहा जा सकता है।

जहाँ तक सम्पादित-सिद्धान्त का प्रश्न है, उसमें प्रथम ग्रन्थ की भाँति शिथिलता नहीं है। प्रस्तुत सम्पादन में उसने तीन प्रतियों को आधार बनाया है—स, प्रा०, प्रा१। 'प्रा' तथा 'प्रा१' प्रतियाँ सम्पादक के अनुसार एक परम्परा का पाठ प्रस्तुत करती हैं, और 'स' प्रति दूसरी परम्परा का पाठ। पाठान्तर के अन्तर्गत 'स' तथा 'प्रा०, प्रा१' वर्ग की प्रति में विकृति-साम्य नहीं है, इसीलिए सम्पादक द्वारा निर्धारित यह पाठ प्रामाणिकता के अधिक निकट है। विकृत पाठ समस्याओं को उसने बड़ी ही सावधानी से उठाया है। भँवर-गीत की भाँति वह उनका संकलन करके ही नहीं छोड़ देता। वह उनका विश्लेषण भी प्रस्तुत करता है। उसने भ्रामक पाठों की एक पृथक् सरणि के अन्तर्गत अध्ययन किया है और प्रतिलिपिकारों द्वारा किए गए भ्रमपूर्ण विश्लेषण की ओर सर्वथा सजग है। अन्ततः उसके द्वारा निर्धारित पाठ अपनी सम्भावना के भीतर पर्याप्त निर्दोष एवं प्रामाणिक हैं। इस कृति का एक महत्वपूर्ण प्रश्न भाषा का है—जिसके प्रति लेखक ने विचार नहीं किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में जैन सिद्धान्त से सम्बन्धित क्लिष्ट पारिभाषिक शब्दावलियों एवं कलाओं का प्रयोग हुआ है। स्पष्टीकरण के लिए सम्पादक ने पाठ के बाद एक परिशिष्ट भी जोड़ दिया है, इससे इस ग्रन्थ की उपयोगिता बढ़ गई है। कुल मिलाकर यह ग्रन्थ जैन धर्म में अभिरुचि रखने वाले व्यक्तियों को ही नहीं, अपितु साहित्य मर्मज्ञों को भी विशेष रूप से ग्राह्य होगा।

—डॉ० योगेन्द्र सिंह
११९, पुराना कटरा,
इलाहाबाद—२।

ध्वांत
महेन्द्र प्रताप का कविता संग्रह

प्रकाशक : मानव प्रकाशन
चण्डीगढ़
मूल्य : पाँच रुपये
संस्करण : प्रथम

ध्वांत, कवि का द्वितीय काव्य-संग्रह है। कवि ने लिखा है, 'अपनी अभिव्यक्तियों मे मैंने यथार्थ के व्यंग्य-वेदनामय चित्र अंकित करने चाहे हैं। यथार्थ जो हमारे आभ्यन्तर को झकझोरता है। इसके लिए मुझे खोल के भीतर, गहरे में, दूर तक, बहुत नीचे उतर कर जूझना पड़ा है, तो भी बहुत कुछ नहीं कहा जा सका।' कवि के इस कथन में उसके लए शायद सच्चाई है, किन्तु इस सदर्भ में जब सग्रह की कविताए पढी जाती है तो उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

कवि अत्यधिक आस्थावान लगता है। वह सोचता है कि जिन्दगी के बहुत अधिक नकट है, बाकी बुद्धिजीवी वर्ग जीवन से कटा हुआ और उदासीन है। इसलिए उसे गंधर्व को ज्ञा देकर धरती से उड़ा देना चाहता है ('उन गंधर्वों से कह दो' नामक कविता)। कवि की ीवन से निकटता और उसकी आस्था का एक प्रमाण देखिये—

चुभते शूलों के फण काटूंगा
विषम बबूलों को तोड़ूंगा,
मेरे कोमल तलुए बींधे जो
उनका मूल न छोड़ूंगा
ताकि यह ऊसर धरती
एक बार फिर से उर्वरा बन जाये
कण-कण में हरियाली फूटे लहर-लहर लहराये

लगता है कवि की कलम न हुई ट्रैक्टर हो गई है जो उसके चलते ही "हरियाली" "लहर लहर" लहरा जायेगी। खोल के भीतर गहरे यथार्थ मे बहुत नीचे उतर कवि के जूझने का यह वीर रस पूर्ण प्रयास है। यहाँ तक तो कवि ने यथार्थ से संघर्ष किया लेकिन यह संघर्ष क्यों किया गया ? एक बड़ी आस्था से—वह भी देख लीजिए पंतजी वाली भाषा में—

प्रगतिवादी हूँ मैं
क्योंकि प्रगतिशील हूँ
मनु की नियति पर
मेरी श्रद्धा चिर है।

कविता में यह सुन्दर तर्क-पद्धति भी ध्यान देने योग्य है।

कवि की प्राय: सभी कविताएं चाहे वे जिस मूड, मिजाज़ अथवा 'सिद्धांत' को व्यक्त करती हैं, उनमें अनुभूति की ऊष्मा कहीं नहीं है। ऐसा अक्सर होता है कि कवि बराबर यह समझता चला जाता है कि वह अपनी अनुभूति में ईमानदार है और इसी विश्वास पर वह लिखता चला जाता है। लेकिन जो माध्यम वह अपनाता है वह केवल भंगिमा मात्र बनकर रह जाता है। कवि महेन्द्र प्रताप के साथ भी यही कठिनाई है। नयी कविता की भंगिमा उन्होंने अवश्य अपनाई है पर नयी कविता जिस भाषा और अनुभूति की अद्वितीयता पर सबसे अधिक बल देती है उससे लगता है उनका परिचय नहीं। कवि के लिए सचमुच भाषा का महत्व उसी के शब्दों में पढ़िए—

गली गली बिकता
भाषा का अखबार हूँ
एकाध घंटे का मेहमान
किसी के कुंवारे हाथों में।

कवि अपनी सबसे अच्छी कविताओं में "इयत्ता" का नाम ले सकता है और उनकी काव्य संवेदना (?) की यही केन्द्रीय बिन्दु कही जा सकती है—

हमें जीना है
ईमानदारी के साथ
प्रकृति की क्रोड़ में
विराट सहानुभूति ले,
ऐसे कि—
जिसमें सब समा सके,
आदान नहीं केवल
प्रदान भी रहे,
व्यक्ति को फैला दें हम
सात समुन्दर पार
यही इयत्ता हमारी है।
जन हैं हम
जन
साधारण
सीधे सरल
सबल
दुर्बल !

इसमें आस्था, ईमानदारी, सहानुभूति, मनुष्य की साधारणता सबका पवित्रतापूर्वक स्वीकार है, जीने की प्रबल आकांक्षा है। बहुत पहले पं० नंददुलारे वाजपेयी ने मैथिलीशरण गुप्त की काव्य-संवेदना को "आश्रमवासिनी पवित्रता" के नाम से संबोधित किया था। क्यों न यही शब्द इस कवि के लिए भी उधार ले लिया जाय।

आज ईमानदारी से ही जीने का सारा संघर्ष है, किन्तु ईमानदारी से जीना कितना संकटपूर्ण है, जब तक इसकी तीखी अनुभूति न होगी तब तक यह ईमानदारी, संघर्ष और आस्था किसी लायक नहीं। इस संकट में जीने वाला व्यक्ति ऐसी आशीर्वादात्मक पंक्तियाँ नहीं लिखेगा।

कवि भावुकता और भाव-प्रवणता का अंतर भी पहचानता और अपनी भावुकता को भावना समझ दूसरों को झूठा कहता है। उसकी भावुकता का ही यह परिणाम है कि अपनी पुस्तक की अंतिम पंक्तियों में वह 'भरत-वाक्य' सा लिख देता है—

हाँ,
भावना के शिखर अनन्त हैं,
नीचे की घाटी से उठ कर
हम
ऊपर से ऊपर तक पहुँचे,
छितरा जायें भूमण्डल में
फुहार बन बरसें।

इस पुस्तक की छपाई और कागज की प्रशंसा की जा सकती है।

—डा० नित्यानंद तिवारी
राजधानी कालेज
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली।

भोर कंठ सत्यपाल चुघ का कविता-संग्रह

प्रकाशक : दिल्ली पुस्तक सदन, दिल्ली
मूल्य : चार रुपये
संस्करण : प्रथम

बासठ कविताओं का 'भोर कंठ' डॉ० सत्यपाल चुघ का पहला काव्य-संग्रह है। पहले संकलन में कवि के सम्बन्ध में जो कुछ बातें कही जाती हैं उससे इस बात का बराबर भय बना रहता है कि कहीं 'परिचय' कवि के सहज काव्यात्मक विकास को कुण्ठित न कर दे। दूसरी बात यह कि जो कुछ उसका परिचय देने के समय कहा जाय वही अन्तिम सत्य बनकर न रह जाय। श्री शमशेर बहादुर सिंह ने कवि का परिचय डेढ़ पेज में इस खूबी के साथ दिया है कि उसका अर्थ कवि के लिए अच्छा भी निकलता है और बुरा भी। लेकिन जिस तरह बच-बच कर पूरी बातें कही गई हैं और जहाँ कहीं उन्हें कवि को पिछड़ा सिद्ध करना होता है वहीं वे कवि को इतिहास से इस तरह जोड़ देते हैं जिसका एक अर्थ कभी नहीं निकले और परिचयकर्त्ता अपना पैंतरा बदलकर वेलाग अलग खड़ा रहे। इसलिए खुद कुछ कहने से पूर्व शमशेर जी की कवि से सम्बन्धित मूल स्थापनाओं को देखना उचित होगा।

परिचय में डॉ० सत्यपाल चुघ के लिए कहा गया कि वे 'मुक्त छन्द के कवि हैं।' शमशेर जी का यह वाक्य ही श्री चुघ की कविताओं के प्रति एक 'नानसीरियस' दृष्टिकोण को व्यक्त करता है। परिचय में कवि की निजी विशेषताओं का यदि उल्लेख होता तो शायद पहले संकलन से ही कवि की पहचान की भाषा उभर पाती। पर इस परिचय को पढ़कर कविताएँ पढ़ने पर ऐसा लगता है कि अबाबील के घोंसले को गिराने के लिए शमशेर जी ने टहनी की जगह तने में बन्दूक मारी हो।

आज परम्परागत छन्द तोड़कर मुक्त छन्द का कवि होना भी पुराना इसलिए हो गया क्योंकि मुक्तछन्द स्वयं अपने आप में रूढ़ होता चला जा रहा है और मुक्त छन्द तोड़ने का प्रयास भी कविता में लगातार हो रहा है। दूसरी बात इन कविताओं को प्रगतिशील परम्परा से जाने या अनजाने सहज रूप से जोड़ने की है और शमशेर जी ने यह स्वीकार किया है कि कुछ इसी बात ने इन कविताओं को दिलचस्प बना दिया है कविताओं के विषय में खुलकर

न कह सकने का यह एक दूसरा स्केप था जिसे एक सधे हुये आलोचक ने किया। प्रगतिवाद का आन्दोलन समाप्त हुआ और प्रगतिवादी कवि अपना पुराना रूप किस तरह छोड़कर प्रयोगवाद और नयी कविता से जुड़ गए, स्वयं शमशेर जी इसके अपवाद नहीं हैं। आज यह कहने का क्या अर्थ हो सकता है कि कवि प्रगतिवादी परम्परा से जाने-अनजाने रूप से सहज जुड़ गया है।

तीसरी स्थापना कवि के सम्बन्ध में यह की गई की ये 'अपने में खोये रहने के बजाय अपने बाहर की दुनिया में कुछ खोजना अधिक पसन्द करते हैं।'' दरअसल अपनी स्थापना के सम्बन्ध में परिचयकर्त्ता ने श्री चुघ के सम्बन्ध में एक तीसरी बात कही जिसका सम्बन्धित अर्थ कभी भटका हुआ लगता है और कभी मात्र सतह तक देखने वाला। आज जब कविता बाहरी धरातल से हटकर स्वयं की गहराई में अपने को खोजने की प्रक्रिया बन चुकी है और अब वह फ्लैट स्टेटमेन्ट में भी अधिक ढलने लगी है ऐसी अवस्था में यह कहना कि अपने से अलग बाहरी दुनिया में वे कुछ खोजना अधिक पसन्द करते हैं। आखिर यह 'कुछ खोजना' श्री चुघ के लिए क्या हो सकता है?

लेकिन इन कविताओं के सम्बन्ध में कुछ बातें सही तौर पर शमशेर जी ने कही हैं कि डॉ० चुघ के यहाँ रेटारिक नहीं है मगर सूझ और उक्ति हैं। पर पुनः यहाँ भी एक बात ध्यान देने योग्य है वह यह कि इसमें कवि जहाँ दूसरों की व्याख्या से विशेष रूप से द्रवित हुआ है, एक असर पैदा हो गया है। लेकिन इसके बाद जहाँ तक स्वयं कवि की व्यथा का प्रश्न है, शमशेर जी डॉ० चुघ के विषय में कुछ भी कहना उचित नहीं समझते। वहाँ वे कूट-नीतिज्ञों की भाषा में मौन का निर्वाह करते दीख पड़ते हैं।

इस संकलन को यदि शमशेर जी की स्थापनाओं से अलग देखा जाय तो डॉ० चुघ भीड़ के कवि हैं। भोरकंठ शीर्षक संकलन की पहली कविता में ही वे युग के समवेत गान में अपनी आवाज मिलाने को तत्पर दीख पड़ते हैं, क्योंकि वे अकेले कंठ की पुकार नहीं हैं। वह परिचित सम्मिलित गूँज हैं और साथ ही उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि वे रात को दूर करने के लिए भोर कंठ की ललकार हैं। स्पष्ट है, कवि सामाजिक व्यवस्था से कुछ-कुछ छायावादी तरीके से असंतुष्ट है। पर स्वयं उसमें इतना आत्मविश्वास क्यों नहीं हो पाता कि वह अकेले ही उस अंधकार को दूर करने की दिशा में प्रयत्नशील हो? यहाँ वह प्रगतिवादी भी नहीं रह पाता क्योंकि सहज आत्म-विश्वास की उसमें कमी दीख पड़ती है और वह केवल आत्म-सन्तुष्टि के लिए भोर कंठ की ललकार की आवाज़ के सम्मिलित प्रयास में मिल जाता है।

कवि में छायावादी गीतात्मकता का उद्बोध एवं आत्मान्वेषण मिलता है—

व्यर्थ थी पागल पुकार—
मुझको न मिला रे कभी प्यार

और—

चाँद ने ' रजनी के मुख पर
अंकित किये जो अनगिन चुम्बन

उन सब में मीठा। न्यारा प्यारा
था पहला चुम्बन-संध्यातारा

से आगे नहीं जा पाता और इन कविताओं में कवि की शब्दावली, अनुभूति की प्रवणता, अभिव्यक्ति की गीतात्मक सजगता और मधुर-मधुर प्रकृति उसे छायावाद से अलग नहीं जाने देती। पागल पुकार की एब्सर्डिटी को व्यक्त करने में अर्थ की जगह स्वयं कविता एब्सर्ड लगने लगे, यह कवि और कविता की असफलता कही जायेगी। दूसरी कविता में पहले चुम्बन की सार्थकता में संध्यातारा को प्रदर्शित किया गया है। यहाँ भी कल्पना की अतिशयोक्ति से चाँद के चुम्बन रूप में संध्यातारा को मीठा, न्यारा-प्यारा आदि जिन विशेषताओं का प्रयोग किया गया है उससे कविता नानसीरियस हो जाती है या दूसरे शब्दों में कहें तो संध्या-तारा भी सार्थकता को खो देती है। कविता तो अब 'फ्लैट स्टेटमेंट' के रूप में ढलने लगी है। यही आज की कविता की सार्थकता भी है। रूपक की अतिशयता और अलंकारों की भरमार से कवि क्यों नहीं बच पाता, शायद इसका मूल कारण कहीं-न-कहीं छायावादी प्रवृत्ति से प्रभा-वित होना भी है। श्री बुध महादेवी के विशेष अध्येता हैं और इस संकलन की कुछ कविताओं में कवि "महादेवी की काव्य-साधना" और "नीरजा-विवेचन" के विवेचक रूप से यहाँ भी अपने को अलग नहीं कर पाया है।

श्री बुध के इस काव्य-संकलन में कुछ छायावादी कविताएँ हैं और कुछ प्रगतिवादी। पर व्यंग्य इस कवि की सहज अभिव्यक्ति है—

[१]

कवि भी उगता और फूटता। खिलने के लिए सम्पादक को जोहता
प्रकाशन के लिए। प्रकाशक को टोहता। फैलने के लिए मन्त्रियों को मोहता
दूर-दूर दीखती है उसकी छवि। जहाँ न पहुँचे रवि वहाँ पहुँचे कवि

[२]

नेक सलाह के रूप में जहाँ वे कुशलता मैलखोर कपड़ा खरीदने देते हैं।

उपर्युक्त तीनों ही कविताओं में प्रगतिवादी व्यंग्य का खासा पुट देखने को मिलता है। पर यदि तुलनात्मक दृष्टिकोण से देखें तो यही व्यंग्य सशक्त प्रगतिवादी व्यंग्य कविताओं से काफी पीछे छूटा हुआ लगता है क्योंकि प्रगतिवादी व्यंग्य कविताओं में समाज पर जबरदस्त चोट मिलती है। श्री बुध का व्यंग्य किसी सटीक निशाने पर भोथरे तीर का प्रहार लगता है यानी 'बुल्स आइस' में जाकर चुभता नहीं, उसके स्क्रीन से थपाक से टकराकर गिर पड़ता है। इस चोट से तिलमिलाने जैसी बात नहीं महसूस होती। न अधूरी सामाजिक व्यवस्था के प्रति वह एक गहरा असंतोष ही व्यक्त करती है यहीं श्री बुध शमशेर भी द्वारा प्रगतिवादी परम्परा से जोड़े जाने पर भी पूरी तरह प्रगतिवादी नहीं बन पाते

श्री चुघ दरअसल रहस्यवादी कवि हैं। दुलहा-दुलहिन मिलो गए उनकी सफल रहस्यवादी रचना है।

चांद का दूल्हा। आनन्द उल्लास से।
चांदनी को लेकर। चला जा रहा है।
तारों की बारात। फीकी पड़ गई है।
कबीर की आत्मा। मुसकरा रही है।

महादेवी के विशेष अध्येता होने पर भी उन पर महादेवी की अपेक्षा कबीर की रहस्य भावना का प्रभाव अधिक दीख पड़ता है।

श्री चुघ मूलत: मुक्तक के कवि हैं और मुक्तककार के दृष्टिकोण से ही उन्हें सशक्त कवि समझा जा सकता है। तिजोरियाँ शीर्षक में मुक्तक का प्रयोग यहाँ देखने योग्य है।

"मुझे तुकबन्दी से नफरत है। जरा देखो ये तुकबन्दियाँ।
यदि पहला शब्द तिजोरियाँ। तो आंख बन्द कर लिखते जाओ—
चिरोरियां, चोरियाँ और छोरियाँ।
बस बन्द करो मैं समझा। तुकबन्दी की कमजोरियाँ

और इश्तिहार शीर्षक कविता में—

विद्यार्थियों अध्यापकों को। सरकारी कर्मचारियों को। समान रूप से प्यारी।
स्वास्थ्यकारी। बड़ी गुणकारी। सब रोगों की उपचारक घुट्टी।
लगती है एक ही वस्तु। छुट्टी—छुट्टी—छुट्टी।

इसमें व्यंग्य की सटीकता, हास्य का पैनापन, चुस्त जुमले और गहरा प्रभाव सभी कुछ समान तौल पर प्रभावशाली रूप में देखने को मिलता है। इसके अतिरिक्त पन्द्रह अगस्त, मेरा मुहल्ला शीर्षक कविताएँ अच्छी कही जा सकती हैं। पर इस संग्रह की उपलब्धि के रूप में यदि कोई कविता है तो वह है 'भूल सुधार'

पृष्ठ निन्यानवे पर
'जीवन का प्रदर्शन'
के स्थान पर
'जीवन का दर्शन'
तथा
'जीवन की दौड़'
के स्थान पर
'जीवन की शोध'
कर लें।

रचनात्मक पीस के रूप में यदि इस कविता को देखें तो उसमें 'स्टिल लाइफ'—स्थैतिक जीवन, का जितना प्रभाव उभर सका है उतना अन्यत्र नहीं। पूरी की पूरी यांत्रिकता और यांत्रिक विसंगतियों से ऊपर उठकर सहजता के साथ जीवन की त्रुटियों का स्वीकार एक सार्थक स्थिति है पुन लौट-पौट कर अपनी रचना के पुनर्निर्माण की स्थिति एवं संभव

नहीं इसलिए कवि संशोधनवादी प्रकृतियों की ओर इंगित कर एक गहरी विसंगति का आभास देना चाहता है, जिसमें वह सफल भी हुआ है।

—डॉ० प्रमोद सिनहा
६८३/८११ पुराना कटरा
इलाहाबाद—२।

लय—१
सत्यदेव राजहंस द्वारा संपादित कविता संकलन

प्रकाशक : अभिज्ञान प्रकाशन, राँची
मूल्य : तीन रुपये
संस्करण : प्रथम

नवलेखन की विस्तुति और विकास तथा रूढ़ि एवं पतन के फलस्वरूप ढेरों नयी पत्रिकाएँ और संकलन प्रकाशित हो रहे हैं। इन पत्रिकाओं की आयु चाहे जितनी कम हो, इन संकलनों के अंक चाहे जितने कम हों, लेकिन इनकी आवश्यकता अवश्य है। इस आवश्यकता के स्वरूप पर बहस हो सकती है, यह अलग प्रश्न है। किंतु साहसिकता की दृष्टि से, सर्वथा नये की खोज की दृष्टि से इनका महत्त्व है। इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। भीड़ से ऊब होना स्वाभाविक है, लेकिन इस भीड़ में कहीं न कहीं सत्य, मूल्य, अव्यतीत, नया, ताजा, बेलौस है। उसे ढूँढ़ कर अलग करना सम्पादकों का काम अवश्य है, लेकिन प्रबुद्ध पाठक भी उसे छाँट सकता है। शायद सम्पादक अभी उतने सचेत या प्रबुद्ध नहीं हैं या उनके आगे-पीछे उल्लास, मोह, स्थापनेच्छा, अधकचरापन और यहाँ तक कि मूर्खता भी विद्यमान है। ये तत्व रचनाकारों के साथ भी लागू हैं।

नवलेखन की विस्तुति, विकास, रूढ़ि और पतन या उल्लास, मोह, स्थापनेच्छा, अधकचरापन और मूर्खता के साथ-साथ सत्य, मूल्य, अव्यतीत, नया, ताजा और बेलौस को हम एक ही स्थान पर 'लय—१' में स्पष्टतः देख सकते हैं।

इसके प्रकाशन के पीछे सारा श्रम, सामर्थ्य और प्रतिभा श्री सत्यदेव राजहंस की है; प्रेरणा कदाचित् हिन्दी के प्रतिष्ठित कवि श्री गिरिजाकुमार माथुर से मिली है। श्री सत्यदेव राजहंस हिन्दी में एक नया नाम है, कवि के रूप में भी, सम्पादक के रूप में भी। वे अंग्रेजी के अध्यापक रहे हैं और अंग्रेजी में भी कविता लिखते हैं। पाश्चात्य आन्दोलनों, धाराओं से वे पूर्व परिचित हैं और हिन्दी का उनका अध्ययन अच्छा कहा जा सकता है। वे एक साहसी और नये के प्रति आस्थावान युवा हैं।

नये संकलनों में सम्पादक का व्यक्तित्व प्रायः नहीं दिखायी देता। किंतु इस संकलन में
का व्यक्तित्व जो विस्थापित विज्ञान से , पुराने और नये में ठीक-ठी

विभाजन न कर सकने वाला तथा गड्डमड्ड को भी एक बार नये के नाम पर स्वीकार कर सकता है, स्पष्टतः दृष्टिगत होता है। सम्पादक ने संकलन के प्रारम्भ में एक भूमिका दी है जो पूरे संकलन की 'आधारशिला' है। सम्पादक ने आधुनिकता की दृष्टि को 'निर्दिशायामी' विशेषण से जोड़ा है, किंतु उसे पूरी तरह न तो व्याख्यायित किया है और न ही यह बताया है कि आधुनिकता की यही एकमात्र दृष्टि है या अन्य भी एक या कई। उसने ऐतिहासिक दृष्टि से प्रायः वादी कवियों के साथ नये बोध की विवेचना की है, किंतु वह उसके 'नोट्स' मात्र हैं; कोई ठोस, तर्कपूर्ण व्याख्या नहीं की गयी है। इसलिये एक प्रकार का सतहीपन होने का भ्रम उत्पन्न होने की पूरी सम्भावना है। यह भी हो सकता है कि पुराने से पुराने या नये से नये लोग इसे इतिहास को देखने की पूर्वग्रहपूर्ण दृष्टि मान बैठें। यह 'सिंहावलोकन' सही या मूल अर्थों में ही सत्य है यानी जिस प्रकार लेटा हुआ सिंह अचानक बाजे-गाजे का सुनकर जरा-सा मुड़कर देखता है और फिर पुरानी स्थिति में लौट जाता है, वैसी ही क्रिया सम्पादक द्वारा यहाँ सम्पादित है। 'आधारशिला' के शीर्षक में विचारों के शिथिल हो जाने की व्यंजना कम आकर्षक नहीं है।

पूरे संकलन में कुल ३९ कवि और १०६ कविताएँ हैं। इनमें सम्पादक की भी ६ कविताएँ सम्मिलित हैं। संकलन में 'तारसप्तक' के कवियों से लेकर गुमनाम नये हस्ताक्षर तक है। काल और व्यक्तित्व से अधिक रचना को महत्व दिया गया है, ऐसा सम्पादक की 'आधारशिला' से प्रतीत होता है। उसकी दृष्टि में—कम से कम उसकी दृष्टि में देश और काल की सीमाएँ टूट गयी है। तब इतनी उदारता तो उसमें होगी ही कि वह प्रांतीयता, गुट, दल, नये-पुराने, स्थापित, अस्थापित सबको ताख पर रखकर नये सिरे से यानी अपनी दृष्टि से केवल रचना के बल पर सम्पादन या संकलन करे। पर बिल्कुल ही ऐसा हो पाया हो, ऐसा नहीं है। अरे भाई, यह काम बहुत कठिन और मंदगति वाला है, इतनी जल्दबाजी से कहीं कुछ हुआ है।

बिल्कुल नयों में, जो थोड़े परिचित या बिल्कुल अपरिचित हैं या जिन्हें सन् ६० के बाद का कहा जा सकता है, कोई बीस नाम है। इनकी कविताएँ या तो यूँ ही हैं, या होते-होते, बनते-बनते रह गयी हैं या कहीं पर गड़बड़ा गयी हैं या नयेपन के आग्रह से चौपट हो गयी है या कहावत भर हैं या 'कुछ-कुछ' हैं या फिर बहुत अच्छी, ताजी और स्तरीय हैं। उनके चयन के प्रति सम्पादक जिम्मेदार है। काशीनाथ पांडेय की 'छठी उँगली', 'एक प्रश्नोत्तर', मधु छन्दा की पहली कविता, बद्रीनाथ की 'सृजनवेला', 'पीड़ा अनबोल्नी', प्रजापति शाह की 'शहर' और कृपाशंकर की दोनों कविताएँ नयेपन, शब्द-चमत्कार और प्रयोग की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। इनमें से केवल कृपाशंकर को छोड़कर शेष की अन्य कविताओं में कुछ न कुछ दोष है। ऐसा होना नये कवि के लिए बहुत जरूरी और बहुत स्वाभाविक है। अरुण मनुज, भालचंद्र ओझा, रामकिशोर द्विवेदी, राजेन्द्र वर्मा, भारतरत्न भार्गव, योगेन्द्र कुमार लल्ला, पुष्पा राही, श्रीराम तिवारी, देवेन्द्र प्रताप पाण्डेय, मोहन अवस्थी, जीवन प्रकाश जोशी, शान्ति राय, दिनेश्वर प्रसाद, जयानन्द झा, अयोध्या प्रसाद, विद्याभूषण और अमर कुमार की कविताए या तो यूँ ही हैं या होते-होत बनते-बनते रह गयी है या व्यर्थ हैं या गद्य होकर रह

गयी है या बकवास भी नहीं बन सका है, प्रशरा मधुत्र में सम्भावनाएं स्पष्ट है। मालचन्द्र ओझा शायद पुराने कवि हैं, पर उनमें नये के प्रति आकर्षण है। रामकिशोर द्विवेदी शायद प्रयासशील है। राजेन्द्र वर्मा बिम्ब-शक्ति से आक्रान्त हैं। भारतरत्न भार्गव शब्दों के प्रति अधिक सचेत है। योगेन्द्र कुमार लल्ला में सामर्थ्य है पर उनकी शब्द-शक्ति पुरानेपन से मुक्त नहीं है। पुष्पा राही न कवि हैं, न कविता की समझ है उनके पास। श्रीराम तिवारी में गीतों के पुराने-धुराने शब्द हैं—बस! देवेन्द्र प्रताप पाण्डेय में सम्भावनाएं है। मोहन अवस्थी तुक्कड़ हैं। जीवन प्रकाश जोशी में प्रेम की पीर है जिसके कारण वे कहीं न कहीं नये होते-होते रुक जाते हैं। दिनेश्वर प्रसाद कविता अच्छी लिखते है, लेकिन उनकी शब्द-रचना उसके अनुकूल नहीं है; पुरानी और क्लिष्ट है। जयानंद झा के विषय में कुछ भी कह पाना कठिन है, एक कविता से कहा भी क्या जा सकता है! अयोध्याप्रसाद कई कारणों से कविता को या तो बिगाड़ देते हैं या कविता का सच्चा रूप नष्ट कर देते है; वे शायद सचेत बहुत हैं। विद्याभूषण पुराने शब्दों से पुराने अनुभवो को नये सिरे से पेश करने की कोशिश करते हैं। अमर कुमार बकवास करते हैं या गद्य लिखते है पर इसी बकवास और इसी गद्य में उनके कवि का असली रूप छिपा हुआ है; शायद कभी उभरे।

इसके अतिरिक्त कुछ नये परिचित कवि है। उनकी रचनाओं पर भी संक्षेप में अलग-अलग विचार कर लेना उचित है। बालस्वरूप राही ख्यात गीतकार है; कभी-कभी नयी विधा अपना लेते हैं। फलतः नयेपन के बावजूद वे वहीं रहते हैं जहां पहले थे या भारती का थोड़ा प्रभाव ग्रहण कर लेते हैं। कम से कम उनकी यहाँ संकलित दो कविताओं से यही लगता है। कृष्णनंदन 'पीयूष' में पारंपरिक भटकाव या कुछ नहीं है। शेरजंग गर्ग व्यर्थ का एक नाम भर है, जो शायद सोच-समझ सकता हो, लिख नहीं सकता। मदनमोहन 'तरुण' केवल स्वनामधन्य मात्र हैं।

श्रीराम वर्मा की रूमानी, चित्रात्मक, और युद्ध-सम्बन्धी कविताएँ हैं पर उनकी शैली में यहाँ एक प्रकार की निश्चिति मिलती है, जो उनके सामयिक ठहराव की द्योतक है। अंतिम कविता पर छायावादी प्रभाव स्पष्ट है। रमेश गौड़ की एक ही कविता है, जिसमें केवल बिम्बों का सौन्दर्य द्रष्टव्य है, कविता खुल कर नहीं आ सकी है। नये रचनाकारों मे वे हढ़चेता अवश्य है। रणधीर सिन्हा की कविताओं में कुल मिलाकर फिर भी पुरानापन हाथ आता है। उनकी 'एक बिम्ब' सफल कविता है। अजित पुष्कल गीतात्मक शिल्प और शब्द-मोह से आक्रान्त कवि हैं। उनमें रूमानियत के अवशेष स्पष्ट है। सिद्धनाथ कुमार या तो यूं ही लिखते हैं या पुराना लिखते हैं। वे वस्तुतः काव्य-नाटक लिखने में थोड़े-बहुत कुशल हैं। सत्यदेव राजहंस की विशेष चर्चा इसलिए जरूरी है क्योंकि उनमें विज्ञानसम्मत दृष्टि —अच्छी या बुरी—मिलती है। लेकिन उनकी कविताओं में यह दृष्टि आरोपित है, गुम्फित या अनुस्यूत नहीं है। उनकी प्रायः सभी कविताओं में कुछ पंक्तियाँ बेजोड़ है।

लक्ष्मीकान्त वर्मा की दो कविताओं में नया बोध और नयी भाषा मिलती है, साथ ही बर्राहट एक प्रकार का गुण बन कर आयी है। यह बर्राहट दर्शन और विज्ञान के बीच से अनुभूति बन कर आयी है। बालकृष्ण राव की दो पुरानी अच्छी कविताएँ

छपी है । जगदीश गुप्त की प्रथम कविता उनकी लम्बन परम्परा से भिन्न और नयी रचना है । दूसरे में चित्र और अलंकरण है, जो पूरी तौर पर कविता नहीं बन पाया है । शकुन्त माथुर की 'स्वयं की पहचान' काफी अच्छी है । शेष रचनाएँ अच्छी हैं या कम अच्छी हैं । विजयदेवनारायण साही की इधर की, शब्दों के जादुई प्रयोगों और बिल्कुल आकर्षक बिम्बों से पूर्ण कविताओं में से एक 'नदी-मूल' छपी है यहाँ, जो द्रष्टव्य अवश्य है । प्रभाकर माचवे अनगढ़पन (लक्ष्मीकान्त वर्मा से ज्यादा) और शब्दों के सहसा अद्भुत प्रयोगों के लिए प्रसिद्ध है । ये कई शैलियों में लिख सकते हैं । ये सारी विशेषताएँ यहाँ मौजूद हैं । इन कविताओं में विदेशीपन, देश-विदेश की कविता की समानान्तरता, शब्द-चमत्कार, ग़ज़ल गोई, सानेट-मोह, सब कुछ है । अंतिम कविता का शीर्षक मात्र 'सूचना-मार्तण्ड' होने की सूचना है, कविता प्रशंसनीय है । गिरिजाकुमार माथुर विज्ञान, ज्ञान, [illegible], व्यापार, उद्योग के विकासमान स्रोतों से परिचित होने के कारण उसमें अनुभव-भंडार जुटाने में [illegible] सतर्क हैं । पर अंततः वे रूमानी कवि हैं । ये दोनों बातें उनकी इन कविताओं में स्पष्ट हैं । शब्द-प्रयोग का सामर्थ्य उनके जैसा अन्यों में शायद जरा दूर तक न मिले, [illegible] तक उनकी कविताओं में देखा जा सकता है ।

पूरे संकलन में युद्ध पर केवल श्रीराम वर्मा की एक ही कविता देखकर (जो विद्रूपात्मक होने के साथ-साथ अच्छी भी है) आश्चर्य होता है । मूल्यान्वेषण और समय की परिणति भी केवल लक्ष्मीकान्त वर्मा, वि० दे० ना० साही, जगदीश गुप्त, गि० कु० माथुर और प्रभाकर माचवे में ही उभरी है । साहस नयों में—चाहे परिचित हों या अपरिचित—उभरा है । पर प्रयोगशीलता या प्रयोगवादिता शब्दों के अलावा (प्र० माचवे, लक्ष्मीकान्त, श्रीराम वर्मा, गि० कु० माथुर, सत्यदेव राजहंस, काशीनाथ पांडेय, भारतरत्न भार्गव, 'तरुण', शकुन्त माथुर, अजित पुष्कल, अयोध्या प्रसाद) कहीं नहीं मिलती । लयात्मकता और तुक-ताल की दृष्टि से गिरिजाकुमार माथुर और श्रीराम वर्मा दो ही नाम द्रष्टव्य हैं—इस संकलन में ।

अंततः कुल मिलाकर संकलन पठनीय है ।

—श्रीराम वर्मा,
२२, महाजनी टोला,
इलाहाबाद—३ ।